समर्पण

परम श्रद्धेय माननीय श्री तारिणी प्रसन्न नायक
न्यायमूर्ति, मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय, जबलपुर—

न्याये सुवीश ! कुलनायक ! धीरचेतः !
मत्प्रेरणास्पद ! सुतारणतः प्रसन्नः !
श्रद्धेय ! तत्रभवतां करपल्लवेषु
शोधप्रबन्धममुमार्य ! समर्पयामि ॥

चतुर्वेदी कृष्णकान्तः

संस्करण	प्रथम १९७१
मूल्य	रु० २०.००
आवरण सज्जा	हरिप्रकाश त्यागी
प्रकाशक	विद्या प्रकाशन मंदिर, १६८१ दरियागंज दिल्ली-६
मुद्रक	हरिहर प्रेस, दिल्ली-६

Dwait Vedant Ka Tatvik Anushilan :
by Dr. Krishnakant Chaturvedi Rs, 20.00

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन की श्रुति-मूलक एवं उससे भिन्न चिन्तन-परम्पराओं में वेदान्त-सम्प्रदाय की महती प्रतिष्ठा है। दर्शन की अन्य सरणियों की अपेक्षा इसमें विपुल ग्रंथ-सम्पति, कालक्षेप के उपरान्त भी अद्यावधि प्रतिष्ठा एवं अनेक अवान्तर मत प्राप्त होते हैं। इन विशेषताओं के कारण भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अत्यन्त उत्साह-पूर्वक इसका अध्ययन किया। प्रस्थान-त्रयी पर आधारित वेदान्त-सम्प्रदाय के शंकर, भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, मध्व आदि आचार्यों द्वारा संस्थापित उपमत प्राप्त होते हैं। इसमें भी शंकर के शुद्धाद्वैत एवं रामानुज के विशिष्टा द्वैत का आधुनिक विद्वानों के द्वारा भी अत्यन्त विशद अध्ययन किया गया। निम्बार्क, वल्लभ एवं मध्व आदि आचार्यों के साहित्य का मूल्यांकन एवं प्रस्तुतीकरण सन्तोषप्रद रीतिसे अभी तक नहीं हो पाया है। रामानुज के अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर, निम्बार्क एवं वल्लभ मूलतः रामानुज से भिन्न दृष्टि नहीं रखते। ये सभी आचार्य अद्वैत एवं द्वैत मान्यताओं के मध्य वर्ग का अन्वेपण करके समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। आत्यन्तिक रूप में उनकी आस्था अद्वयोन्मुखी ही है। समान स्रोतों पर आधारित होते हुए भी मध्व की दृष्टि पूर्वाचार्यों से सर्वथा भिन्न, भेद-प्रतिपादिका है। परिणामतः निम्बार्क, वल्लभ आदि की अपेक्षा मध्व के अध्ययन की विशेप आवश्यकता है। ईश्वर जीव एवं जड़ तत्व की परस्पर भिन्न सत्ता मानने वाले, श्रुति-समाम्नाय में प्रतिपन्न विचार-क्रम की सुनियोजित दर्शन-सम्प्रदाय के रूप में, मध्व द्वारा की गई प्रतिष्ठा का आकलन-विवेचनादि अत्यन्त आवश्यक है। डा० एस० एन० दासगुप्ता के अतिरिक्त किसी भी अन्य दर्शन के इतिहासकार ने इसके विषय में तटस्थवृत्ति से विस्तृत विवेचन नहीं किया। इसीलिए वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवल आदर्शवाद के विरुद्ध सीमान्त स्वर को प्रतिष्ठित करने वाले द्वैत मत के तात्विक अनुशीलन को प्रस्तुत ग्रंथ का विषय वनाया गया है।

मध्व भेद की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। द्वैत मत की स्थापना में मूलतः तत्व-त्रितय-ईश्वर, जीव एवं जड़ की परस्पर भिन्न स्थिति ही स्वीकृत है। पंचभेद का इसीलिए इस मत में सर्वाधिक महत्व है।

प्रस्तुत ग्रंथ में उक्त दृष्टि से ही तात्विक मान्यताओं का प्रतिपादन है। तत्वों

सम्प्रदाय में स्वीकृत स्वरूपभेद का अद्वैत दृष्टि से खण्डन प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर द्वैत-सम्प्रदाय के विद्वान जयतीर्थ एवं व्यासतीर्थादि के प्रत्युत्तरों को विवेचित किया गया है। अन्त में मधुसूदन की मध्व-विरोधी युक्तियां उपस्थित करते हुए भेद-स्वरूप की मीमांसा की गई है। मध्व-सम्मत पांच प्रकार के भेद भी इसी में वर्णित हैं।

पांचवें अध्याय में ईश्वर का स्वरूप प्रतिपादित है। ईश्वर को मानने में प्रभावी मनोवृत्ति का उल्लेख प्रारम्भ में किया गया है। प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य में मध्व के द्वारा ईश्वर के रूप में व्याख्यात विष्णु तत्व के स्वरूप की विवेचना, विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों की ईश्वर विषयक मान्यताएं पृष्ठभूमि के रूप में संग्रहीत हैं। तदुपरान्त मध्व सम्मत ईश्वर के स्वरूप का सुविस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

छठवें अध्याय में जीव संबंधी विवेचना है। पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण के हेतु ईश्वरतत्व के व्याख्यान में स्वीकृत पद्धति को अपनाया गया है। जीव के स्वरूप के विविध पक्षों पर जैसे चैतन्यात्मकता, ज्ञेयत्व, सविशेषत्व, ईश्वराधीनत्व, नित्यत्व आदि पर विशद व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। जीव का बन्ध, मोक्ष प्राप्ति के साधन के रूप में भक्ति की प्रतिष्ठा आदि भी इसी अध्याय में संदर्भित है।

सातवें अध्याय में मध्व की जगत् संबंधी मान्यताओं का आकलन किया गया है। जगत् की वास्तविकता का खण्डन-मण्डन परक विवेचन सृष्टि प्रक्रिया, कारणकार्य के विषय में मध्व की दृष्टि ईश्वर की निमित्त कारणता आदि विषयों पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है।

आठवें अध्याय में मध्व ने पूर्ववर्ती चिन्तन-परम्परा में से किन-किन तत्वों का ग्रहण अपने सम्प्रदाय के निर्माण हेतु किया था ? पूर्वकालीन दर्शन सम्प्रदायों में किन तथ्यों की अपेक्षा का अनुभव करते हुए प्रतिक्रिया स्वरूप मध्व ने अपने मत की स्थापना की ? उन प्रश्नों पर विचार करते हुए तत्व-मीमान्सा में अन्य दर्शन सम्प्रदायों से ग्रहीत मान्यताओं का उल्लेख भी इस अध्याय में किया गया है। मध्वोतर-काल के अनेक मतों और सम्प्रदायों को इस मत ने प्रभावित किया, जिनका उल्लेख यथावसर हुआ है।

उपसंहार में वैष्णव मत की मान्यता एवं दर्शन की तत्वज्ञान विषयिणी विवक्षा का सम्यक् समन्वय, अनुपलब्ध संदर्भों का समस्या, यथार्थवादी परम्परा में मध्व का स्थान, एवं भक्ति प्रतिष्ठा आदि विषयों का विवेचन है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ में द्वैत वेदान्त का तात्विक परिचय एवं अनुशीलन ही है। इसका उद्देश्य ही यह रहा है कि मध्व की मूल दृष्टि एवं तदन्तवर्ती अपेक्षित

के वर्गीकरण के प्रसंग मे मध्व ने स्वय स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र तत्वो को स्वीकार किया है। स्वतन्त्र तत्व ईश्वर एवं उससे भिन्न, अस्वतन्त्र तत्व जीव और जड़ हैं। इन्ही तत्वों का स्वरूपगत उपन्यास, मूल संस्कृत ग्रथो के आधार पर किया गया है। तत्व के अभिप्राय मध्व की सम्पूर्ण दर्शन-मीमांसा से नही, अपितु पराधीन एवं स्वाधीन मूल तत्वों से हैं। इन तत्वों के पारस्परिक सबंधों का विवेचन भी प्रसग प्राप्त है। इसलिए भेद के स्वरूप एव प्रकार को भी ग्रंथ की सीमा-रेखा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है। स्वभावत: प्रमाण-मीमासा, मोक्ष साधन विचार, मोक्षावस्था आदि विषय मुख्य रूप से प्रतिपाद्य न होकर गौणरूप से ही विवेचित हैं। अन्य वेदान्त सम्प्रदायो का सक्षिप्त विवेचन तुलना के हेतु तथा इतिहास परक भाग पृष्ठभूमि की स्पष्टता के लिए उपनिबद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रथ मे तटस्थ वृत्ति की यत्न-पूर्वक रक्षा करते हुए, तत्व त्रय के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है। मूल सस्कृत ग्रथो के अतिरिक्त सामग्री की अन्यत्र अनुपलब्धि के कारण प्रायः उन्ही का उपयोग हुआ है। अप्रख्यात किन्तु विद्वान् टीकाकारों की सहायता विषय प्रतिपादन के हेतु ली गई है। मध्व स्वीकृत भेद का स्वरूप एव समीक्षा, अन्य सम्प्रदाय से सबध, सम्प्रदाय के दर्शन एव साहित्य के इतिहास सबंधी समीक्षात्मक विवेचन आदि, कदाचित् प्रथम बार इसी ग्रथ मे उद्भावित हुए हैं।

प्रथम अध्याय में वेदान्त अभिधान का हेतु, वेद, उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, गौड़पाद एव ब्रह्मसूत्र मे प्रतिपादित तत्व-चिन्तन का व्याख्यान किया गया है। इसके अतिरिक्त शकर, भास्कर, रामानुज एव जड़ सबधी विवेचन को समाहित किया गया है।

दूसरे अध्याय में द्वैतात्मक दृष्टि से प्राचीन साहित्य का सर्वेक्षण मध्व के पूर्ववर्ती आचार्य एव मध्व के विषय में विवरण दिया गया है। मध्व के उपरान्त प्राचीन टीकाकारो के नाम से प्रसिद्ध पद्मनामतीर्थ आदि आचार्यों का उल्लेख है। तदुपरान्त जयतीर्थ, व्यासतीर्थ तथा अन्य परवर्ती प्रमुख लेखकों के साहित्य एवं काल-क्रम को इतिहासानुबन्धि दृष्टि से निरूपित करने का प्रयास है। अन्त में वर्तमान युग मे आधुनिक भाषाओ मे निर्मित साहित्य एव सस्थाओ द्वारा किये जा रहे प्रचार कार्य का उल्लेख है।

तीसरे अध्याय में मध्व की तत्व-मीमान्सा एव वर्गीकरण का उल्लेख है। इस प्रकार के पदार्थों का स्वरूप-विभाग आदि का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय इसलिए पर्याप्त महत्व का है कि वह भेद के स्वरूपादि से संबंधित है। प्रारंभ में मध्व मत मे भेद की महत्ता के प्रतिपादन के उपरान्त इस

भूमिका

भारत की सर्वोत्कृष्ट निधि उसका दर्शन है। सभ्यता के उषःकाल में ही उसने सोचना प्रारम्भ कर दिया था—

"कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ?" १
किमा वरीयः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ? २
कस्मै देवाय हविषा विधेम ? ३

और इन प्रश्नों का उत्तर भी अपने ढंग से दे लिया था—

"कामस्तदग्रे समवर्तत १। मद् तमआसीत् तमसागूढमग्रे २।"
"यो अस्याध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेदः ३।"

यह सारा चिन्तन इस बात को मानकर चला कि प्रतीयमान सृष्टि का मूल इससे व्यतिरिक्त कोई सूक्ष्म तत्त्व है और जिज्ञासु स्वयं दृश्यमान नाम-रूपमय आकृति से भिन्न है। आकृति आत्मा (स्वयम्) या अहम् नहीं है। प्रतीयमान जगत् और भासमान 'अहम्' से व्यतिरिक्त कोई तृतीय तत्त्व भी है जो इन दोनों का नियन्ता है। सम्भव है, वह इन दोनों का उपादान हो। उपादान न हो तो भी निमित्त तो है ही। उसकी सत्ता में मनीषी को सन्देह नहीं था। कम से कम वैदिक साहित्य में तो कहीं संदेह की गन्ध नहीं है। यह निश्चित रूप से मान लिया गया कि प्रकृति, आत्मा और हिरण्यगर्भ ये तीन मूल तत्त्व हैं, जिनमें अन्तिम, जिसे अनेक नामों से अभिहित किया जा सकता है, इस सब का आधार है। उसी पर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव् टिके हुए हैं—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी चदृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।"

संस्कृति का कारवाँ जैसे-जैसे आगे बढ़ा, इन विषयों का ऊहापोह पुष्ट से पुष्टतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया—यहाँ तर्क कि कुछ समय के लिये उसने समग्र भारतीय चिन्तन को आत्मसात् कर लिया है। खोज की यह प्रक्रिया कुछ गिने-चुने प्रबुद्ध लोगों तक सीमित न रहकर जन-सामान्य की चिन्ता का विषय बन गई।

प्रत्येक समाज की जीवन-पद्धति में लौकिक और अलौकिक अंश पाये जाते हैं। यह बात सभ्य और असभ्य दोनों समाजों पर लागू होती है। दिन-प्रतिदिन की

विवेचन इसमें सम्यक् रीति से आ जावे। लक्ष्य की सफलता का निर्णय सुधीजन ही करेंगे।

इस शोध प्रबंध पर मेरे स्वाध्याय और प्रवचन के आश्रय जबलपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है।

इस कार्य को पूर्ण करने में मेरे निर्देशक श्रद्धेय डा० हीरालाल जैन, भूतपूर्व आचार्य एव अध्यक्ष—सस्कृत, पालि एव प्राकृत विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय की सजग दृष्टि एव प्रेरक कृपा कारण रही है। दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित डा० चन्द्रधर शर्मा, आचार्य एवं अध्यक्ष—दर्शनशास्त्र विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय के ही मार्गदर्शन मे यह शोध-विषय निश्चित हुआ था।

श्रद्धेय गुरुवर्य डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, सचालक, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ-अकादमी, भोपाल का वत्सल एवं प्रेरक स्नेह विद्यार्थी जीवन से ही मुझे निरन्तर प्राप्त हुआ है। वे मेरी प्रेरणा के स्थायी उत्स हैं। इस ग्रथ की भूमिका लिखकर उन्होंने मुझ पर विशेष कृपा की है।

सम्मान्य डा० श्रीनाथ श्रीपाद हसूरकर, प्राचार्य, शासकीय महाविद्यालय, शहडोल म० प्र० ने मेरे मन मे दर्शन के प्रति रुचि एव प्रवृत्ति उत्पन्न की है। स्वर्गीय श्रद्धेय डा० राजबली पाण्डेय ने अत्यन्त कृपापूर्वक निरन्तर प्रोत्साहन एव मार्गदर्शन मुझे प्रदान किया है। आचार्य बलदेव उपाध्याय वाराणसी, डा० हरिमोहन झा, अध्यक्ष—दर्शन शास्त्र विभाग, पटना विश्वविद्यालय, डा० न० कि० देवराज, आचार्य एव अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, वाराणसी विश्वविद्यालय ने शोध प्रबध का परीक्षण करके आवश्यक निर्देश प्रदान किये हैं। इन सभी पूज्य जनों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञा व्यक्त करना मेरा पुनीत दायित्व है।

यह कार्य प्रकाश मे न आ पाता यदि बन्धुवर श्री अमरनाथ शुक्ल, स्वत्वाधिकारी विद्या प्रकाशन मंदिर इसके प्रकाशन मे रुचि न लेते। उन समस्त ग्रथकारों के प्रति अपने अन्तस् की सम्पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करना मेरा सुखद कर्तव्य है जिनके वचन इस ग्रथ मे अनिवार्य अवयव हैं।

आषाढ शुक्ल १५ सवत्, २०२८ — कृष्णकान्त चतुर्वेदी

गुरुवार, गुरुपूर्णिमा ८ जुलाई १९७१

किया था जिसका राजनीतिक फल हम दीर्घकाल से भोग रहे हैं। दुर्भाग्य से भारतीय विश्वविद्यालयों में, जहाँ हर योरोपीय लेखक की बात वेदवाक्य मानी जाती है, आज भी इन भ्रान्तिपूर्ण और घातक निष्कर्षों पर विश्वास करने के लिये विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाता है। ये बातें इस धारणा पर आधारित हैं कि भारत में जो कुछ घटित हुआ, उसे योरोपीय इतिहास के किसी पृष्ठ से सम्बद्ध होना ही चाहिये।

किन्तु भारत योरोप नहीं है और न वैदिक धर्म या औपनिषदिक चिन्तन ईसाई सम्प्रदाय का जेबी संस्करण। यहाँ क्षत्रिय और ब्राह्मण कभी विरोधी बनकर नहीं रहे। यज्ञ-यागों में ब्राह्मणों को कभी इतनी दक्षिणा नहीं मिली कि वे उससे बड़े प्रासाद खड़े कर सकते। वैदिक-युगीन ब्राह्मणों ने अपने लिये यदि किसी वस्तु का वरण किया तो वह था—दारिद्र्य। 'कुम्भीधान्य' रहना ब्राह्मण का आदर्श था। क्षत्रिय वेद और शास्त्र-मर्मज्ञ होते थे अपढ़ नहीं, कि कोई ब्राह्मण उन्हें जाल में फँसाकर मनमानी दक्षिणा प्राप्त कर लेता। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक अवश्य क्षत्रिय थे, किन्तु जैन धर्म के नहीं। महावीर भूमिहार ब्राह्मण थे। इन दोनों के प्रमुख शिष्य ब्राह्मण थे और ब्राह्मणों ने इन धर्मों के दर्शन, काव्य एवं कला को लोक-विश्रुत बनाया। योरोपीय संस्कृति से प्रभावित बीसवीं शताब्दी में भी इस देश में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच परम्परा से चला आता हुआ यह पूर्य-पूरक भाव तथा सौहार्द प्रत्यक्ष देखा जा सकता है।

इस तरह स्नेहमय संघर्ष तथा आत्मीयता-भरे मत-वैभिन्न्य के आलवाल में भारतीय दर्शन की 'विशोका वल्लरी' पल्लवित हुई और जो जिज्ञासा, उत्कण्ठामात्र से प्रेरित थी, वह आगे चलकर प्रयोजनवती बन गई। जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठने लगा 'येनाहममृतः स्यां किमहं तेन कुर्याम्'। बात ज्ञान से आगे प्रयत्न तक पहुँच गई। उपनिषद् काल में भारतीय चिन्तक बहुमुखी खोज में प्रवृत्त हुए। उन्होंने मन, हृदय, वाक्, आत्मा, ब्रह्म, पंचतत्व, सृष्टि, प्रलय, बन्ध, मोक्ष, सभी पर पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से विचार किया और स्वतन्त्र निष्कर्ष प्रस्तुत किये। इनमें सबसे महत्वपूर्ण बात थी ब्रह्म की सर्वोपरिता की स्वीकृति। बृहदारण्यक के निम्न कथन में इस मान्यता का सार आ गया है :—

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्यात्। यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूत मनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति।

स्वभावतः यह मान्यता 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' में परिणत हुई और इसने जिस आस्था को जन्म दिया उसे अद्वैतवाद के नाम से अभिहित किया गया।

उबा देने वाली चर्चा के बीच मनुष्य अलौकिक के सहारे कुछ क्षणो के लिये विश्राम-लाभ करता है। इस अलौकिक चर्चा के दो अङ्ग है—धार्मिक विधियाँ और दार्शनिक चिन्तन। धार्मिक विधियाँ व्यवहार की वस्तु होती है किन्तु दर्शन चिन्तन का विषय होता है। काफी दूर तक ये दोनो साथ चलते है किन्तु कभी-कभी और एक सीमा के बाद तो निश्चित ही उनके मार्ग पृथक् हो जाते है। कई बार ये आपस मे टकरा भी जाते है और जब-जब ऐसा हुआ, तब-तब दर्शन को दण्डित होना पड़ा। विश्व के कई बडे-बडे धर्मो का इतिहास साम्प्रदायिक रूढियो और दार्शनिक चिन्तन के मध्य सघर्ष की कहानी है। इनमे कई के हाथो तो दर्शन को इतनी कराल यातनायें भोगनी पड़ी कि उनकी कल्पनामात्र से मानवता सिहर उठती है।

सौभाग्यवश भारत में ऐसा नही हुआ। यहाँ साम्प्रदायिक आचार दर्शन को आच्छादित नही कर सका। आचार अपनी जगह पर रहा और दर्शन अपने स्थान पर। साम्प्रदायिक प्रचार-पद्धतियों मे विभिन्नता रही, विरोध नही और सघर्ष तो कदापि नही। दर्शन के क्षेत्र मे हर पछी को स्वच्छन्द उडान भरने का अवकाश मिला। फलत बहुमुखी दार्शनिक विचारधाराओ का प्रवर्तन हुआ। ये विचारधारायें एक ही सत्य के अन्वेषण मे, विभिन्न और कभी-कभी अत्यन्त विपरीत दिशाओ में चली। इनमे विरोध भी हुआ और सघर्ष भी। फिर भी यह सघर्ष सत्य के सच्चे जिज्ञासु की अकुलाहट थी। एक दूसरे पर भयकर प्रहार करते हुए भी ये चिन्तक जीवन-पद्धति की दृष्टि से एक ही धरातल पर खडे थे। अपरिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य ये इन सबके आधार-स्तम्भ थे। भारत मे धर्म और दर्शन का विकास साथ-साथ हुआ। वे एक-दूसरे के पूरक बनकर बढे। यहाँ धर्म के बिना दर्शन और दर्शन के बिना धर्म की कल्पना नही की जा सकती। आस्तिकता, नास्तिकता, आत्मवाद, अनात्मवाद, एकत्व, द्वित्व, त्रित्व और अनेकत्व सब एक साथ अकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते रहे।

भारतीय धर्म और दर्शन के इस पक्ष से अपरिचित होने के कारण पाश्चात्य समीक्षको एव इतिहास-लेखको ने इस विषय मे बड़ी भ्रान्त बातें कही हैं। योरोप मे होने वाले धार्मिक संघर्षों की पृष्ठभूमि मे पनपा हुआ पाश्चात्य समीक्षक बौद्ध और जैन धर्मो के [illegible]

उनकी दृष्टि [illegible]

के विरोध मे [illegible]

आलोचको ने [illegible]

कि भारत मे दर्शन धर्म की प्रतिक्रिया मे खड़ा हुआ, जिसका स्पष्ट परिणाम हुआ ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष। इसी कोटि के समीक्षको ने आर्य-अनार्य-संघर्ष का नारा ऊँचा

की विशेषता है, उनकी सामासिक शैली। मध्व के प्रमुख व्याख्याकार जयतीर्थ एवं व्यासतीर्थ हैं जिनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—न्यायसुधा एवं न्यायामृत।

मध्व और रामानुज दोनों ने ही शंकर के समान प्रस्थानत्रयी को प्रमाण माना। दोनों ने ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया। उसे विष्णु, नारायण और वासुदेव के रूप में अभिहित किया एवं अवतारवाद पर आस्था प्रकट की। अन्तर केवल इतना कि रामानुज ने अवतारों में ईश्वर के न्यूनगुणों का आविर्भाव माना जबकि मध्व ने उन्हें ईश्वर के समान गुणों से युक्त स्वीकार किया। सापेक्ष होने के कारण शंकर के अद्वैत वेदान्त में भेद प्रत्यय अग्राह्य हैं। उसमें भेद-रहित निर्गुण ब्रह्म की सत्ता स्वीकृत की गयी है। रामानुज ने ब्रह्म को जीव और जगत् से विशिष्ट माना किंतु ब्रह्म से उनकी अपृथक्सिद्धि होने कारण उनका अभेद प्रतिपादित किया। मध्व ने ब्रह्म का जीव और जड़ से स्पष्टतः भेद सिद्ध किया। मध्व ने शंकर के सापेक्ष-सिद्धान्त के विरुद्ध यह तर्क दिया कि भेद-प्रत्यय स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं, क्योंकि वह धर्मि-स्वरूप होता है। इसीलिये इस मत में न केवल ईश्वर-जीव, जीव-जीव, ईश्वर-जड़ एवं जीव-जड़ के बीच भेद को स्वीकार किया गया है, अपितु जड़ और जड़ के बीच भी भेद माना गया है।

पदार्थों को भिन्न स्वरूप मान लेने से मध्व का मत अनेकत्ववादी हो गया है, यद्यपि यह अनेकत्ववाद न्याय, वैशेषिक एवं द्वैतवादी सांख्य से सर्वथा भिन्न है। न्यायादि में एक से अधिक तत्वों की सत्ता स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष है, किन्तु मध्व के अनुसार द्रव्यादि की विद्यमानता ईश्वर के अनुग्रह के कारण ही है। उनके मत में एक ब्रह्म ही स्वरूप, प्रमिति, प्रवृत्ति और सत्ता की दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर एवं स्वतंत्र है। यह मत ब्रह्म और जीव एवं जगत् के बीच न तो शंकर के अधिष्ठान-आरोप्यवाद को और न रामानुज के शरीर-शरीरि-भाव को स्वीकार करता है। अपितु यह उसमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव को निर्दिष्ट करता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब की सत्ता, प्रतीति एवं प्रवृत्ति बिम्ब पर आश्रित होती है, उसी प्रकार जीव एवं जगत् की सत्तादि भी ब्रह्म पर निर्भर है। पूर्णप्रज्ञ दर्शन में कहा है :—

द्रव्यं कृतिश्च कालस्य स्वभावो जीव एव च।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया॥

रामानुज ब्रह्म के ही विशिष्ट अंश से जीव और जगत् की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु मध्व नहीं। मध्व के मत में ईश्वर निमित्त कारण है, उपादान नहीं। यद्यपि ब्रह्म का अन्य द्रव्यों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण एक प्रकार से ब्रह्म को उनका उपादान माना जा सकता है। इसीलिये यह मत द्वैतवादी होकर भी वस्तुतः वेदान्त की एकत्ववादी विचारधारा में ही पर्यवसित होता है।

आगे चलकर शंकराचार्य ने इसी भित्ति पर महान् प्रासाद खड़ा किया। उपनिषद् का यह वाक्य उनका आधार बना—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति, तदितर इतरं पश्यति। यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येद् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयादिव ज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।

अद्वैत वेदान्त के वाक्य-पञ्चक का मूल यही है। शंकर का अद्वैत पूर्ववर्ती समस्त आस्तिक, नास्तिक, वैदिक, अवैदिक मान्यताओं को अपने साथ बहा ले गया। शंकर ने प्रस्थान-त्रयी मे वेदों के जय का उद्घोष करके भी संहिताओं को पीछे छोड़ दिया। लोकायतों और आजीवकों से लेकर बौद्धों और जैनों तक की अपने समय तक प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं को या तो उन्होंने आत्मस्थ कर लिया या तीखे तर्क-प्रहारों मे विक्षत कर छोड़ दिया। दर्शन के क्षेत्र में उनसे पहले या बाद में कभी इतनी बड़ी क्रान्ति देखने में नहीं आयी। शंकर ने वेदान्त शब्द को नया अर्थ दिया। उन्होंने अनेकों नयी परिभाषायें गढ़ीं। बहुत से शब्दों का अर्थ बदला, न जाने कितनी ऋचाओं को नये अर्थ के परिधान से अलंकृत किया। और तब दर्शन का एक ही अर्थ हुआ अद्वैत। अद्वैत का तात्पर्य बना आत्म-ज्ञान। आत्मा जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, प्रकाश, स्वरूप है उसका सत्य ज्ञान।

जब आत्मा शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है तो बन्ध कैसा? इस मान्यता ने नवीन आशावाद को जन्म दिया—एक ऐसा आशावाद, जिसके प्रकाश मे सारे भेदभाव विनष्ट हो जाते हैं :—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्नचाहं निज-बोध-रूपः॥

शंकर के विशुद्ध अद्वैतवाद के प्रायशोगृहीत हो जाने पर भी कुछ परवर्ती आचार्यों ने उसमें आंशिक विप्रतिपत्ति प्रकट की। इनमें रामानुज और मध्व का नाम प्रमुख है। आचार्य मध्व ने उसमें कई संशोधन कर द्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की। डा० चतुर्वेदी का प्रस्तुत ग्रन्थ मध्वाचार्य के द्वैत वेदान्त पर प्रकाश डालता है।

मध्वाचार्य का जन्म ईसा की तेरहवीं शताब्दी में मैसूर राज्य के उडिपी गाँव मे हुआ था। उनका बचपन का नाम वासुदेव था। शंकर के समान वे भी बाल्यावस्था में ही अध्ययन पूर्ण कर १६ वर्ष की आयु में श्री अच्युतप्रेक्ष से संन्यास ग्रहण कर देश-भ्रमण के लिये निकल गये। गुरु ने उन्हें 'पूर्ण-प्रज्ञ' नाम दिया था। भारत भर का भ्रमण कर उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा। इनकी लगभग सैंतीस रचनाओं में गीता-भाष्य, अणुव्याख्यान, अणुभाष्य और भागवत तात्पर्य आदि प्रमुख हैं। मध्व

वस्तु का रंग। इनका वस्तु के साथ भेदाभेद सम्बन्ध होता है। जबतक गुण वस्तु में रहता है, तब तक अभेद और नष्ट हो जाने पर भेद। रामानुज द्रव्य-गुण में अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं। मध्व का तादात्म्य सिद्धांत भी उनकी मौलिक देन है। द्रव्य और गुण अभिन्न हैं किन्तु व्यवहार में जो उनमें भेद प्रतीत होता है वह 'विशेष' के कारण ही होता है। भेद के अभाव में भी भेद के निर्वाहक पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं। मध्व सिद्धान्त सार में इसे परिभाषित किया है :—

भेदाभावेऽपि भेद-व्यवहार-निर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।

'विशेष पदार्थनिष्ठ हैं और अनेक हैं। वे स्व निर्वाहक' हैं। उनके लिये आधार विशेष की आवश्यकता नही। इसीलिये अवस्था-दोष नहीं होता। अभेद ही ईश्वर की उत्पादक एवं संहारक शक्तियों के बीच सामंजस्य बनाये रखता है।

सत्य के सम्बन्ध में भी मध्व और शंकर में भेद है। शंकर सर्व-देशकाल से सम्बन्धित वस्तु को सत् मानते हैं किन्तु मध्व किञ्चित् काल और देश से सम्बन्धित को भी। उनके मत में रज्जु में प्रतीयमान सर्प असत् है, क्योंकि वह कभी और कहीं भी देशकाल से सम्बन्धित नहीं है। वृत्ति दोष के कारण ही उसकी प्रतीति सद्वत् होती है। असत् में सत् ग्रहण करना ही भ्रम है। इसलिये स्वप्न भी सत्य है। जब जाग्रत् अवस्था में पदार्थों से उसकी तुलना की जाती है तभी वह मिथ्या होता है। सत् पदार्थ में कार्यकारिता का होना भी आवश्यक है। आरोपित रजत से पात्रादि का निर्माण सम्भव नहीं। अतः वह असत् है।

मध्व के मत में अविद्या एवं कर्मों का संयोग ही जीव के बन्धन का कारण है। जीव अविद्यावशात् कर्तृत्व को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। यही उसकी बद्धता का प्रमुख कारण है। स्वयं की सत्ता एवं शक्ति के खोज के रूप में ईश्वर का अपरोक्ष अनुभव कर लेना ही मोक्ष है। अविद्या ही जीव एवं ईश्वर के स्वरूप का आच्छादन करती है। वह सत् पदार्थ है। अतः जड़ वस्तुओं को असार और अनित्य मानकर उनके प्रति विरक्ति, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में अनिवार्य है। इसमें भक्ति का साहाय्य अपेक्षित है। रामानुज के समान मध्व भी भक्ति को केवल भावनाओं का प्रवाहमात्र नहीं मानते थे। वे उसमें ज्ञान को भी समाविष्ट करते हैं। भक्ति का पर्यवसान ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है। पूर्ण-प्रज्ञ दर्शन में कहा गया है :—'प्रधान-साधनत्वाद्भक्तिः करणत्वेनोच्यते-ज्ञानादेदापवर्गः—नारायण-प्रसाद-मृते न मोक्षः'। मध्व के अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव अणु परिमाणयुक्त रहता है और उसका लय ब्रह्म में नहीं होता। यह दुःखों की गन्ध से रहित एवं पूर्ण आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में जीव उन सब भोगों को प्राप्त करता है, जो परमात्मा

मध्व के अनुसार जिससे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष होते हैं, वह ब्रह्म है। पूर्णप्रज्ञ दर्शन में इसका सविस्तार निरूपण है। ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द रूप है। वह सर्वगुण-पूर्ण एवं सर्वदोष गन्ध-विधुर है। न्यायसुधा में कहा गया है :—

सर्वाण्यपिहिवेदान्तवाक्यानि असंख्यकल्याण-गुणाकरं सकल-दोष-गन्ध-विधुर मेकमेव परंब्रह्म प्रतिपादयन्ति।

इस मत में जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व से युक्त देहादि से व्यतिरिक्त अणु-परिमाण एवं सदैव अहं ज्ञान से युक्त है। बद्धावस्था में वह अज्ञान, मोह, दुःखादि दोषों से युक्त है। जीव परस्पर भिन्न हैं और परमात्मा से भी पूर्णतः भिन्न है। गुणों के तारतम्य-भेद से वे तीन प्रकार के हैं :—मुक्ति-योग्य, तमोयोग्य और नित्य संसारी। मुक्तावस्था में भी गुणों के परिमाण की दृष्टि से उनमें भेद रहता है। जीव ज्ञान-स्वरूप ही नहीं, अपितु ज्ञानमय भी है। वह विषय और विषयी दोनों है। वह 'अहं' ज्ञान का विषय है, स्वसत्ता का ज्ञाता एवं पदार्थ का प्रकाशक है। यहाँ मध्व शंकर से सर्वथा भिन्न हैं। शंकर आत्मा को विषय एवं विषयी से परे मानते हैं।

मध्व ने जीव को प्रत्येक अवस्था में परतन्त्र माना है। सत्ता प्रवृत्ति एवं प्रतीति के लिये तो वह परमात्मा के अधीन है ही—उसका कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्वादि भी परमात्मा का ही है। जिस प्रकार गौ दुग्ध देती हुई दिखती है, किन्तु दुग्ध का मुख्य कारण उसका प्राण है उसी प्रकार जीव कार्य का प्रारम्भ और उपसंहार करता दिखाई देता है। वस्तुतः कर्ता परमात्मा ही है। गीता भाष्य में मध्व ने इसे स्पष्ट किया है।

बाह्य विषयों की ज्ञानोपलब्धियों में असमर्थ है। इस प्रकार मध्व-दर्शन जगत् की वास्तविकता को असन्दिग्ध एवं युक्ति-संगत बना देता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सदोष हो सकता है किन्तु साक्षी, जो बिना वृत्तियों के ज्ञान प्राप्त करता है, कभी सदोष उपलब्धि नहीं करता। अणुभाष्य में कहा है—"मानसे दर्शने दोषाः स्युर्न वैसानि दर्शने"।

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध के विषय में भी मध्व के विचार मौलिक हैं। उनके मत से कुछ वस्तु के साथ अनिवार्य रूप से रहते हैं जैसे गुरुत्व, उनका वस्तु के साथ सविशेषाभेद सम्बन्ध होता है। किन्तु कुछ गुण परिवर्तनशील होते हैं—यथा

वस्तु का रंग। इनका वस्तु के साथ भेदाभेद सम्बन्ध होता है। जबतक गुण वस्तु में रहता है, तब तक अभेद और नष्ट हो जाने पर भेद। रामानुज द्रव्य-गुण में अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध मानते हैं। मध्व का तादात्म्य सिद्धांत भी उनकी मौलिक देन है। द्रव्य और गुण अभिन्न हैं किन्तु व्यवहार में जो उनमें भेद प्रतीत होता है वह 'विशेष' के कारण ही होता है। भेद के अभाव में भी भेद के निर्वाहक पदार्थ को 'विशेष' कहते हैं। मध्व सिद्धान्त सार में इसे परिभाषित किया है :—

भेदाभावेऽपि भेद-व्यवहार-निर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः।

विशेष पदार्थनिष्ठ हैं और अनेक हैं। वे स्व निर्वाहक' हैं। उनके लिये आधार विशेष की आवश्यकता नही। इसीलिये अवस्था-दोष नहीं होता। अभेद ही ईश्वर की उत्पादक एवं संहारक शक्तियों के बीच सामंजस्य बनाये रखता है।

सत्य के सम्बन्ध में भी मध्व और शंकर में भेद है। शंकर सर्व-देशकाल से सम्बन्धित वस्तु को सत् मानते हैं किन्तु मध्व किञ्चित् काल और देश से सम्बन्धित को भी। उनके मत में रज्जु में प्रतीयमान सर्प असत् है, क्योंकि वह कभी और कहीं भी देशकाल से सम्बन्धित नहीं है। वृत्ति दोष के कारण ही उसकी प्रतीति सद्वत् होती है। असत् में सत् ग्रहण करना ही भ्रम है। इसलिये स्वप्न भी सत्य है। जब जाग्रत् अवस्था में पदार्थों से उसकी तुलना की जाती है तभी वह मिथ्या होता है। सत् पदार्थ में कार्यकारिता का होना भी आवश्यक है। आरोपित रजत से पात्रादि का निर्माण सम्भव नहीं। अतः वह असत् है।

मध्व के मत में अविद्या एवं कर्मों का संयोग ही जीव के बन्धन का कारण है। जीव अविद्यावशात् कर्तृत्व को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। यही उसकी बद्धता का प्रमुख कारण है। स्वयं की सत्ता एवं शक्ति के खोज के रूप में ईश्वर का अपरोक्ष अनुभव कर लेना ही मोक्ष है। अविद्या ही जीव एवं ईश्वर के स्वरूप का आच्छादन करती है। वह सत् पदार्थ है। अतः जड़ वस्तुओं को असार और अनित्य मानकर उनके प्रति विरक्ति, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में अनिवार्य है। इसमें भक्ति का साहाय्य अपेक्षित है। रामानुज के समान मध्व भी भक्ति को केवल भावनाओं का प्रवाहमात्र नहीं मानते थे। वे उसमें ज्ञान को भी समाविष्ट करते हैं। भक्ति का पर्यवसान ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है। पूर्ण-प्रज्ञ दर्शन में कहा गया है :—'प्रधान-साधनत्वाद्भक्तिः करणत्वेनोच्यते-ज्ञानादेवापवर्गः—नारायण-प्रसाद-मृते न मोक्षः'। मध्व के अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव अणु परिमाणयुक्त रहता है और उसका लय ब्रह्म में नहीं होता। यह दुःखों की गन्ध से रहित एवं पूर्ण आनन्द की अवस्था है। इस अवस्था में जीव उन सब भोगों को प्राप्त करता है, जो परमात्मा

मध्व के अनुसार जिससे उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष होते हैं, वह ब्रह्म है। पूर्णप्रज्ञ दर्शन में इसका सविस्तार निरूपण है। ब्रह्म सत्, चित एवं आनन्द रूप है। वह सर्वगुण-पूर्ण एवं सर्वदोष गन्ध-विधुर है। न्यायसुधा में कहा गया है :—

...गाकर सकल-दोष-गन्ध-विधुर है।

इस मत में जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व से युक्त देहादि से व्यतिरिक्त अणु-परिमाण एवं सदैव अहं ज्ञान से युक्त है। बद्धावस्था में वह अज्ञान, मोह, दुःखादि दोषों से युक्त है। जीव परस्पर भिन्न हैं और परमात्मा से भी पूर्णतः भिन्न है। गुणों के तारतम्य-भेद से वे तीन प्रकार के हैं :—मुक्तियोग्य, तमोयोग्य और नित्य संसारी। मुक्तावस्था में भी गुणों के परिमाण की दृष्टि से उनमें भेद रहता है। जीव ज्ञान-स्वरूप ही नहीं, अपितु ज्ञानमय भी है। वह विषय और विषयी दोनों है। वह अहं ज्ञान का विषय है, स्वसत्ता का ज्ञाता एवं पदार्थ का प्रकाशक है। यहाँ मध्व शंकर से सर्वथा भिन्न हैं। शंकर आत्मा को विषय एवं विषयी से परे मानते हैं।

मध्व ने जीव को प्रत्येक अवस्था में परतन्त्र माना है। सत्ता प्रवृत्ति एवं प्रतीति के लिये तो वह परमात्मा के अधीन है ही—उसका कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्वादि भी परमात्मा का ही है। जिस प्रकार गो दुग्ध देती हुई दिखती है, किन्तु दुग्ध का मुख्य कारण उसका प्राण है उसी प्रकार जीव कार्य का प्रारम्भ और उपसंहार करता दिखाई देता है। वस्तुतः कर्ता परमात्मा ही है। गीता भाष्य में मध्व ने इसे स्पष्ट किया है।

मध्व मत की एक विशेषता यह भी है कि इसमें इन्द्रियों के अतिरिक्त साक्षी को भी ज्ञानोपलब्धि का उपकरण माना गया है। यों तो शंकर ने भी साक्षी की धारणा को स्वीकार किया है, किन्तु उनके मत में साक्षी अन्तःकरण वृत्ति के बिना बाह्य विषयों की ज्ञानोपलब्धियों में असमर्थ है। इस प्रकार मध्व-दर्शन जगत् की वास्तविकता को असन्दिग्ध एवं युक्ति-संगत बना देता है। इन्द्रिय-जन्य ज्ञान सदोष हो सकता है किन्तु साक्षी, जो बिना वृत्तियों के ज्ञान प्राप्त करता है, कभी सदोष उपलब्धि नहीं करता। अणुभाष्य में कहा है—"मानसे दर्शने दोषाः स्युर्न, वैसानि दर्शने"।

द्रव्य और गुण के सम्बन्ध के विषय में भी मध्व के विचार मौलिक हैं। उनके मत से कुछ वस्तु के साथ अनिवार्य रूप से रहते हैं जैसे गुरुत्व, उनका वस्तु के साथ सविशेषाभेद सम्बन्ध होता है। किन्तु कुछ गुण परिवर्तनशील होते हैं—यथा

विषयानुक्रमणिका

को प्राप्त हैं— 'ये भोगाः परमात्मना भुज्यन्ते त एव मुक्तैर्भुज्यन्ते।" मध्व मोक्षावस्था मे भी जीवो की समान अवस्था नही मानते। वे वहाँ भी आनन्दादि की अवस्था के भेद को स्वीकार करते हैं। मध्व गीता-भाष्य में उल्लिखित है :

मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद्देह संश्रिता अपि।
तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्द पूर्वकैः।

इस प्रकार मध्व का दर्शन वेदान्त मे पर्यवसित होकर भी द्वैत है। वह रामानुज के अधिक समीप और शकर से अपेक्षाकृत भिन्न है। मध्व ने प्रत्येक सम्बन्धित पक्ष पर मौलिक उद्भावनायें की हैं। भारतीय दर्शन को उनकी देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

दुर्भाग्यवश मध्वाचार्य की ओर समीक्षको ने पर्याप्त ध्यान नही दिया है। शकर और रामानुज की तुलना मे द्वैत वेदात पर प्रस्तुत साहित्य का परिणाम बहुत कम है। ऐसी स्थिति मे डा० कृष्णकान्त चतुर्वेदी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक आठ अध्यायो मे वेदान्त के उद्गम से लेकर वैष्णव सम्प्रदाय की अन्तिम शाखा तक का सप्रमाण, सरस एव वैदग्ध्यपूर्ण विवेचन किया है, जिसमे अनेक स्थानो पर उनकी अन्तर्भेदिनी मौलिक प्रतिभा का दर्शन होता है। हिन्दी साहित्य मे इस विषय पर यह सर्वप्रथम आधिकारिक ग्रन्थ है जिसमे द्वैत वेदान्त के सहारे प्राय. समग्र आस्तिक दार्शनिक चिन्तन का सार आ गया है।

मेरा विश्वास है कि डा० चतुर्वेदी की प्रस्तुत कृति दर्शन के क्षेत्र मे प्रविष्ट होने वाले सुधी शोध-कर्ताओ के लिये भी मार्गदर्शिका का काम देगी।

—(डा०) प्रभुदयालु अग्निहोत्री,
सचालक,
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,

भोपाल
दिनाक— २८ जुलाई, १९७१

प्रथम अध्याय

वेदान्त का उद्भव विकास तथा विविध वेदान्त सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन के विकास का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। अत्यन्त प्राचीन काल से तत्व-चिन्तन के प्रति प्रवृत्ति प्राप्त होती है। वैदिक मन्त्र-भाग से प्रारम्भ करके अद्यतन चिन्तन-मनन की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। काल के क्रम की इतनी व्यापक अवस्थिति में यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि असंख्य परम्परा विरोधी विचार सरणियां एवं तदीय विपुल साहित्य प्राप्त हो। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि विभिन्न मतों के संसूचक साहित्यों के विपुल भंडार काल-कवलित भी हो गए हों। अनेक आचार्यों के मात्र नामोल्लेख इसी तथ्य के प्रमाण हैं।

उक्त उल्लेख वेदान्त साहित्य के विषय में भी चरितार्थ है। 'वेदान्त' पद से ज्ञेय साहित्य मूलतः उपनिषद् साहित्य है। उपनिषद् साहित्य वेदाश्रयी होने के कारण, उसमें प्रतिपाद्य तथ्यों का अनुसंधान मन्त्र-संहिता ब्राह्मणादि भागों में किया जाता है। अतः वेद के रहस्य का प्रतिपादक एवं वैदिक साहित्य का अन्तिम प्रतिनिधि होने से 'वेदान्त' अभिधान प्रस्तुत विचार-क्रम को प्राप्त हुआ।[1]

पद-प्रयोग से सामान्यतः ग्रहण किया जाता है कि यह एक ही प्रकार की चिन्तनधारा है। षड्दर्शन (आस्तिक) विवेचन के भी एक दर्शन-प्रस्थान की दृष्टि से इस पद का व्यवहार किया गया है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन के इतिहास ग्रन्थ वेदान्त को एक ही क्रम या परम्परा में अध्ययन का विषय मानकर विवेचन करते हैं। किन्तु इस दृष्टि का आधार क्या है?

'वेदान्त' एक ही प्रस्थान के रूप में ग्रहीत क्यों है? क्या ये दर्शन के वर्गीकरण में विशुद्ध आदर्शवाद के समर्थक ग्रन्थ समुदाय हैं? तब मध्व तो यथार्थवादी हैं, वस्तु-वादी हैं। उनको भी इस वर्ग में कैसे रखा जा सकेगा? भेदाभेदवादी तथा काशकृत्स्न आदि आचार्यों के मत के साथ-साथ इन सभी परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक आचार्यों का एक ही दर्शन सम्प्रदाय के अन्तर्गत ग्रहण करने का आधार क्या है? उपनिषद्वाक्यों

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६।२२
महानारायणोपनिषद्, १०।८.

सत्व का ग्रहण करने के उपरान्त भी किसी मूल अविनाशी तत्व के आकलन में प्रसृत उसकी प्रयत्न-परम्परा अविश्रान्त रूप में उपलब्ध है।

'वेदान्त' का पारम्परिक एवं मान्यता प्राप्त अभिप्राय 'उपनिषद्' साहित्य ही है। बाह्यतः सिद्ध दृश्यमान पदार्थ जगत, अत्यन्त व्यापक तत्व ब्रह्म एवं जीवात्मा के सम्बंध में पूर्ववर्ती साहित्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विचार-सरणि उपनिषद् साहित्य में उपलब्ध है। नाना रूपों में विकसित विचार क्रमों का यह साहित्य प्रतिनिधि है। अतः जड़, जीवात्म एवं परमात्म तत्व के स्वरूप-विवेचन में अनेक परस्पर भिन्न एवं विरुद्ध आख्यान भी इस साहित्य में हैं। उपनिषद् साहित्य की बहुत ही विस्तृत ग्रन्थ-परम्परा है। मुक्तिकोपनिषद् एक सौ आठ उपनिषद् की सूचना देता है।[1] उपनिषद् ग्रन्थों की नामावली प्राप्य है।[2] किन्तु प्रमुख उपनिषद् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकी एवं श्वेताश्वतर हैं। उपनिषद् पद के अभिधेय अर्थ से यही ज्ञात होता है कि वे गुरुजनों द्वारा शिष्यों को एकान्त में दिए गए उपदेशों के संग्रह हैं।[3] परम्परा के अनुसार, प्रसादगुणयुक्त यह साहित्य श्रुति के मन्त्र-संहितादि भाग के ज्ञान-पक्ष का संवर्धक है। इसमें प्राप्त मत-भेद के कारण ही उत्तरकाल में अनेक दार्शनिक मतों का विकास हुआ।

वैदिक साहित्य के मन्त्र एवं संहिता भाग में विचार-क्रम की दृष्टि सामान्यतः वहिर्मुखी है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमुखतः कर्मकाण्डपरक होने के कारण यज्ञीय प्रक्रिया की मर्यादाओं में आबद्ध हैं; किन्तु उपनिषद् साहित्य में वह अन्तर्मुखी होकर सर्वव्यापक तत्व की सत्ता एवं स्वरूप को, विवेचन का विषय बताती है। सभी ज्ञान को श्रेष्ठ न मान कर, उद्देश्य अथवा प्रयोजन के आधार पर उसका विभाजन किया गया है। आत्म-साक्षात्कार रूप, मोक्षकारक ज्ञान उच्चस्तरीय है। नारद ने सनत्कुमार से सभी प्रकार की शास्त्रीय विद्या के प्रति अपनी विज्ञता सूचित करने के उपरान्त भी आत्मज्ञानविषयक अनभिज्ञता स्वीकार की।[4] मुण्डक ने भी उक्त स्तरों की मान्यता ग्रहण की है।[5] गीता में भी अर्जुन को त्रिगुणात्मक ज्ञान से ऊपर उठने की प्रेरणा दी गई है।[6] इस प्रकार यह साहित्य श्रुति-समाम्नाय के ज्ञान-पक्ष को अधिक महत्व प्रदान करता है।

---

१. डा० सी० डी० शर्मा, इंडियन फिलासफी, पृ० ७।
२. वाचस्पति गैरोला, भारतीत दर्शन, पृ० ३८.
३. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग १ प० ५६.
४. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२-३.
५. मुण्डकोपनिषद्, १।१।४-५.
६. गीता, २।४५-४६,

पर आधारित होने के कारण इसे यदि 'वेदान्त' माना जाय, जैसा कि विद्वज्जन मानते हैं,[1] तो सांख्य भी उपनिषद् वाक्यों का ही अनुसरण करने वाला दर्शन-सम्प्रदाय है, वह वेदान्त क्यों नहीं ? सम्भवतः ब्रह्म, जीव एवं जड़ इस त्रिक के समूह पर आधारित चिन्तन में प्रवृत्त, उपनिषद्वाक्यों की अन्यतम प्रतिष्ठा के समर्थक, सृष्टि के कारणभूत तत्त्व के अनुरोधक होने के कारण परस्पर भिन्न निष्कर्ष ग्रहणकर्ता होने पर भी ये आचार्य एक ही चिन्तन-वर्ग में आते हैं।

वेद का चिन्तन बाह्यार्थपेक्षी एवं तदोन्मुख तो है ही, साथ ही अनेक प्रकार के क्रमिक विकास-निर्देशक पादक्षेपों का भी द्योतक है। प्राकृतिक शक्तियों को देव रूप में मानने वाले आचार्यों ने बहुदेववाद से एकदेववाद तथा इसके उपरान्त सर्वेश्वरवाद को ग्रहण किया। आश्चर्य की दृश्यमान नानात्मकता के मूल में एक ही तत्त्व की कल्पना भी ऋषियों ने की।[2] काल की सावधिकता के परे इसी तत्त्व की स्थिति है।[3] इसका ज्ञान ही मृत्यु के भय से मुक्त करता है।[4] सभी जीव-जड़ इसी के आधीन हैं तथा अमर तत्त्व भी यही है।[5]

सृष्टि की प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी पर्याप्त विचिकित्सापूर्ण विचार प्राप्त होते हैं। सदसद्, मृत्यु, अमरता एवं काल आदि से विलक्षण तथा पृथक् तत्त्व ही उसके मूल में रहा होगा।[6] अन्य सभी देव उसके अंगभूत हैं। इसी प्रकार के तथा अन्यान्य अनेक विचार, संहिता-वाङ्मय में प्राप्त होते हैं जो जिज्ञासा को सूचक हैं। वैदिक विचार-क्रम दार्शनिक तत्त्वों के स्वरूप-निर्धारण में असमर्थ है। विविध दृष्टिकोणों की सम्पर्क-भावना में व्यापृत हैं। किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रति सहज रूप से

1. मैक्स हंटरहेरीमन, हिन्दू मोनिज्म एण्ड प्लूरलिज्म, पृष्ठ २५.
2. ऋग्वेद, १।१६४।४६
   'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'
3. वही, १०।९०
   'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'
4. अथर्ववेद, १०।८।४४
   'तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।'
5. ऋग्वेद, १०।९।३
   'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'
6. वही, १०।१२९।१
   'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं रजो नो व्योमा परो यत्।
   न मृत्युरासीदमृतं तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
   आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥'

प्रस्थान-त्रयी में, जिस पर सभी वेदान्तमत आश्रित हैं, गीता का भी ग्रहण किया गया है। वैसे तो यह भी उपनिषद् ही है, किन्तु भाषा, विषयसम्बन्धी प्रतिपादन एवं महाभारत के भाग के रूप में परिगणन के कारण स्वतन्त्र रूप से इसका उल्लेख आवश्यक है। सभी आचार्यों ने इस पर भाष्य लिखे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड एवं भौतिक आस्था के प्रतीक स्थूलतत्व की आत्यन्तिक प्रवृत्ति का विरोध इसमें प्राप्त होता है। जगत् की श्रेष्ठता एवं याज्ञिक प्रक्रिया के विषय में उपनिषद् में भी विरोध मिलता है, किन्तु उसका रूप उतना प्रखर नहीं है जितना कि गीता में। गीता के दर्शन ने अपने आन्तरिक विरोध का समाहार तो किया ही, साथ ही, समूचे रूप में वैदिक धर्म एवं दर्शन के विरोधी आन्दोलनों को भी शिथिल किया। जैन, बौद्ध तथा अन्य अनेक निष्क्रियतावादी मतों के विरुद्ध भारतीय-कर्मवाद की स्थापना की। तत्कालीन उपलब्ध दार्शनिक मान्यताओं के समन्वय का श्रेय भी गीता को है, किन्तु यह समन्वय इतना अस्पष्ट है कि शंकर को भी इसकी दुर्विज्ञता स्वीकार करनी पड़ी।[१]

पिछले कतिपय वर्षों में अद्वैत-मत प्रतिपादक योगवासिष्ठ का अध्ययन विस्तार से हुआ है। दार्शनिक चिन्तन विपुल मात्रा में इस कृति में प्राप्य है। यह परम तत्व के स्वरूप को द्रष्टा एवं दृष्य के विकल्प से परे मानता है।[२] जीव के विषय में लोक-प्रचलित अनेक धारणाओं का उल्लेख किया है।[3] योगवासिष्ठ के निष्कर्षक अद्वैत वेदान्त के बहुत समीप हैं

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त की सुस्पष्ट एवं अपेक्षाकृत व्यवस्थित प्रतिष्ठा गौड़पाद में है। शंकराचार्य ने भी परमगुरु के रूप में इनका स्मरण किया है।[४] अजातिवाद के प्रतिष्ठापक गौड़पाद ने शंकर की सभी प्रतिपादनाओं को पूर्वरूप दे दिया था। जगत् एवं द्वैत की प्रतीति अतात्विक है, परमार्थतः अद्वैत ही है।[५] स्वप्न में दिखाई देने वाला

१. शंकराचार्य, गीता भाष्य भूमिका, पृ० २
'तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थ सारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्।'

२. योगवासिष्ठ, ३।४।७०
'न दृश्यमस्ति सद्रूपं न दृष्टा न च दर्शनम्।
न शून्यं न जड़ं नोचिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥'

३. वही, ३।९६।३४
'जीव, इत्युच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्तमित्युच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा ॥'

४. शंकराचार्य, माण्डूक्य-कारिका भाष्य समापन
'यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपादैर्नतोऽस्मि।'

५. गौड़पाद, माण्डूक्य कारिका, १।१२
'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।'

उपनिषद् में प्रमुखतः आत्म तत्व का ही व्याख्यान है। रथ-रूपक के द्वारा उसकी नियामक शक्ति की ओर संकेत किया गया है।[१] शंकर ने उपनिषद् के भाष्य में प्रवृत्त होते हुए अनेक प्रकार के अर्थ, इस पद के, प्रस्तुत किए हैं।[२] इन सभी अर्थों में विभिन्न दृष्टियों से उसकी महत्ता ही प्रमाणित होती है। वह स्वयं प्रकाश है, उसी के आलोक से ये समस्त पदार्थ आलोकित हैं।[३] इसको जानने के लिए किसी अन्य प्रकार के साधन की आवश्यकता नहीं है।[४]

उपनिषद् में ब्रह्म के स्वरूप का भी विवेचन है। 'बृह' धातु से निष्पन्न यह पद मन्त्र अथवा यज्ञ के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। यह परम व्यापक एवं सर्वाश्रयी तत्व है। तैत्तिरीय ब्राह्मण जीव के उत्पन्न एवं विलीन होने के आश्रय को ब्रह्म प्रतिपादित करता है।[५] स्थूल जगत् की सृष्टि इसी तत्व से हुई है। ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही प्रकार के रूपों के निर्देशक उपनिषद्-वाक्य प्राप्त होते हैं। टीकाकारों ने सविशेष एवं निर्विशेषलिंगक श्रुतिवाक्यों की स्थिति ग्रहण की है।[६] इस अन्तर की स्पष्टता के लिए परब्रह्म निर्विकल्प को तथा अपरब्रह्म-सविकल्प को कहा गया। कभी-कभी एक ही वाक्य में उभयविध ब्रह्म का वर्णन भी प्राप्त होता है।[७] इससे यही निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि उपनिषद् साहित्य में अनेक वैचारिक कोटियां प्राप्य हैं। किन्तु वे सभी उसकी नियामकता, स्वतन्त्रता, स्थिरता आदि को एक स्वर से प्रतिपादित करती हैं। वेदान्त के सम्पूर्ण उपमतों के आचार्यों ने प्रमुखतया उपनिषद् में ही अपनी तात्विक मान्यता के आधारों के अन्वेषण का उद्योग किया है।

---

१. कठोपनिषद्, १।३।३
'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥'

२. शंकर, कठोपनिषद् भाष्य, २।१।१
'यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्तितः॥'

३. छान्दोग्य उप० ८।१२; कठोपनिषद्, २।२।१५; मुण्डकोपनिषद्, २।२।१.

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।६
'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।'

५. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३।१.

६. शंकराचार्य, श्वेताश्वतरोपनिषद् भाष्य, १।१-३
'सन्ति उभयलिंगाः श्रुतयो ब्रह्मविषयः। सर्वकर्मेत्याद्याः सविशेषलिंगाः।
अस्थूलमनण्वित्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिंगाः।'

७. रानाडे, ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० १७२

ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार बादरायण ने बादरि,[1] आश्मरथ्य,[2] आत्रेय,[3] काशकृत्स्न,[4] औडुलोमि,[5] कार्ष्णाजिन,[6] तथा जैमिनि[7] आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में काश्यप के मत का उल्लेख है। उपरोक्त सभी आचार्य सम्भवतः सूत्रकार के रूप में ही प्रतिष्ठित रहे होंगे।[8]

शंकर के पूर्ववर्ती आचार्यों में भर्तृप्रपंच, उपवर्ष[9] बोधायन, सुन्दरपाण्ड्य[10] तथा ब्रह्मदत्त हैं। इन सभी आचार्यों का विवेच्य यद्यपि वेदान्त था, तो भी इनमें परस्पर अत्यन्त मत-विभिन्नता थी।

ब्रह्मसूत्रकार एवं शंकर के पूर्व जिन आचार्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं उनकी रचनाएं यद्यपि अप्राप्त हैं, तथापि उद्धरणमात्र से यह निष्कर्ष ग्रहण करना सहज प्रतीत होता है कि अनेक प्रकार के मत एवं उपमत प्रचलित थे जिनका विशद अध्ययन आज भी अपेक्षित है।

भारतीय दर्शन की आदर्शवादी परम्परा को गौड़पाद के उपरान्त शंकर ने और अधिक शक्ति प्रदान की। वस्तुतः आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों की प्रसारगत विवेचना में यही मत सर्वश्रेष्ठ है। अनेक श्रेष्ठ विद्वान् इस परम्परा को समृद्धतर करते रहे हैं। शंकर का व्यक्तित्व कदाचित् इतना प्रखर था कि उसके प्रभाव से ही इस मत को इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

शंकर अद्वितीय प्रतिभा के धनी हैं। कोई भी विचारक बिना उनसे प्रभावित हुए नहीं रह सकता। प्रसन्न भाषा, गम्भीर तथा युक्तियुक्त स्थापना, शंकर को अन्य लेखकों से अधिक उच्च रूप में प्रमाणित करती है। भाष्य रचनाओं के अतिरिक्त पद्यात्मक स्तुतिपरक ग्रन्थ उनकी काव्य-शक्ति के परिचायक हैं। उन्होंने ब्रह्म के सर्वापहारी, निरंकुश, सर्वातिशायी स्वरूप का अत्यधिक तर्क-संगत प्रतिपादन किया है। इसी को मण्डन मिश्र, सुरेश्वर, पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मयति, सर्वज्ञात्ममुनि,

---

१. ब्रह्मसूत्र, १।२।३०.
२. वही, १।२।२९; १।४।२०.
३. वही, ३।४।४४.
४. वही, १।४।२२.
५. वही, १।४।२१; ४।४।६.
६. वही, ४।४।१०.
७. वही, १।४।१९.
८. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४०७.
९. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, ३।३।५३.
१०. वही, १।१।४.

गन्धर्वनगरादि दृश्य जिस प्रकार से अप्रामाणिक होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी है यह मत वेदान्तविद् लोगों का है ।[1] जगत्, जिसका न आदि है न अन्त, वह वर्तमान में भी वैसा ही होगा ।[2] इस प्रकार बुद्धों के द्वारा सस्थापित अजातिवाद का अनुमोदन गौड़पाद ने किया है ।[3] जीव अनादि माया के वशीभूत होकर ही आत्मस्वरूप से अनभिज्ञ रहता है । जैसे ही वह स्वप्न एव निद्रा से मुक्त हुआ, वैसे ही उसे अद्वयता का बोध हो जाता है ।[4] गौडपाद शून्यवाद के अनेक सिद्धान्तो से प्रभावित हैं । स्थान-स्थान पर बुद्ध का नाम लेकर उन्होंने वन्दना की है । बौद्ध-दर्शन से गौडपाद दर्शन की प्रवृत्ति चिन्त्य है तथापि शून्यवाद के समीप उपनिषद् दर्शन को लोकर इन्होंने शकर का मार्ग प्रशस्त किया ।

'ब्रह्मसूत्र' वेदान्त दर्शन का सर्वाधिक चर्चित एव महनीय ग्रन्थ है । यह साढे पांच सौ सूत्रों का ग्रन्थ सम्पूर्ण वेदान्त उपमतो का आश्रय ग्रन्थ तो है ही, साथ ही उपनिषद्-साहित्य मे प्रतिपादित सिद्धान्तो का सक्षिप्त सकलन भी है । सन्यासियो के लिए उपयोगी होने कारण 'भिक्षु-सूत्र' भी इसकी सज्ञा है ।[5]

चार अध्याय के इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय 'समन्वयाध्याय' है । इसमे सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्यो का साक्षात् अथवा परम्परया ब्रह्म मे ही तात्पर्य निरूपित किया गया है । दूसरा अविरोधाध्याय है । इसमे श्रुति, स्मृति आदि के विरोध का परिहार करके 'ब्रह्म' से उनकी अनुकूलता प्रतिपादित है । तृतीय अध्याय साधनपरक है । इसमे परलोकगमन तत्वपदार्थ-विवेचन, सगुणनिर्गुणसाधन का निरूपण है । फलाध्याय नामक चतुर्थ अध्याय है । सगुण एवं निर्गुण-विद्या के फलों का पूर्ण विवेचन है ।

ब्रह्म-सूत्र की आध्यात्मिक मान्यता के विषय में कुछ भी कहना अत्यन्त कठिन है । सूत्रों का स्वरूप समासशैली के कारण अस्पष्ट है कि सूत्रकार का अभीष्ट व्याख्यान क्या है, यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है । इस अस्पष्टता, दुरूहता एवं विविधार्थता के कारण ही तो विविध मतो के व्याख्यान प्रवृत्त हो सके ।

१. गौड़पाद माडूक्य कारिका २।३१३
'स्वप्नप्रमाणे यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥'
२. वही, ४।१६—'आदावन्ते यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा ।'
३. वही, ४।५—'ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।'
४. वही, १।१६
'अनादिमायया सुप्तो यदा जीव. प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥'
५. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४०२.

सारा जगत् इसी पर आधारित है। शंकर के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषद्-प्रतिपाद्य है। 'आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझने के लिए दो प्रकार के लक्षण माने हैं। स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण। यदि किसी वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को समझना हो, तो उसके अनवच्छिन्न एवं अविभाज्य रूप को द्योतित करने वाले प्रयोग उस वस्तु के स्वरूप-विश्लेषण संकेत हैं। जो आगन्तुक गुणों को संसूचित करते हैं, वे तटस्थ लक्षण हैं। इस प्रकार उभयविध लक्षण स्वीकार करके शंकर ने उन समस्त श्रुति-वाक्यों का समाधान खोज लिया है जो प्रयत्न करने पर भी ब्रह्म की अनन्य स्थिति का प्रतिपादन नहीं कर पाते। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' यह ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है।[1]

ब्रह्म की सत्ता अखण्ड है। मन, वाणी आदि इन्द्रियों से, यह तत्व, देश, काल आदि मर्यादाओं से अमर्यादित है।[2] उसका सही व्याख्यान 'नेति', 'नेति' ही हो सकता है। वह सच्चिदानन्द है। अपने मूल रूप से कभी भी व्यभिचरित न होने के कारण सत् है, चैतन्यात्मक है। उसी के आभास से सभी कुछ आभासित होता है।

ईश्वर—माया के द्वारा आवृत्त होने पर उक्त ब्रह्म ईश्वर या सविशेष रूप प्राप्त करता है। उपनिषद् का अनुसरण करते हुए ब्रह्म और ईश्वर का यही भेद स्वीकार किया गया है। अपर ब्रह्म भी इसी को कहा गया है।[3] विश्व का आधार यही तत्व है। यद्यपि यह तत्व आत्यन्तिक नहीं है। पारमार्थिक भी नहीं है। किन्तु उसकी अवास्तविकता भी तभी समझी जा सकती है जबकि प्रातिभासिक स्तर से मुक्त होकर साधक तुरीयावस्था की ओर उन्मुख हो सके। सृष्टि का हेतु भी यही है। भक्ति एवं उपासना ईश्वर को ही उद्दिष्ट करके होती है। ब्रह्म का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। अज्ञान-समष्टि से उपहित-चैतन्य को, इस मत में, ईश्वर माना है। चैतन्यात्मक होने के कारण इसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है। अतः उसकी सिद्धि के लिए न्याय के समान किसी अनुमान का उपयोग अनावश्यक है। श्रुतियों में उसके यथार्थ रूप का उल्लेख प्राप्त होता है। न्याय ईश्वर को जगत का केवल निमित्त कारण कहता है जबकि अद्वैत वेदान्त ने निमित्त और उपादान दोनों कारण के रूप में स्वीकार किया है। भोक्ता और भोग्य के ऐक्य होने पर भी प्रतीयमान भेद व्यावहारिक मात्र है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं की मान्यता इन तीनों स्थिति में स्वीकृत

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४२०.

२. सदानन्द, वेदान्तसार, १।१.
'अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।'

३. छन्दोग्य उपनिषद्, ६।१।२; मुण्डक उपनिषद्, ३।१।३;
प्रश्न उपनिषद्, ६।३।४; शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२२; वही, २।१।२.

वाचस्पति मिश्र, चित्सुखाचार्य, मधुसूदन सरस्वती, अप्पयदीक्षित आदि विद्वानों ने अपनी विलक्षण विद्वत्तापूर्ण कृतियों से निरन्तर उपबृंहित किया। परवर्ती विचारकों में ब्रह्म का स्वरूप, जीव के साथ सम्बन्ध तथा उसकी सर्वातिशयता पर आधारित अनेक उपमत बन गए। प्रकाशात्मयति के अपेक्षाकृत कम निरंकुश तथा उदार दृष्टिकोण से विरचित 'विवरण' पर आधारित 'विवरण-प्रस्थान' बना। दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र की रचना 'भामती' पर आधारित 'भामती-प्रस्थान' प्रवर्तित हुआ।

शांकर वेदान्त के अनुसार आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान उसका धर्म नहीं है। अतः ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के भेद को स्वीकार करना अनुचित है।[1] ज्ञाता का स्वरूप ही जब ज्ञान है तो फिर भिन्नता कैसी ? यही कारण है कि वह निरपेक्ष है। निरपेक्ष वस्तु की सत्ता स्वतः सिद्ध होती है।[2] सत्ता और बोध मे कोई अन्तर नहीं है।[3] अत: आत्मा की सत्ता ज्ञाता-ज्ञेय की अभेद-प्रतिपत्ति के साथ उसके स्वप्रकाशकत्व को भी प्रमाणित करती है।[4] अनुभूति को अपना बोध कराने के लिए किसी अन्य तत्व की आवश्यकता नहीं है।[5] सामान्य जड़ पदार्थ तो बिना किसी के सहारे के बोध्य नहीं होते, यह स्थिति आत्मा के साथ नहीं है।[6] जो स्वयं ज्ञाता है उसे किसी के द्वारा ज्ञात होने की अपेक्षा नहीं है। दीपशिखा अन्य प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करती है; किन्तु उसे प्रकाशित करने के लिए अन्य किसी प्रकाशक तत्व की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान दो प्रकार का माना गया है। एक नित्य, दूसरा अनित्य; अनित्य क्षणावसायी है, नित्य चिरन्तन होने से आत्मा का स्वरूप है।

ब्रह्म—जिस प्रकार शून्यवादी बौद्धों ने शून्य को चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त माना है, वैसे ही शंकर ने ब्रह्म को एकमात्र अन्तिम सत्य माना है। परमार्थतः सत्ता केवल ब्रह्म की ही है।

१. शंकराचार्य, केनोपनिषद्भाष्य, १।३.
   'यो हि ज्ञाता स एव सः सर्वात्मकत्वात् ?'
२. वही, १।३
   'यद्ध्यनपेक्ष तत्स्वत एव सिद्धम्।'
३. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, ३।२।२१
   'सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता।'
४. वही, १।१।१
   'सर्वो हि आत्मास्तित्व प्रत्येति न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।'
५. तत्वदीपिका, पृ० ११
   'अनुभूतिः स्वयप्रकाशा, अनुभूतित्वाद् यन्नैव तन्नैव यथा घटः इत्यनुमानम्।'
६. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।२।२८, 'स्वयसिद्धस्य साक्षिणो प्रत्याख्येयत्वात्।'

अज्ञान—ईश्वर और जीव, ब्रह्म के ही अंश हैं। अन्ततः तुरीयावस्था में केवल ऐकात्म्य ही रहता है। इस भेदात्मक ज्ञान का आधार अज्ञान है। यह चित् से विरुद्ध, भावात्मक, अनिर्वचनीय, जड़ है। आवरण एवं विक्षेपशक्ति के द्वारा जगत् की सृष्टि इसी से होती है।[1] जैसे रज्जु में होने वाली सर्पप्रतीति में अन्धकार ने पहले रज्जु को आवृत किया तदनन्तर सर्प की उसमें उद्भावना की। उसी प्रकार चित तत्व को, वस्तु को, आवृत करके अज्ञान, अवस्तु का, प्रपंच का, उद्भावन करता है। अज्ञान की इन दोनों शक्तियों के कारण वस्तुतथता का ज्ञान नहीं हो पाता।

अज्ञान का सत् एवं असत् इन दोनों विकल्पों में अभिधान न कर पाने के कारण, यह अनिर्वचनीय है।[2] कार्य और कारण के सम्बन्ध के प्रसंग में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें से विवर्तवाद भी एक मत है। इसका अभिप्राय है कि वस्तु के मूल रूप में परिवर्तन न होने पर भी परिवर्तित रूप में प्रतीत होना विवर्त है। रज्जु सर्प में परिवर्तित न होकर परिवर्तित रूप में ज्ञात होती है। जगत् की प्रतीति के मूल में यही है। इसी के कारण ईश्वर, जीव एवं ब्रह्म का पार्थक्य आभासित होता है। इसी के कारण अनेक विचारक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को आत्मा कहते हैं। द्रष्टा और दृश्य का प्रतीयमान भेद इसी के कारण है। वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है।[3] मूल तत्व तो चिद्रूप है। इस अज्ञान अथवा अविद्या का निरस्तीकरण पारमार्थिक ज्ञान से होता है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है।[4]

जगत्—जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ है, वही स्थिति ईश्वर की है।[5] जगत् इन्द्रजाल के निर्मित अर्थ के समान है। इन्द्रजाल से व्यामोहित न होने वाले व्यक्ति के लिए उसकी कोई स्थिति नहीं है। वैसे ही परमार्थ ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त उसकी कोई स्थिति नहीं है।

---

१. सदानन्द, वेदान्तसार पृ० १५.

२. इष्टसिद्धि, ८।१८.
'अनिर्वाच्योऽप्यबोधः सृक्सर्पविद्दह्यते धिया।
न्यायाघातासहिष्णुत्वमविद्या लक्षणं यतः॥'

३. ब्रह्मसिद्धिः, पृ० ७
'एकत्वमेवायं द्रष्टदृश्यभावोऽवकल्पते, द्रष्टुरेव चिदात्मनः तथा तथा विपरिणामाद्, विवर्तनाद्वा, नानात्वे तु विविक्तस्वभावयोर-ससृष्टपरस्परस्वरूपयोरसम्बद्धयो कीदृशो दृष्टृदृश्यभावः।'

४. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।२।६
'न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धिरुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवत्'

५. दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, श्लोक २
'मायावीव विजृम्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया।'

स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य ईश्वर ही है यद्यपि उसे विविध संज्ञाओं से अभिहित किया गया है ।[१]

जीवात्मा—अज्ञानोपहित होने पर ही ईश्वर एवं जीव, ये व्यपदेश प्राप्त होते हैं । समष्टिगत दृष्टि से ईश्वर एवं व्यष्टिगत दृष्टि से जीव, चैतन्य को ही कहा है । देहेन्द्रियादि नियन्ता, कर्मफल-सम्बन्धी जीव ही है ।[२] वही सुख-दुःखादि भोग का भोक्ता है । श्रुति के आत्मोत्पत्ति-विषयक उल्लेखों को, अद्वैत ने जीवादि संज्ञक-रूप धारण करने से सम्बद्ध माना है । शरीरादि उपाधियों के कारण ही उसके जन्मादि का कथन होता है; अन्यथा आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभावादि है । व्यष्टिगत कारण शरीर से उपहित चैतन्य को प्राज्ञ, सूक्ष्मशरीरोपहित चैतन्य को तैजस एवं स्थूलशरीरोपहित चैतन्य को विश्व कहा गया है । जीव की वृत्तियाँ दो प्रकार की होती है । बाह्य विषय-प्रकाश में बहिर्मुखी एवं अहं प्रत्यय-सम्पादिका होने पर अन्तर्मुखी होती हैं । इसी जीव के बाह्य-विषय एवं ज्ञाता यह दो भेद व्यावहारिक एवं भ्रान्ति-जन्य हैं । भ्रान्ति का निरास होकर सत्य-ज्ञान की उपलब्धि होती है । याथार्थ्य का बोध होते ही यह सम्पूर्णभ्रमात्मिका प्रतीति तिरोहित हो जाती है; तथा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का भेद भी मिट जाता है । तभी मोक्ष प्राप्त होता है ।[३] यद्यपि यह मोक्ष और बन्ध सभी व्यावहारिक मात्र ही हैं । भ्रमजनित हैं । वस्तुतः ब्रह्म और जीव भिन्न नही हैं ।[४] इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति अवस्था मे समष्टि एव व्यष्टि से उपहित चैतन्य मे वस्तुतः कोई अन्तर नही है । वे सभी एक ही चैतन्य के उपाधिकृत रूप हैं । जीवेश्वर भेद माया के कारण हैं ।[५] अन्तर केवल इतना है कि ईश्वर के अधीन माया है, जबकि जीव माया के अधीन है ।[६] इसलिए पारमार्थिक रूप से मिथ्या, मोक्ष एव बन्ध को मानने वाले अज्ञ हैं ।[७]

---

१. सदानन्द, वेदान्तसार, पृ० ८.

२. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।३।१७
'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपंजराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी ।'

३. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१।४; १।२।६.

४. मंडन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, २।३२
'एकस्यैवास्तु महिमा यन्नानेव प्रकाशते ।'

५. सुरेश्वर, नैष्कर्म्य सिद्धि, पृ० २३
'नहि मायायामसम्भावनीयं नाम । असम्भावनीयावभासचतुरा सा ।'

६. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।९.

७. शंकराचार्य, गीताभाष्य, १३।२.

किया है।[1] अतः लगभग ८०० ईस्वी भास्कर के समय की ऊपरी सीमा है। न्याय-कुसमांजलिकार उदयन ने उसे वेदान्त का व्याख्याता तथा त्रिदण्डि-ब्राह्मण माना है। उदयन का समय लगभग १००० ईस्वी है। रामानुज (१०१७ से ११३९ तक) ने भी भास्कर के मत का खण्डन किया है। अतः आठवीं सदी से तथा ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ को उसके समय की दोनों सीमाएं मान सकते हैं। विंध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी ने न्यायकुसुमांजलि में 'त्रिदण्डि' पद को महत्त्व देते हुए प्रमाणित किया कि रामानुज के पूर्ववर्ती ब्रह्मसूत्र के व्याख्याताओं को त्रिदण्डि कहा गया है।[2] साथ ही भास्कर कहीं पर भी रामानुज का उल्लेख नहीं करते। अतः रामानुज एवं उदयन से वह पूर्ववर्ती अवश्य होगा। अप्पयदीक्षित ने तत्व-विवेक में उसका उल्लेख भाष्यकार के रूप में किया है। वाचस्पति मिश्र (८४१ ईस्वी) ने भी अप्रत्यक्ष रूप से उसे सन्दर्भित किया है। अतः उसका समय ९वीं सदी का प्रारम्भ होना चाहिए।[3] भास्कर ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना की। छान्दोग्य उपनिषद् पर भी सम्भवतः उसने कोई टीका लिखी थी,[4] जो अब अप्राप्य है।

ब्रह्म—भास्कर के भेद और अभेद का आधार ब्रह्म का स्वरूप ही है। ब्रह्म अनन्त शक्तिसम्पन्न है। अपनी इसी शक्ति के कारण वह अपने-आपको तीन रूपों में परिवर्तित करता है। उसकी यह बहुलता 'एकोऽहं बहुस्याम' की कामना के कारण है। कारणात्मिका अवस्था में अभिन्न तथा कार्य की अवस्था में वह भिन्न है।[5] वह परिणमन करता है। परमात्मा ही आत्माओं के प्रति कारण के रूप में रहता है।[6] जिस प्रकार दुग्ध का दधि में परिवर्तन होता है वैसे ही ब्रह्म का परिणाम होता है। इच्छा, ज्ञान एवं अपनी सर्वशक्तिमत्ता से यह परिवर्तन सम्भव होता है। वह खण्डरहित है। जगत् और जीव के रूप में परिवर्तित होने पर भी उसमें किसी

---

१. भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२५
'विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिकबुद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति।'

२. डा० एस० एन० दास गुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृ० १.

३. पी० एन० श्री निवासचारी—'द फिलासफी आफ भेदाभेद', पृ० ५.

४. भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२१; ४।३।१४.

५. वही, १।१।४
'कार्यरूपेण नानात्वं अभेदः कारणात्मना।'

६. वही, १।४।२५
'कथं पुनः आत्मनः कारणं सम्भवति इत्याह परिणामात् इति परमात्मा स्वयमात्मनां कार्यत्वेन परिणामयामास।'

जगत् तथा उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण व्यवहार 'ब्रह्मात्म' बोध तक ही है।[1] यह अज्ञान द्वारा निर्मित है। अद्वैत वेदान्त की सृष्टि-प्रक्रिया, जो केवल व्यावहारिक स्तर पर ही है, सांख्य मतानुकूल है।

भेदाभेदवाद—शंकर के उपरान्त प्रचलित होने वाले, अपेक्षाकृत यथार्थवादी मतों मे भास्कर का ग्रन्थ साम्प्रदायिक नही है। न तो वह शंकर का ही समर्थन करता है और न ही पांचरात्र संहिताओं मे वर्णित विष्णु-तन्त्र का।[2] वेदान्त दर्शन के विकास मे विचार-क्रम को शंकर से रामानुज तक आने का मार्ग, भास्कर द्वारा प्रशस्त किया गया। उक्त मत के संक्रमण-काल का प्रतिनिधित्व भास्कर के मत मे मिलता है।[3] भास्कर तथा यादवप्रकाश अद्वैत वेदान्त के प्रथम विरोधी तथा अन्य वेदान्त सम्प्रदाय के उपमतो के प्रेरक आचार्य हैं। निम्बार्क का स्वाभाविक भेदाभेद चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेद स्पष्ट रूप से इनके प्रभाव को व्यक्त करता है। विशिष्टाद्वैत मत मे भी यादवप्रकाश को पूर्वाचार्य माना गया है। इन दोनो के विचारो का यदि तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जावे तो यादव अधिक आदर्शवादी प्रतीत होते हैं। यादव चित् तथा अचित् मे भेद नही मानते। सभी की चैतन्यात्मकता उन्हे ग्राह्य है।[4] भास्कर दोनों की भिन्नता स्वीकार करते है।

भास्कर का समय विविध उल्लेखो के आधार पर केवल अनुमान का विषय है। उसके भाष्य मे प्रत्यक्षतः जीवनी एवं समय-सम्बन्धी कोई भी सन्दर्भ प्राप्त नही होता। शंकराचार्य का खण्डन भास्कर ने किया है।[5] मायावाद का शब्दशः उल्लेख करके उसे बुद्ध महायान का अनुयायी मानकर उसके प्रति आक्रोश व्यक्त

---

१. शंकराचार्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।१४
'सर्वव्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्य प्राक् प्रबोधात्। तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मताप्रतिबोधात् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः।'

२. डा० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६७०.

३. पी० एन श्रीनिवासचारी, द फिलासफी आफ भेदाभेद, पृ० ७.

४. सुदर्शनाचार्य, तात्पर्यदीपिका, १।२।५
'यादवप्रकाशमते सर्वमपि चैतन्यमेव; तत्र घटादेश्चैतन्य अनभिव्यक्तिमात्रमेवेति न चिदचिद्विभागः।'

५. भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, भूमिका, श्लोक
'सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्राय प्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥'

है कि ईश्वर से एक होते हुए भी अज्ञान के कारण पृथक् होकर इच्छा और कर्म अनादि काल से करते चले आ रहे हैं।[1] जीवात्मा हृदय में स्थित है। अविद्या के कारण ही अणुपरिमाण का है। ईश्वर से अभिन्न होने के कारण पारमार्थिक रूप में वह अणु-परिमाण का नहीं है। बुद्धि, अहंकार, पंचेन्द्रिय तथा पंचप्राण इसके पुनर्जन्म के हेतु हैं। बुद्धि आदि का सम्बन्ध जीव का अनिवार्य स्वरूप नहीं है, परिणामतः जब तक सम्बन्ध है तब तक जीव का स्वरूप सत्य है; किन्तु इसका अन्तिम आधार ईश्वर है। ईश्वर ही उससे सत्कर्म कराता है तथा उसके अन्दर स्थित होकर नियंत्रण करता है। शरीर में स्थित जीव सारे शरीर को ठीक वैसे ही नियन्त्रित करता है, जैसे एक स्थान पर रखा चन्दन का विन्दु पूरे अङ्ग को सुवासित कर देता है। जीव कर्म के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।[2] जीवों में भी परस्पर भिन्नता है। यही कारण है कि एक के मुक्त होने पर दूसरा मुक्त नहीं होता।[3]

जड़ जगत्—ब्रह्म की भोग्य शक्ति का परिणाम जगत् है। ब्रह्म के परिणाम के रूप में जगत् को मानने के मूल में सम्भवतः उसकी आध्यात्मिक स्थिति प्रमाणित करता है। जिस प्रकार नमक पानी में विलीन हो जाता है वैसे ही ब्रह्म में जगत् भी विलीन हो जाता है।[4] भास्कर वेद को आत्यन्तिक रूप में सत् मानते हैं, अतः उसी के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया को उसने स्वीकार किया है। जीव और जगत् दोनों मिलकर प्रपंच का निर्माण करते हैं। ब्रह्म से जगत् भिन्न है, इसीलिए कि वह अपृथक रूप में दिखाई देता है, किन्तु कारणत्वेन वह एक है। छान्दोग्य उपनिषद् की सद्विद्या भास्कर की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यता का आधार है।[5] शंकर का विवर्तवाद,[6] सांख्य का सत्कार्यवाद,[7] तथा वैशेषिकों का असत्कार्यवाद ग्राह्य न मानकर भास्कर ने कार्य

---

१. भास्कर, ब्रह्मसूत्र भाष्य १।४।२१.
२. वही, ३।४।२६.
३. वही, १।४।१०
   'जीवानां परस्परं भेद एव, परमात्मना च अभेद, फेनतरंगादिनामिव, सत्येवमेकस्मिन् मुक्ते परो न मुच्यते इत्युपपद्यते बन्ध मोक्ष व्यवस्था।'
४. वही, २।२।११.
५. छान्दोग्य उपनिषद्, ६।२.
६. सदानन्द, वेदान्तसार, पृ० ४३
   'अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः।'
७. ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, ९
   'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥'

प्रकार की दुर्बलता नहीं आती। अभिव्यक्ति के उपरान्त भी ब्रह्म अपरिवर्तनीय रहता है। शुद्ध चैतन्य का वह अपृथक् रूप न होकर सभी पूर्णताओं से युक्त है।[1] उसकी दो प्रकार की शक्तियां हैं। भोग्य एवं भोक्तृ शक्ति। भोग्य शक्ति के द्वारा वह अपने-आपको जगत् के रूप मे, एवं भोक्तृशक्ति के द्वारा जीव के रूप में परिणमित करता है। ईश्वर अथवा ब्रह्म एवं जीव में स्वरूपगत अन्तर ब्रह्मसूत्र मे माना गया है। सूत्रकार ब्रह्म को सृष्टि का स्वामी एवं जीव को संसारी मानते है। शंकर की मान्यता, कि ईश्वर भी ससारी है, श्रुति के विरुद्ध प्रमाणित सिद्ध होती है। वह ससारी न होकर मूल कारण है तथा समग्र सृष्टि का स्वामी है। सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध तथा जैन विचारकों की मान्यताओं के विपरीत, भास्कर ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान कारण मानते हैं। साथ ही भास्कर कार्यभूत जगत् को ब्रह्म से अभिन्न न मानते हुए, उसे सर्वथा अचेतन स्वीकार करते हैं। रामानुज अथवा यादवप्रकाश के समान जड़ की चेतन ब्रह्म के साथ एकरूपता नही है।[2]

जीव—ब्रह्म की भोक्तृशक्ति का परिणाम जीव है। किन्तु शकर के समान यह उससे अभिन्न न होकर भिन्न है। क्योंकि परिणाम अथवा कार्य के रूप मे प्राप्त यह सभी से भिन्न है। जगत् भी ब्रह्म से भिन्न है तथा वे दोनो एक-दूसरे से भिन्न हैं। जैसे अग्नि की दाहकता तथा प्रकाशकता दोनों परस्पर भिन्न है, किन्तु कारण-रूपा अग्नि एक ही है। उसी प्रकार से भिन्न परिणामों को परिणमित करने वाला कारण रूप ब्रह्म अभिन्न है, एक है। जीव ब्रह्म का परिणाम होने के कारण उससे भिन्न है किन्तु उसमें अभेद नामक धर्म भी है जो उसकी अभिन्नता की ओर सकेत करता है। जिस प्रकार एकमेव महोदधितरगादि के रूप मे भेदात्मक हो जाता है। वैसी ही स्थिति ब्रह्म एव जीव की है।[3] जीव मे मूलतः चेतना है, किन्तु उस चेतनता का बोध ज्ञेयत्व के द्वारा ही होता है परिणामतः अपनी स्थिति के लिए उसे विषयों पर आधारित रहना पड़ता है।[4] वस्तुतः जीव ईश्वर से पृथक् नही है। अग्नि और उसके स्फुलिंग के समान उनमें अंशांशिभाव सम्बन्ध है। इन अंशों की ही यह विशेषता

---

१. डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६७०.

२. पी० एन० श्रीनिवासाचारी, द फिलासफी आफ भेदाभेद, पृ० २६-३०.

३. भास्कर, ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।१८
'अभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदाः स एव तरंगाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते, न हि तरंगादयः पाषाणादिषु दृश्यन्ते, तस्यैव ताः शक्तयः, शक्ति-शक्तिमतोश्चानन्यत्वमन्यत्वोपलक्ष्यते यथा अग्नेर्दहनप्रकाशनादिशक्तयः...... तस्मात्सर्वमेकानेकात्मकं नात्यन्तं अभिन्नं भिन्नं वा।'

४. वही, २।३।१८.

दर्शन का आधार है।[1] शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा रामायण आदि में भी विष्णु के स्वरूप का वर्णन है। भागवत मत का आधार अत्यन्त प्राचीन है।[2] इसी से वैष्णवमत का विकास हुआ है। यह मत भगवान से विष्णु का एकत्व मानता है। पांचरात्र संहिताओं के वर्ग को भी सभी वैष्णव मत के विद्वान् विश्वसनीय आधार मानते हैं। रामानुज ने अपनी अनेक मान्यताओं को इसी से ग्रहण किया है। पुराणों में विष्णु-पुराण भी प्रमुख स्रोत है।

इस ग्रन्थ-राशि के उपरान्त दक्षिण भारत के आल्वार सन्तों का योगदान अत्यन्त महनीय है। इन सन्तकवियों ने भक्ति-भावना से परिपूर्ण स्तोत्रों की रचना करके वैष्णव-मत की स्पष्ट स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया।[3] परवर्ती विद्वानों ने इन ग्रन्थों को संस्कृत ग्रन्थों के समान श्रेष्ठ माना है। इन सन्तों ने विष्णु के रहस्यात्मक स्वरूप की भक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति की है। इस तमिल साहित्य के साथ-साथ प्रस्थान-त्रयी का भी ग्रहण करने के कारण ये उभय वेदान्ती के नाम से अभिहित किए जाते हैं।[४] रामानुज के पूर्ववर्ती आचार्यों में निम्नलिखित नाम शंकर तथा रामानुज ने अपने भाष्यों में उद्धृत किए हैं।[५] 'बोधायन, टंक, द्रविड़,[६] गुहदेव, कपर्दिन तथा भारुचि।'[७] संस्कृत भाषा में विष्णुभक्ति का प्रचार करने वालों को आचार्य कहा जाता था।[८] आलवार सन्त शठकोप की शिष्य-परम्परा में रंगनाथमुनि (८२४-९२४) तमिल वेद के

1. Dr. S. N. Dasgupta—A History of Indian philosophy, vol. III. P. 482.
2. Dr. S. Radhakrishnan—"We have also in the Vedas the conception of God Bhaga, who is a bestower of auspicious blessings......... The religion in which Bhagawan (or Bhagavat) is the object of worship is Bhagavatim." Indian Philosophy Vol. II. P. 667.
3. Ibid—"Alvaras are the most ancient Vaisnava poetsaints of south who with their Tamil hymns full of intense devotion loye for visnu, sang the mystic glory of the God. Vol. III. P. 483.

४. डा० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६६८.
५. वही, भाग २, पृ० ६६८.
६. आनन्दगिरि, छान्दोग्यउपनिषद्शांकरभाष्यटीका, ३। १०। ४.
७. वेदार्थसंग्रह, पृ० ५.
८. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ०४३२.

में अन्तर है। तिंगल शरणागत हो जाने पर ईश्वर के द्वारा ही उद्धार को मानते हैं, अतः शरणागति के लिए कर्मादि की आवश्यकता नहीं मानते। किन्तु वडगल मत में प्रपत्ति की प्राप्ति के लिए कर्मों की अनिवार्यता है। तिंगलमत के संस्थापक लोकाचार्य (१३०० ईस्वी) ने वचन-भूपण में उक्त मत की स्थापना की है। वडगल वर्ग का प्रारम्भ वेंकटनाथ (१२६६-१३६६ ई०) ने किया। यह वेदान्तदेशिक के नाम से भी प्रख्यात है। रामानुज सम्प्रदाय में इस आचार्य के समान विविध प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व नहीं हुआ। इसने संकल्पसूर्योदय, हंसदूत, रामाभ्युदय, यादवाभ्युदय, पादुकासहस्र आदि का काव्यग्रन्थ तथा श्रीभाष्य की टीका, तत्वटीका, अधिकरणसारावली, तत्वमुक्ता-कलाप, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाजन, गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका, ईशावास्यभाष्य, द्रविड़ोपनिषद्तात्पर्यरत्नावली, शतदूपणी आदि अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। वरवरमुनि ने द्रविड़ ग्रन्थों का विस्तृत व्याख्यान किया है। श्रीनिवासा-चार्य (१७०० ई०), अप्पयदीक्षित तथा रंगरामानुज (१८०० ई०) आदि अन्य प्रसिद्ध आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत साहित्य की विपुल श्रीवृद्धि की है। इस सम्प्रदाय का परवर्ती विचारकों वल्लभ, मध्व, चैतन्य, कवीर, नानक आदि पर वहुत अधिक प्रभाव पड़ा।[1]

शंकर ने गौड़पाद का अनुसरण करते हुए उत्तरमीमांसा के व्याख्यान में अत्यधिक आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय दिया। किन्तु शंकर की वह दृष्टि किसी भी परवर्ती वैष्णव विचारकों को अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व तथा चैतन्य आदि ब्रह्म, जीव तथा जगत् के परस्पर सम्बन्ध के विषय में वैसी अतिशायिनी दृष्टि का विनियोग नहीं करते। शंकर के अनुसार व्यक्ति की व्यक्तिगत सत्ता की सम्पूर्ण समाप्ति करके अतल गम्भीर समुद्र में विलिन हो जाना ही उसकी रक्षा के लिए आवश्यक है।[2] किन्तु रामानुज के अनुसार किसी भी अनुभव की सत्ता तब तक व्यर्थ है जब तक कि विपयी की सत्ता न मानी जाय। जीव अथवा विषयी की यह सम्पूर्ण तदा-कारता, जिसमें वैयक्तिक आत्मबोध का सर्वथा अभाव है, किसी भी व्यावहारिक आचार्य को रुचिकर नहीं लग सकती। जगत् को ईश्वर के अधीन स्वीकार करना, रामानुज की दृष्टि में अधिक संगत है, अपेक्षाकृत मिथ्यात्व के। आचारशास्त्र के प्रति शंकर की उपेक्षा, शाब्दिक ज्ञान का व्यावहारिक ज्ञान की तुलना में महत्व[3] तथा भक्ति

1. Dr. S. Radhakrishnan—"The movement of Madhva, vallabha, Chaitanya, Ramanand, Kabir and Nanak and the reforms organisation of Bramhoism are largly indebted to Ramanuja's Theistic idealism." 'Indian Philosophy, Vol. II. P. 670.
२. वही, भाग २, पृ० ६५६.
३. तत्वमुक्ताकलाप
'वाक्यार्थज्ञानमात्रादमृतमिति।'

उद्धारक आचार्य ने 'योग-रहस्य' तथा 'न्यायतत्व' नामक विशिष्टाद्वैत मत के ग्रन्थों की रचना की है। नवम् सदी के भेदाभेदवादी भास्कर का प्रभाव भी रामानुज पर पड़ा है। यामुनाचार्य (९३७ ई०) श्रीरंगम् के आचार्य ने गीतार्थसंग्रह, श्रीचतुःश्लोकी, सिद्धित्रय, महापुरुषनिर्णय, आगमप्रामाण्य तथा आलवन्दारस्तोत्र की रचना की। भक्ति-भावना की दृष्टि से आलवन्दार स्तोत्र की अत्यधिक प्रख्याति है।

रामानुज का व्यक्तित्व वैष्णव-मत के आचार्यों में सर्वाधिक प्रभावशाली एवं वैदुष्यपूर्ण है। इनका समय १०२७ से ११३७ ई० है। इन्होंने वेदार्थसंग्रह, वेदान्तसार, गद्य-त्रय, गीताभाष्य तथा श्रीभाष्य की रचना की। रामानुज के गुरु यादव प्रकाश ने ब्रह्म-परिणामवाद की स्थापना करते हुए ब्रह्मसूत्र पर स्वतन्त्र-भाष्य लिखा था। रामानुज ने यादव-प्रकाश के पास ही अध्ययन किया, किन्तु उनके सभी विचारों से सहमत न होने के कारण उन्होंने नये मत की स्थापना की। यादवप्रकाश की दृष्टि में भेद और अभेद दोनों ही वास्तव हैं[1] यादवप्रकाश का मत भास्कर तथा रामानुज दोनों से भिन्न तथा परिणाम की स्थिरता एवं सत्ता पर अधिक महत्त्व देता है। रामानुज ने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में अधिक संयत तथा दार्शनिक दृष्टि ग्रहण की है।[2] उन्होंने वैष्णव सन्तों के विश्वास को लेकर उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के माध्यम से, अपने ग्रन्थों में नवीन मत का निर्माण किया है।[3] सुदर्शनसूरि (१२००-१२७५ ई०) ने रामानुज के भाष्यम पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीकाएं लिखीं। रामानुज भाष्य पर श्रुति-प्रकाशिका तथा श्रुतिदीपिका, उपनिषद्व्याख्या, वेदार्थसंग्रह की टीका, तात्पर्य-दीपिका एवं भागवत पर शुकपक्षीय टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है। १३वीं सदी ई०, रामानुज से १५० वर्ष उपरान्त उक्त श्रीसम्प्रदाय में दो मत हो गए। तिंगल एवं बडगल। इस वर्गीकरण का मूल आधार मोक्ष-सम्बन्धी धारणा थी। तिंगल तमिल-ग्रन्थों को ही प्रधानता स्वीकार करते थे, जबकि बडगल तमिल के साथ-साथ संस्कृत भाषा के श्रुति-साहित्य को भी महत्त्व देते थे। इनमें परस्पर सैद्धान्तिक भेद भी हैं।[4] उदाहरण के लिए तिंगल दोष-भोग्य—अर्थात् ईश्वर को पाप का भोग करना होता है—मानते हैं[5] जबकि बडगल इसे स्वीकार नहीं करते। प्रपत्ति के स्वरूप में भी दोनों

---

1. Dr. S. Radhakrishnan—Indian Philosophy, vol. II. P. 671.
2. Ibid—"Ramanujas faith is more philosophical and restrained *than that of some of his predecessores as wellas successor.*" Vol. II. P. 669.
3. Ibid—vol. II. P. 668.
४. गोविन्दाचार्य स्वामी, अष्टादशभेदाज, जे० आर० ए० एस० १९१०.
५. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ४६४.

नानास्ति किंचन' आदि का अर्थ है कि ब्रह्म से भिन्न अर्थात् आत्यन्तिक एवं सर्वथा स्वतन्त्र अन्य कोई तत्व नहीं है। अर्थात् सजातीय विजातीय भेद नहीं है।[1] किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ब्रह्म में स्वगत भेद नहीं है। ईश्वर विना कारण के है। उससे भिन्न सभी वस्तुओं का कोई कारण अवश्य है। विष्णु ही ब्रह्म है, तथा शिव एवं ब्रह्मा भी उससे अभिन्न हैं। सभी श्रेष्ठ गुणों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि वे सीमित मन आदि के अन्तर्गत नहीं आ पाते। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का रामानुज-सम्मत व्याख्यान है कि अनेक विशेषणों का समानाधिकरण्य से एक विशेष्य में रहना। अर्थात् ब्रह्म के साथ जीव एवं जड़ विशेषण के रूप में—शरीर के रूप में—सम्बद्ध है।[2] कारण एवं कार्य इन दो रूपों में ईश्वर है।[3] सृष्टि ब्रह्म की कार्यावस्था एवं प्रलय कारणावस्था है। वह अन्तर्यामी है। स्वयं अपरिवर्तनीय होते हुए भी परिवर्तन करने वाला है। वह देहयुक्त है किन्तु देहयुक्तता बन्ध का कारण नहीं है। नारायण अथवा वासुदेव की आद्यशक्ति लक्ष्मी, दया और शक्ति की प्रतीक हैं। शुद्ध-सत्व निर्मित वैकुण्ठ उनका आवास है। स्वामी के रूप में वासुदेव, बुद्धि एवं जीव का शासक संकर्षण, मनस्तत्व का शासक एव सृष्टिकर्ता प्रद्युम्न, अहंकार तत्व के शासक एवं जगत् के संरक्षक अनिरुद्ध आदि उसी के व्यूह हैं तथा ईश्वर के आंशिक रूप का परिचय देते हैं।[4] वही कर्मफल का स्वामी है। ईश्वर और जीव के सम्बन्ध को व्यक्त करते बताया गया है कि ईश्वर कर्म के अनुसार जीव को फल देता है। साथ ही यह भी माना गया कि जीव ईश्वर के अधीन है किन्तु ईश्वर का यह नियन्त्रण भी स्वतन्त्र नहीं है, कर्म के ही अधीन है। इसलिए इस नियन्त्रण की प्रबलता के लिए सम्भवतः रामानुज ने ईश्वर जीव को कर्मों के प्रति प्रेरित करने वाला है, यह माना है।[5] ईश्वर में स्थित प्रत्येक गुण यद्यपि परस्पर भिन्न प्रकार के हैं, तथापि उनकी यह विभिन्नता उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की असंगति उत्पन्न नहीं करते। ईश्वर के साथ उनका सम्बन्ध चिरन्तन एवं स्वाभाविक है।[6] वह अनिवार्य विशेषताओं के साथ अन्य आधारित विषयों का भी आश्रय है।[7] भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरक, स्वरूप-

१. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६७७.
२. वेदार्थसारसंग्रह, पृ० ३२.
३. रामानुज, श्रीभाष्य, पृ० ८२.
'स्थूल सूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्।'
४. डा० सी० डी० शर्मा, इंडियन फिलासफी, पृ० ५०१.
५. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६९३.
६. रामानुज, श्रीभाष्य, २।१।१५.
७. रामानुज, रहस्यत्रयसार, ३.

की अग्राह्यता आदि ऐसे विचार हैं जिनके कारण रामानुज को अपने नवीन मत की स्थापना करनी पड़ी।[१]

ब्रह्म—रामानुज विशिष्ट-अद्वैत के समर्थक हैं। ब्रह्म विशेष्य है तथा विशेषण इसमे आश्रित है। चित् (जीव) तथा अचित् (जड़) विशेषण हैं ब्रह्म विशेष्य। उक्त दोनो का ब्रह्म आश्रयदाता, धारणकर्ता तथा नियामक है।[२] वे तत्वत्रयवादी है। ईश्वर सभी प्रकार के सजातीय एवं विजातीय के भेद से मुक्त होने पर भी स्वगत भेद-युक्त है। दैनिक व्यवहार मे यह सर्वसिद्ध है कि प्रत्येक वस्तु का ज्ञान बिना विशेषण के नही होता। अतः निर्विकल्पक तत्व की मान्यता स्वीकार न करके सविशेष ब्रह्म का ही ग्रहण उचित है।[३] श्रुतियों की अद्वयता से विशिष्ट की ही ओर सकेत है।[४] जीव और प्रकृति की आत्मा ईश्वर है। उक्त दोनों उसके शरीर हैं। आत्मा के द्वारा शरीर नियमतः धारण, विवेयन तथा उपभोग करने योग्य है तथा वह शेप है।[५] ये तीन तत्व सम्भवतः रामानुज ने श्वेताश्वतर उपनिषद् से लिए होंगे।[६] ब्रह्म सर्वज्ञ तथा सर्वशक्ति-सम्पन्न है। *किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा न होने के कारण सभी अनुभव उसी में* हैं। ज्ञान, शक्ति और करणा मे से करुणा के द्वारा ही उसने सृष्टि का निर्माण किया, नियम बनाए एवं पूर्णता के आकांक्षियो को सहारा दिया।[७] 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तथा अन्य श्रुतियां जिनमें गुण का निपेध किया गया है, उनका अभिप्राय अन्तयुक्त तथा मिथ्या गुणों का ही निपेध है न कि सभी का। भेद-विरोधी श्रुतिया जैसे 'नेह

---

१. डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६६१.

२. रामानुज, श्रीभाष्य, २।१।६
'सर्वं परमपुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे नियाम्य धार्यं तच्छेषतैकस्वरूपमिति सर्वं चेतना-चेतन शरीरम्।'

३. माधवाचार्य, सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४३
'सर्वप्रमाणस्य सविशेषतया निर्विशेपवस्तुनि न किमपि प्रमाण समस्ति।
निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेपमेव वस्तुः प्रतीयते।'

४. वेदान्ततत्वसार
'वस्त्वन्तर विशिष्टस्यैव अद्वितीयं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानी सिद्धत्वाद् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम्।'

५. रामानुज, श्रीभाष्य, २।१।६
'नियमेन आधेयत्वम् नियमेन विधेयत्वम् नियमेन शेपत्वम्।'

६. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १।१२
'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्म एतद्।'

७. डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६८३.

भिन्नता न होती तो फिर मोक्ष का कोई अर्थ नहीं रह जाता। बन्ध एवं मोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में उसका ज्ञातृत्व रूप अक्षुण्ण रहता है। क्रियाशील जीव कर्म-फल का भोक्ता है। शरीर से सम्बद्ध रहने तक ही वह कर्म से नियमित है। मुक्तावस्था में कामना मात्र से उसकी सम्पूर्ति हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य और प्रकाश का परस्पर अंशांशिभाव है वैसे ही जीव-ब्रह्म भिन्न होते हुए भी सम्बद्ध हैं। जीव की तुलना में ईश्वर ही एक ऐसा तत्व है जो सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाओं के परे है। ईश्वर जीव को उसके कर्मों के आधार पर फल देता है। ज्ञान की निर्विषयता रामानुज को प्रिय नहीं है। अतएव विषयी और विषय की सीमा-रेखा स्वीकार कर लेने के उपरान्त अर्थात् जीव की ज्ञाता के रूप में स्थिति मान लेने के उपरान्त ही वे ज्ञान की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं।

आत्मा अपने स्वरूप का अपने-आप प्रकाशक है।[1] जीव तीन प्रकार के हैं। नित्य, मुक्त तथा बद्ध। कर्म और प्रकृति से मुक्त वैकुण्ठ निवासी जीव नित्य हैं। अज्ञान के बन्धन से मोक्ष प्राप्त कर लेने वाले मुक्त जीव हैं तथा जो अज्ञान से बद्ध हैं, उनको बद्ध कहा गया है। बद्ध जीवों को भी चार रूपों में विभाजित किया गया है। देव, मानव, पशु तथा स्थावर। यद्यपि सभी जीवात्माओं में किसी भी प्रकार का तात्विक भेद नहीं है तथापि प्रतीयमान भेद केवल शरीरकृत ही है। अतः ऊपर कहे गए आत्माओं के न होकर, शरीर के ही हैं। जाति-प्रथा आदि के कारण स्वीकृत भेद भी केवल शरीर के कारण ही है। इस सम्प्रदाय में ऐसे भी आचार्य हुए हैं जो हीन-वंश में उत्पन्न हुए थे। ईश्वर के पार्षद मुक्त जीवों को वैकुण्ठ ले जाते हैं।[2] कर्म से जीव की आबद्धता का समाधान न तो तर्क से मिल सकता है और न श्रुति से, क्योंकि सृष्टि-प्रक्रिया तो अनादि है। जीव द्रव्य भी है तथा गुण भी। ब्रह्म के सम्बन्ध की दृष्टि से गुण तथा अपने शरीर के सम्बन्ध की दृष्टि से द्रव्य है। सृष्टि के समय अपने कर्म के अनुसार यह देह प्राप्त करता है। मुक्तावस्था में कर्म से स्वतंत्र हो जाने के कारण पुनः जन्म नहीं होता। ज्ञान आत्मा का आकस्मिक धर्म नहीं है। सुषुप्ति एवं मुक्ति में भी ज्ञान आत्मा में रहता है। स्वभावतः ज्ञान अनन्त और सर्वव्यापक है। बन्धावस्था में कर्म के कारण सीमित रहता है।[3] आनन्द भी जीव का अवयवीभूत-धर्म है। जीव का मोक्ष ज्ञानकर्मसमुच्चय के द्वारा होता है।

---

१. रामानुज, श्रीभाष्य, १।१।१
'अनुभूतित्वं नाम वर्तमानदशायाम् स्वसत्त्यैव स्वाश्रयं प्रति प्रकाशमानत्वं स्वसत्त्यैव स्वविषयसाधनत्वं वा।'

२. डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी भाग २, पृष्ठ ६९५.

३. डा० सी० डी० शर्मा, इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ ५०४.

भेद के कारण तीन हैं, जबकि विशिष्ट एवं विशेषण के आधार पर ऐक्य ही है। ऐक्य का अर्थ अपृथक् सिद्धि है।[1] सत्, चित्, तथा आनन्द ये तीन गुण ईश्वर को आकार एवं वैशिष्ट्य प्रदान करते है। सगुण ब्रह्म को रामानुज ने ग्रहण किया है। आत्मसमर्पणात्मक भक्ति की उपेक्षा करने वाला ब्रह्म किस काम का है ?[2] ब्रह्म ही आत्यन्तिक सत्ता है। जीव और जड़ उसके शरीर एवं विशेषण होने के कारण उसके अधीन हैं।

जीव—रामानुज का ब्रह्म विशेषणयुक्त है। उसकी विशेषणयुक्तता इसलिए ग्रहण की गई कि जीव और जड़ की भी व्यक्तिशः आत्यन्तिक रूप मे सिद्धि हो सके। ब्रह्म का अश होने पर भी जीवात्मा सत्य है। वह एक चिरन्तन, चेतनापूर्ण, अखण्ड, अपरिवर्तनीय अप्रत्यक्ष एव अणु-परिमाणी है।[3] यह शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा मन से भिन्न है।[4] ज्ञाता, कर्ता एव भोक्ता है। बाह्य शरीर, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय से सयुक्त आत्मा के बोध का माध्यम मन है। उसके अध्यवसाय, अभिमान और चिन्ता ये तीन व्यापार हैं। हृत्पद्म मे निवास करने वाला जीव सुपुप्ति अवस्था में हृत्पद्म ब्रह्म में विश्राम करता है।[5] अणुरूप जीवात्मा छोटी सी दीपशिखा के समान सुख-दु.ख का सम्पर्क स्थापित करके प्रकाश करता है।[6] काल और स्थान का व्यवधान भी इसके ज्ञान की सीमा को नहीं रोक पाता। आत्माएं अनेक हैं। दु.ख और सुख की विषमता आत्मा के नानात्व की सिद्धि करती है।[7] जीव के वास्तविक बोध के अन्तराय के रूप मे स्थित प्रकृति से जीव आबद्ध है तथा वह जीव की वाहिका भी है।[8] जन्म और मृत्यु के चक्र मे आवर्तित रहने पर भी उसके व्यक्ति की शाश्वतिक स्थिति है। प्रलय काल मे उसका विशेष रूप नष्ट होता है किन्तु स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। जीव की सत्ता की प्रतीति अहं प्रत्यय से होती है। यह अन्य अर्थों से भिन्न है। यदि यह

१. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६८४.

२. Dr. S. Radhakrishnan—"The Nirguna Bramha which steems at us with Frozen eyes regardless of our selfless devotion and silent sufferings, is not the God of religious insight" vol. II. P. 683.

३. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग, २, पृ० ६६०.

४. रामानुज, श्रीभाष्य, २।४।१०.

५. वही, ३।२।६.

६. वही, २।३।२४-२६.

७. वही, २।१।१५.

८. डा० एस० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६६१.

द्वैताद्वैत मत—निम्बार्क अथवा निम्बादित्य बेलारी जिले के निम्बपुर के तेलुगु ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम सरस्वती था। निम्बार्क के समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। गौड़पाद की कारिका[1] में द्वैताद्वैत मत की सम्भावित उपलब्धि मानकर तथा शंकर द्वारा भेदाभेद के खण्डन को आधार बनाकर कतिपय विचारक निम्बार्क को शंकर एवं गौड़पाद से भी प्राचीन मानते हैं।[2] किन्तु अत्यन्त सामान्य विवेचन से इस मत को अस्वीकार किया जा सकता है। भेदाभेद पर आधारित विचारधारा के संस्थापक के रूप में निम्बार्क को मानकर उसे गौड़पाद के पूर्व मानने से गौड़पाद के पूर्ववर्ती आचार्य आश्मरथ्य आदि से भी, निम्बार्क को, पहले का मानना होगा। आश्मरथ्य का ब्रह्मसूत्र में उल्लेख है।[3] अतः ऐतिहासिक सीमाओं की दृष्टि से उक्तमत सर्वथा अग्राह्य है। दशश्लोकी के टीकाकार हरिव्यासदेव निम्बार्क की परम्परा में बत्तीसवें आचार्य हैं। इनके बाद दामोदर गोस्वामी का समय १७६५ ईस्वी है। मध्व के तैंतीसवें आचार्य का समय १८७६ ई० मानकर मध्व को १२७६ ई० का माना है। इस भांति सामान्य रूप से निम्बार्क को भी ११६५ ई० का मान सकते हैं। यह निष्कर्ष डा० भण्डारकर ने प्रत्येक आचार्य के पीठारोहण काल को लगभग अठारह वर्ष तक विस्तृत मानकर ग्रहीत किया है।[4] पण्डित किशोरीदास ८६८ ई० समय मानते हैं। किन्तु अन्तःसाक्ष्य के द्वारा निम्बार्क की रामानुज के उपरान्त स्थिति होनी चाहिए।[5] निम्बार्क की इस ऊपरी काल-सीमा के लिए माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन संग्रह' का साक्ष्य भी आवश्यक है। अपने समय के प्रचलित सभी दर्शन-सम्प्रदायों का विवेचन इस ग्रन्थ में है किन्तु निम्बार्क मत का कोई उल्लेख इसमें नहीं है। निम्बार्क के मत का यह अनुल्लेख उसे माधवाचार्य से परवर्ती काल का प्रमाणित करता है। माधवाचार्य का समय चौदहवीं सदी है। अतः चौदहवीं सदी का अन्त अथवा पन्द्रहवीं सदी का प्रारम्भ निम्बार्क का समय रहा होगा।[6]

---

१. गौड़पाद—'अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते॥' माण्डूक्यकारिका।

२. राधिकादास—ब्रह्मसूत्र पर वेदान्तपारिजातसौरभ की भूमिका, पृष्ठ ४.

३. ब्रह्मसूत्र १।४।२.

४. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, डा० आर० जी० भण्डारकर, पृष्ठ ११८.

५. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृष्ठ ३९९.

६. वही, भाग ३, पृष्ठ ४००, डा० एस० राधाकृष्णन, इण्डियन फिलासफी भाग २, पृ० ७५१.

आत्मानुभूति या स्वरूप ईश्वर के विशेषण के रूप में अपने-आपको समझ लेना है। रामानुज के द्वारा स्वीकृत जीवेश्वर सम्बन्ध को देखते हुए न तो यह कहा जा सकता है कि ये परस्पर पृथक् हैं और न, ही अपृथक्। वस्तुतः रामानुज भेदाभेदवादी ही हैं। भेदाभेदवादी होते हुए भी रामानुज ने उन सबका खण्डन किया है जो वस्तुत. भेदाभेद-वादी ही हैं, जैसे निम्बार्क, भास्कर आदि। यह निश्चित रूप से आश्चर्यजनक है।

जडतत्त्व-जीव के समान जड भी ब्रह्म का विशेषण है। रामानुज सत्कार्यवाद को मानने वाले विचारक हैं। उनके अनुसार कार्य कारणावस्था में भी सत् है। कार्य केवल भिन्न-अवस्था को प्राप्त करना मात्र है।[1] आश्रय ही द्रव्य है, उस पर आश्रित अद्रव्य, विशेषण, होगा। प्रकृति, काल एवं शुद्धसत्व ये तीन अचेतन पदार्थ के प्रकार हैं। अचेतन भोग्य है। सत, रज तथा तमोगुण-युक्त प्रकृति की सत्ता श्रुति-ग्राह्य है।[2] प्रलयावस्था में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहती है। उक्त तीनों गुणों से ही सृष्टि-क्रिया होती है। यह अजा है। इसका आकार ही दृश्य और अदृश्य होता है। सृष्टि-प्रक्रिया में तमस् से महत् उससे अहंकार और अहंकार से एकादशेन्द्रिय, तामस अहंकार से पंचभूत तथा राजस अहंकार उन दोनों को प्रेरित करता है।[3] सांख्य के विपरीत श्रीसम्प्रदाय की मान्यता है कि प्रकृति का नियामक ईश्वर है।[4] काल की स्वतंत्र सत्ता है तथा वह प्रत्यक्ष-गोचर है। सभी अचेतन वस्तु ईश्वर के अधीन है।[5] स्वरूपतः अचेतन तत्त्व न सुखद है और न दुखद। ये जीव को अपने कर्म के अनुसार फल देते हैं। मुक्त-व्यक्ति को यह आनन्दपूर्ण ज्ञात होता है। अचेतन का ईश्वर से सम्बन्ध परोक्षत: है। कारणावस्था में ब्रह्म ही अभिधान होता है, जबकि कार्यावस्था में जड़-तत्त्व कहा जाता है। उत्पत्ति और विनाश सापेक्षिक है। उत्पत्ति ब्रह्म के स्वरूप की ही अभिव्यक्ति है। शुद्ध-तत्त्व को नित्यविभूति भी कहा गया है। सम्भवतः इस विषय में विद्वानों में मतभेद है कि शुद्ध-सत्व जड है अथवा चित् समुक्त। लोकाचार्य ने इसे जड़ माना है।[6] जबकि वेंकटनाथ[7] श्रीनिवास[8] आदि चेतनवत् मानते हैं। इसी से श्रीरंगम तथा वैकुण्ठ आदि पवित्र स्थान बने हैं।

१. रामानुज—'अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।' गीताभाष्य १३।२.

२. तत्त्वमुक्ताकलाप १।२.

३. सर्वार्थसिद्धि १।२.

४. वही १।१८

५. श्रीभाष्य

६.

ज्ञानत्वाज्जाड्यकण्ठोक्तनात्गुणभवदत् मुख्यता

का उल्लेख अपरिहार्य है। इन सभी आचार्यों ने वहुत-मात्रा में समानता तथा अल्परूप में असमानता के साथ भेदाभेद को स्वीकार किया है। वादरायण के पूर्ववर्ती आचार्य औडुलोमि के अनुसार संसार दशा में जीव और ब्रह्म पृथक हैं, किन्तु मुक्तदशा में चैतन्यात्मक होने के कारण एक हैं।[1] मूलकारण के रूप में अभेद होते हुए भी कार्य-रूप में भिन्नता होती है, यह आश्मरथ्य का मत है।[2] काशकृत्स्न को भी भेदाभेद-वादी माना गया है।[3] शंकर ने भर्तृप्रपच का खण्डन इसी मत को समर्थक मानते हुए किया है।[4] ये ब्रह्म परिणामामवादी हैं। ब्रह्म तथा जीव में अशांशिरूप सम्वन्ध है। शंकरोत्तरकाल में भास्कर का मत भी भेदाभेद के नाम से विख्यात था। परवर्ती आचार्यों ने इनका खण्डन किया है। इस मत में ब्रह्म को कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीव एवं प्रपंच माना गया है। ब्रह्म की ही दो शक्तियां भोग्य एव भोक्तृ के सम्वन्ध को प्राप्त करती हैं। ये दोनों शक्तियां पारमार्थिक हैं।[5] दूध का दधिरूप में जिस प्रकार परिणमन होता है वैसा ही ब्रह्म का भी, अतः भास्कर स्वाभा-विक ब्रह्म परिणामवादी हैं।[6] अच्युत-ब्रह्म अपनी इच्छा से लोक-हित के निमित्त अपनी शक्ति के अनुसार परिवर्तित होता है।[7] यादव भी भेदाभेदवादी हैं। भास्कर भेद को औपाधिक मानता है, अभेद को स्वाभाविक। यादव का मत इसके विपरीत स्थिर परिणामवादी है।

निम्वार्क के सामने उक्त सभी आचार्यों द्वारा स्थापित विचारधाराएं थीं। विना बहुत अधिक मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए उन्होंने अपने मत की स्थापना की। अपने मत के इन पूर्वाचार्यों से मत के ग्रहण करने पर भी, रामानुज तथा शंकर के समान, इन्होंने कहीं भी इनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित नहीं की है। इसके अतिरिक्त विपरीत मतानुयायी विद्वानों, जैसे रामानुजादि, ने भी इनको अपने ब्रह्मसूत्र के स्वरूप एवं विपय की दृष्टि से प्रभावित किया। निम्वार्क ने अपने द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों

---

१. वादरायण—'उत्क्रमिष्यति एवं भावादित्यौडुलोमिः' ब्रह्मसूत्र, १।४।२१.
२. वही—'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः।' १।४।२०.
३. केशवकाश्मीरी—'तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसंगात् भेदाभेदप्रकारो भगवता दर्शितः।' वेदान्तपारिजात सौरभ पर वेदान्त-कौस्तुभ, १।४।२२.
४. शंकर—वृहदारण्यक उपभाष्य २।३।६, ३।४।२, ४।३।३०.
५. भास्कर—ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।२७.
६. वही—'ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय.........।' २।१।२४.
७. वही—'स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति।' २।१।१४.

'आश्मरथ्य, भास्कर, भर्तृप्रपंच तथा यादवप्रकाश के द्वारा स्वीकृत भेदाभेद दर्शन को अपनी धारणा के अनुकूल परिवर्तित करके निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। निम्बार्क के ग्रन्थ—ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य, वेदान्तपारिजातसौरभ, दशश्लोकी, कृष्ण-स्तवराज, मध्वमुखमर्दन, वेदान्त-तत्वबोध, वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप तथा स्वधर्माध्वबोध आदि हैं।'[1]

हरिगुरुस्तवमाला के अनुसार राधा और कृष्ण के एकीकृत स्वरूप हंस ने इस सनक सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। यह ज्ञान-धारा हंस के शिष्य कुमार, कुमार के शिष्य नारद के माध्यम से प्रवाहित होकर निम्बार्क तक पहुँची। इस प्रकार यह सम्प्रदाय अपने मत का पौराणिक उद्भव प्रतिपादित करता है। परम्परानुसार इन्हें सुदर्शन का अवतार माना गया है। श्रीनिवास निम्बार्क का शिष्य था। इसके उपरान्त की आचार्य-परम्परा में क्रमशः विश्वाचार्य, स्वरूपाचार्य, बलभद्राचार्य, पद्माचार्य, श्यामाचार्य ? गोपालाचार्य, कृपाचार्य, देवाचार्य, सुन्दर भट्ट, पद्मनाभाचार्य, उपेन्द्रभट्ट तथा अन्य अनेक आचार्य थे। हरिव्यासदेव तक सभी सूचियों में एकरूपता मिलती है।[2] इसके बाद बारह अन्य आचार्यों के उपरान्त अन्तिम आचार्य सन्तदास बाबाजी थे जिनकी मृत्यु १९३५ ई० में हुई।

ब्रह्मसूत्र पर निम्बार्क ने वेदान्तपारिजात सौरभ नामक भाष्य की रचना की। श्रीनिवास ने सौरभ पर वेदान्तकौस्तुभ लिखा। केशव-काश्मीरी ने इस पर वेदान्त कौस्तुभप्रभा का निर्माण किया। इसने भगवद्गीता पर तत्वप्रकाशिका एवं श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध पर तत्वप्रकाशिकावेदस्तुति नामक टीकाएँ लिखीं। श्रीनिवास ने लघुस्तवराज में निम्बार्क की वन्दना की है। इस पर निम्बार्क मत के प्रसिद्ध आचार्य पुरुषोत्तमप्रसाद ने गुरुभक्तिमन्दाकिनी व्याख्या लिखी। निम्बार्क का वेदान्त सिद्धान्त-प्रदीप शांकर मत के विरुद्ध लिखा गया। सिद्धान्तरत्न के नाम से प्रसिद्ध निम्बार्क की तीन व्याख्याएँ हैं। इनमें एक पुरुषोत्तमप्रसाद द्वारा वेदान्तरत्नमञ्जूषा, अज्ञात लेखक द्वारा लघुमंजूषा तथा हरिव्यासमुनि द्वारा लिखित अन्य व्याख्या प्रसिद्ध हैं। पुरुषोत्तम-प्रसाद ने कृष्णस्तव पर श्रुत्यन्तसुरद्रुम तथा स्तोत्रत्रयी की रचना की। उक्त ग्रन्थों में पुरुषोत्तम ने शंकर, रामानुज तथा मध्व के मतों की प्रखर आलोचना की है।[3]

निम्बार्क के मत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में कतिपय पूर्ववर्ती लेखकों

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ३, पृ० ४००.

२. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ३, पृ० ४०२.

३. वही, भाग ३ पृष्ठ ४०४.

उत्पन्न करने के वाद भी उसका अस्तित्व किसी प्रकार न तो क्षीण होता है न परिवर्तित होता है। वैसे ही ब्रह्म भी अपनी शक्ति से जीव एवं जगत् को उत्पन्न करने के वाद भी स्वयं अविकल रहता है: साथ ही उपादान के रूप में होने से जीव एवं जड़तत्व उसी में से निसृत है। वाद में भी वह जैसे पहले था वैसे ही सर्वगुण-सम्पन्न रहता है। जीव और जड़ से ब्रह्म की भिन्नता का कारण और कोई वहिर्भूत तत्व नहीं है, जिसे उपाधि या कुछ अन्य माना जावे। ब्रह्म का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि उससे जीव एवं जड़ पृथक् और अपृथक दोनों ही प्रकार का है। इसी विशेपता के कारण इस मत को द्वैताद्वैत कहा गया। इसमें द्वैत भी है, कार्य के रूप में, कारण की दृष्टि से आधारभूत होने के कारण, अद्वैत भी है। किन्तु यह द्वैत वाद में नष्ट नहीं होता। ब्रह्म तत्व में से एक वार व्याकृत होने के वाद ये कभी विलीन नहीं होते।

जीव—रामानुज एवं शंकर के समान निम्वार्क जीव को ज्ञानस्वरूप मानते हैं। किन्तु निम्वार्क के जीव की ज्ञानस्वरूपता शंकर के मत से पर्याप्त भिन्न है। इन्द्रियों की सहायता के विना भी वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। वह अपनी तुलना से अत्यधिक महान तत्व, ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण के अवीन है। शरीर से जीव का ही संयोग और वियोग होता है। प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् रहने वाला यह अणुपरिणामी अनन्त और ज्ञाता है।[1] ज्ञान एवं भोग के लिए वह ईश्वर के अधीन है। जीव के गुण और जीव में धर्म-धर्मि भाव सम्वन्ध है। प्रत्येक अवस्था में उसका कर्तृत्व सिद्ध है। जो श्रुतियां जीव के कर्तृत्व की प्रतिपत्ति नहीं करतीं उनका अभिप्राय उसका अधीनत्व सिद्ध करना है। प्रत्येक अवस्था में जीव आनन्दपूर्ण है। प्रत्येक अवस्था में उसकी सत्ता वनी रहती है। स्वप्न, सुपुप्ति, यहां तक कि मोक्ष भी उसकी सत्ता को किसी में विलीन करके तिरोहित नहीं करता। जीव की दुःखी अवस्था एवं उसके स्वरूप-बोध के व्यवधान के रूप में अनादि अविद्या है। अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त करने के लिये उसे सर्वात्मना समर्पणरूप प्रपत्ति की आवश्यकता है। ब्रह्म साक्षात्कार ज्ञेय न होकर भक्ति द्वारा प्राप्त है। अतः मोक्ष में यद्यपि ज्ञान साधन नहीं है तथापि अज्ञान-वाधक अवश्य है। देह तथा इन्द्रियादि में आत्मत्व का आरोप, अर्थात् आत्मस्थिति के प्रति अज्ञान, साक्षात्कारोपलब्धि में अवरोधक है। साथ ही कर्म एव ज्ञान में अपने को स्वतन्त्र मानना ही जीव का वन्ध-भाव है। भक्ति के माध्यम से उसे ईश्वर से अपने वास्तविक सम्वन्ध की प्रतीति होती है।[2] मोक्षावस्था में सत्ता के

---

१. निम्वार्क—'ज्ञानस्वरूपं हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥१॥
(दशश्लोकी).

२. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृष्ठ १४४.

को इन्हीं आचार्यों से प्राप्त किया, किन्तु कृष्ण-भक्ति की धारा में इसे अनुरंजित करना, उनका अपना वैयक्तिक प्रयोग है। यद्यपि कहा जा सकता है कि इसकी प्रेरणा भी उनको रामानुज से मिली होगी। इसी निम्बार्क मत का नाम भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत है।

ब्रह्म—ब्रह्म-सम्बन्धी जिज्ञासा की सम्पूर्ति के पूर्व अधिकारी को श्रुतियों का सम्यक् अध्ययन एवं ब्रह्म-साक्षात्कार से आत्यन्तिक एवं चिरस्थायी आनन्द की उपलब्धि के प्रति विश्वासी होना चाहिए। निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण को ब्रह्म तथा राधा को आद्य-स्वरूपिणी माना है। वह स्वभावतः सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा पृथक् हैं, कल्याण एवं गुण के अनन्त भण्डार तथा चार व्यूह के रूप में स्वयं को प्रकट करते हैं।[1] शंकर के निर्गुण ब्रह्म के विपरीत निम्बार्क ने ब्रह्म को सगुण अथवा सविशेष माना है। शास्त्रीय उल्लेखों के द्वारा उसमें ज्ञान एवं क्रिया शक्ति है। अतः वह धर्मयुक्त है निराकार नहीं।[2] आनन्दमय पद से उद्दिष्ट इसी को ब्रह्म कहा गया है।[3] कृष्णः सर्वनियामी तथा सर्वव्यापक हैं। जगत् के भीतरी एवं बाहरी सभी भागों में वह सभी जगह व्याप्त है।[4] जीव जड़ उसकी शक्ति होने के कारण अंश है।[5] सम्पूर्ण कर्म उसी के अधीन है। जगत् का उपादान एवं निमित्त दोनों ही प्रकार का कारण वही है। उसकी शक्ति ही चित् और अचित् रूप में परिवर्तित होती है। इसीलिए इसे उपादान कारण माना है।[6] जड़ तत्त्व ब्रह्म के एक रूप न होने के कारण वह भिन्न भी है तथा उपादानत्व की दृष्टि से अभिन्न भी है। ब्रह्म की सारी विशेषताएं उसमें सम्भाव्य नहीं हैं। जीवन और जड़ स्वतन्त्र न होकर इसी तत्त्व के अधीनस्थ रहते हैं। जिस प्रकार मकड़ी स्वयं जाल को बाहर निकालती है। जाल उसी से निकलने पर भी उससे भिन्न है, क्योंकि बाद में जाल अलग अपनी सत्ता के साथ स्थित रहता है और मकड़ी अलग। जाल को

---

१. निम्बार्क—'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं
हरिम् ॥४॥' दशश्लोकी।

२. केशवकाश्मीरी—"नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात्।" वेदांतकौस्तुभप्रभा.१।१।५.

३. "आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आत्मा ब्रह्मैव।" वही १।१।१३.

४. "यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च, तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।" सिद्धांतजाह्नवी पृष्ठ ३५ से उद्धृत।

५. डा० सी० डी० शर्मा—इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ ५४१ (अंशो हि शक्तिरूपः ग्राह्यः।)

६. केशवकाश्मीरी—वेदान्तकौस्तुभप्रभा, १।१।१-२.

इसका विरोध निम्बार्क के अनुयायियों ने किया।[1] ब्रह्म की शक्ति ही उपादान कारण के रूप में स्थित होकर जड़ तत्व की उत्पत्ति करती है। किन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप की किसी भी प्रकार से हानि नहीं होती है। जड़ तत्व को त्रिगुणात्मक स्वीकार किया है।[2] सर्वशक्तिमान् होने के कारण ब्रह्म इच्छा करने मात्र से जगत् की सृष्टि करता है।[3] जगत् आधार की दृष्टि से ब्रह्म से अभिन्न एवं तदाश्रित है। उसकी भिन्नता भी स्वतःबोध्य है, क्योंकि उसमें ब्रह्म के सम्पूर्ण धर्म नहीं पाये जाते।

तीनों का परस्पर सम्बन्ध भेद और अभेद का है। यदि ब्रह्म, जीव एवं जड़ इन तीनों को एक अथवा अभिन्न माना गया, तो उपनिषद् के अनेक वाक्य निरर्थक हो जावेंगे। सर्वथा भिन्न मानने पर उपनिषद् के अभेदपूरक वाक्यों का क्या मूल्य रहेगा? यदि पूर्णतः अभिन्न माना गया तो जीव और जड़ की नियामकता एवं व्याप्तता कैसे सिद्ध होगी? साथ ही ब्रह्म भी सीमित होने से, जीव और जड़ के समान होगा। यदि भेद को उपाधिकृत मानें, तो इसका अभिप्राय होगा कि ब्रह्म उपाधि के वशीभूत हो सकता है। तब उसे दुःखी आदि मानना होगा।[4] अतः वस्तुतः ब्रह्म का जीव एवं जड़ से द्वैतत्व भी है और अद्वैतत्व। यही संक्षेप में निम्बार्क मत है।

शुद्धाद्वैत—अनुश्रुति के अनुसार विष्णुस्वामी इस मत के संस्थापक आचार्य हैं। वल्लभ ने इसे पुनः सुदृढ किया था। श्रीधर ने अपनी भागवत की टीका के प्रारम्भ में इसकी वन्दना की है। अतः अनुमानित रूप में इन्हें भागवत का टीकाकार मानना चाहिए, किन्तु उसकी कोई भी कृति उपलभ्य नहीं है। किसी अज्ञात लेखक के 'सकलाचार्यमतसंग्रह' में विष्णुस्वामी के मत का उल्लेख हुआ है। उक्त ग्रन्थ में उद्धृत-मत वल्लभ के विचारों का ही संक्षिप्त रूप है। किन्तु वल्लभ स्वयं विष्णु-

---

१. 'यथा च भूमेस्तथाभूतशक्तिमत्या ओषधीनां जन्ममात्रम् तथा सर्वकार्यों लक्षणा-चिन्त्यानन्तसर्वशक्तेरक्षरपदार्थात् ब्रह्मणो विश्व सम्भवतीति, यदा स्वभाविका-ल्पाधिकसातिशयशक्तिमद्भ्यो चेतनेभ्यस्ततच्छक्त्यनुसारेण स्वस्वकार्यभावा पत्तावपि अप्रच्युतस्वरूपत्वं प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धम्, तद्ध्य-चिन्त्यविश्वाख्यकार्यो-त्पादनाशक्तिमतो भगवत उक्तरीत्या जगद्भावापत्तावाप्य प्रच्युतस्वरूपत्वं किमाशंक्यमिति—शक्तिविक्षेपसंहरणस्य परिणामशब्दवाच्यत्वाभिप्रायेण क्वचित्परिणामोक्तिः। स्वरूप-परिणामाभावाश्च पूर्वमेवनिरूपितः, शक्ते शक्तिमतोऽपृथक्सिद्धत्वात्।' श्रुत्यन्तसुरद्रुम, पृष्ठ ७३-७४.

२. निम्बार्क—दशश्लोकी ३.

३. निम्बार्क—वेदान्त-पारिजातसौरभ १।१।१९.

४. डा० एस० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ६५३-४.

रूप में पृथक होने पर भी स्वयं को ईश्वर का अंश मानता है।[1] उस समय वह आनन्द से अत्यधिक पूर्ण रहता है। आराध्य के साक्षात्कार के पूर्व सभी संचित और क्रियमाण पापों का नाश हो जाता है।[2] इसी से त्रिविध कर्मों का क्षय होता है।[3] जब तक कर्म का भोग शरीर से न कर लिया जाए तब तक मोक्ष नहीं होता। भले ही कर्म-भोग के लिए एक अथवा अनेक जन्म लेने पड़ें। अतः कर्म-क्षय शरीरपात के पूर्व सम्भव नहीं। इसीलिए अन्य मतो से भिन्न निम्बार्क में जीवन्मुक्ति का स्थान नहीं है।[4] बद्ध जीवों को दो प्रकारो मे विभक्त किया गया है। जिसमें मोक्ष के प्रति इच्छा जाग्रत है, वे मुमुक्षु तथा जो भोगोन्मुख हैं, उनको बुभुक्षु कहा गया है। इसी प्रकार मुक्त-जीव भी नित्यमुक्त तथा मुक्तरूप, इन दो प्रकारो मे विभाजित है।

जगत्—अचेतन तीन प्रकार का अप्राकृत, प्राकृत तथा काल है। इसी को उपनिषद् साहित्य मे माया तथा प्रधान आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है,[5] महद् से लेकर स्थूल महाभूत तत्व तक उत्पन्न जड़ तत्व प्राकृत के अन्तर्गत है। जिन का प्रकृति से कोई संबंध नहीं है वे सभी, जैसे भगवान के लोक आदि अप्राकृत तत्व है। काल भी शाश्वत तत्व है। संसार प्रत्येक वस्तु के प्रति कारण है। इसकी अनेकता उपाधियों के कारण ही है। स्वरूपतः नित्य काल कार्यतः अनित्य है। जड़ तत्व के ये तीनों भेद जीव के समान आत्यन्तिक एवं शाश्वत हैं।[6] इसे केवल भ्रान्ति कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही अचेतन तत्व को ब्रह्म के अंश के रूप में मानना निम्बार्क को अभीष्ट नहीं। रामानुज ने ब्रह्म को चिदचिद् माना है।

---

१. 'तत्तादात्म्यानुभवपूर्वकम् विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मना अवस्थानम्।' परपक्षगिरिवज्र, पृ० ५६१.

२. केशव काश्मीरी—'तत्र उत्तरभाविनः क्रियमाणस्य पापस्य आश्लेषः तत्प्राग्भूतस्य संचितस्य तस्य नाशः।' वेदान्तकौस्तुभ-प्रभा ४।१।३.

३. वही, पृ०, ५६८.

४. "विदुषो विद्यामाहात्म्यात्तु संचितक्रियमाणयोराश्लेषविनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः, तत्र प्रारब्धस्य एतच्छरीरेण इतरशरीरैर्वाभुक्त्वा विनाशान्मोक्ष इति संक्षेपः।" परपक्षगिरिवज्र पृष्ठ ५८३.

५. निम्बार्क—'अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥३॥
दशश्लोकी, १।१।१ वेदान्तकौस्तुभ.

६. डा० एस० राधाकृष्णन्, भाग २, पृष्ठ ७५२.

रचना की है। वेदांत के आचार्यों की व्यक्तिगत रचनाओं की संख्या में वल्लभ सबसे आगे हैं।

वल्लभ के अणुभाष्य पर पुरुषोत्तम की टीका भाष्य-प्रकाश है। गिरधर की विवरण, श्रीधर की बालप्रबोधिनी, लल्लूभट्ट की अणुभाष्यनिगूढार्थदीपिका, विट्ठल के शिष्य मुरलीधर की अणुभाष्यव्याख्या तथा किसी अज्ञात लेखक की वेदान्तचन्द्रिका है। वल्लभ के सात पुत्रों ने भिन्न-भिन्न स्थान पर स्थित होकर वल्लभ के शुद्धाद्वैत का प्रचार किया। इनमें विट्ठलनाथ का स्थान उल्लेखनीय है। इसका समय १५१८ ई० से १५८२ था। निम्नलिखित ग्रन्थों का लेखक इसको माना गया है। अवतारतारतम्यस्तोत्र, आर्या, कृष्णप्रेमामृत, गीतगोविन्द, प्रथमाष्टपदी-विवृत्ति, गोकुलाष्टक, जन्माष्टमीनिर्णय, जलभेदटीका, ध्रुवापदटीका, भगवद्गीतातात्पर्य, भागवततत्त्वदीपिका, विद्या मण्डन आदि। इसमें विद्यामण्डन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस पर पुरुषोत्तम ने टीका लिखी है। पीताम्बर ने अवतारवादावली, भक्तिरसत्ववाद, द्रव्य-शुद्धि तथा पुष्टिप्रवाह मर्यादा की टीका लिखी। पुरुषोत्तम उक्त पीताम्बर का पुत्र था। वह १६७० ई० में पैदा हुआ।[1] कहा जाता है कि उसने चौबीस ग्रन्थ लिखे किन्तु केवल सत्रह ही अभी तक प्राप्त हो सके हैं। विट्ठल के शिष्य मुरलीधर की भी रचनाएं महत्वपूर्ण हैं। गोपेश, गोपेश्वर जी महाराज, द्वारकेश, जयगोपालभट्ट, वल्लभ, व्रजराज, इन्दिवेश, श्रीधरस्वामी, गिरधर, योगीगोपेश्वर, गोकुलोत्सव, हरिदास तथा निर्भयराम आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक हैं, जिनकी रचनाओं में वल्लभ मत की श्रीवृद्धि हुई।[2]

वल्लभ का मत शुद्धाद्वैत के नाम से वेदान्त-परम्परा में विख्यात है। शंकर के विपरीत वल्लभ ब्रह्म को माया के सम्बन्ध से पृथक् मानते हुए उसे ही कारण एवं कार्य-रूप में मानते हैं। मायाराहित्य ही ब्रह्म की शुद्धता है। अतः अपने मत का नामकरण, इस शुद्ध-रूप अद्वैत के आधार पर, किया।[3]

वल्लभ ने व्याख्यान करने के पहले उसकी उपादेयता की ओर संकेत करना आवश्यक समझा है। वैसे तो प्रायः सभी आचार्य श्रुतियों की व्याख्या को महत्व देते हैं, क्योंकि ये सभी आस्तिक मत श्रुति पर ही आधारित हैं, किन्तु सन्दिग्ध, अर्थ से मुक्त होने के कारण सामान्य-जन कभी-कभी भ्रान्त अर्थ को प्राप्त कर लेते हैं। इसी-

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ४, पृ० ३७९.

२. वही, भाग ४, पृष्ठ ३८.

३. 'मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥२८॥' शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

स्वामी के मत को उद्धृत करते हैं।[1] यह पृथक्ता श्रुति-प्रतिपाद्य ब्रह्म के अद्वैत और द्वैतपरक स्वरूप की स्वीकृति पर आधारित है।[2] विष्णुस्वामी और रामानुज सत, रज तथा तम के आधार पर ब्रह्म में विशेषताओं को मानते हैं, जबकि वल्लभ निर्गुणता के प्रतिपादक हैं।[3] जदुनाथजी महाराज के वल्लभदिग्विजय तथा नाभाजी की *भक्तमाल में विष्णुस्वामी के अनुचर नामदेव-ज्ञानदेव आदि के उल्लेख से*[4] उसकी तिथि बारहवीं सदी ईस्वी मानी जा सकती है।

वल्लभ दक्षिण भारत के तेलुगु ब्राह्मण थे। उनके पिता लक्ष्मणभट्ट, प्रपिता गणपति भट्ट तथा प्रपितामह गंगाधर भट्ट थे। यह सोमयागियों का प्रसिद्ध परिवार था। ग्लैसनैप ने एन० जी० घोष का अनुसरण करते हुए १४७९ ई० समय माना है, किन्तु परम्परागत साक्ष्य के अनुसार १४८१ ई० के वैशाख माह में बनारस के पास जन्म हुआ।[5] मध्व-सम्प्रदाय के तिरम्मलैया, अन्धनारायणदीक्षित तथा भावयतीन्द्र नामक विद्वानों के द्वारा वल्लभ का शिक्षण हुआ। पिता की मृत्यु के उपरान्त भ्रमण करते हुए वल्लभ ने अपने अनेक शिष्य बनाए। विजयनगर में द्वैत के सुप्रसिद्ध आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में, अद्वैत मत के विद्वान् को परास्त किया। वृन्दावन तथा मथुरा उनके आगामी जीवन के महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहे। बनारस के देवणभट्ट की कन्या लक्ष्मी से विवाह किया। १५१८ई० में विट्ठलनाथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वल्लभ की मृत्यु १५३३ ई० में हुई।

कहा जाता है कि वल्लभ ने चौरासी ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से साठ के लगभग प्राप्य हैं।[6] इनमें से निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवतपुराण पर सुबोधिनी टीका, *ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य, अपने ग्रन्थ तत्वदीप पर प्रकाश, भागवत् सूक्ष्म-टीका, पूर्वमीमांसाभाष्यसिद्धान्त-मुक्तावली* तथा अन्य लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थों की

---

१. वल्लभ भागवत पर सुबोधिनी टीका ३।३२।३७.

२. निर्भयराम—'तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यासापेक्षतया तस्य व्याख्यातारो विष्णुस्वामीमध्वप्रभृतयो ब्रह्माद्वैतवादस्य सेव्यसेवकभावस्य च विरोध मन्वाना अभेदबोधकश्रुतिषु लक्षणया भेदपरत्व शुद्ध भेद-मंगीचक्रुः।" अधिकरण संग्रह, पृ० १.

३. 'ते च साम्प्रत विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्ववादिनो रामानुजश्च तमोरजः सत्वैर्भिन्ना अस्मत्प्रतिपादिताच्च नैर्गुण्यवादस्य।' वही, पृ० १.

४. नाभाजी—भक्तमाल, पृष्ठ २४१.

५. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग ४, पृष्ठ ३७१.

६. आफ्रेक्ट्स—केटेलोगस केटेलोगोरम.

लिया, तो ब्रह्म प्रत्यक्ष कारण न होकर अप्रत्यक्ष कारण होगा। अतः यही स्वीकार करना उचित होगा कि ब्रह्म सत्, चित् तथा आनन्द के आविर्भाव एवं तिरोभाव को आधार बनाकर जगत् को उत्पन्न करते हैं।[१] किन्तु स्मरणीय तथ्य यही है, कि उपादान अथवा समवायि दोनों में जो विकार की प्रतीति होती है, वह वल्लभ को किसी भी रूप में अभीष्ट नहीं है।[२] अतः बिना किसी वाह्य-धर्म के आगमन अथवा आरोप के अनुवृत्ति का होना समवाय है।[3] 'माया ब्रह्म की शक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमत् के सम्बन्ध के आधार पर दोनों की अभिन्नता है।[४] ब्रह्म का परिणाम, बिना अपने मौलिक रूप में परिवर्तित हुए, जगत् एवं जीव है। सत्, चित् तथा आनन्द में किसी अंश को बिना किसी अन्य उपकरण की सहायता के आविभूत तथा तिरोभूत कर सकता है। इस मत ने श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है। आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा क्षर ये तीन प्रकार के ब्रह्म माने हैं। क्षर ब्रह्म प्रकृति है। अक्षर ब्रह्म में आनन्दात्मक अंश अपेक्षाकृत कम मात्रा में है, तथा परब्रह्म सम्पूर्णतः आनन्दरूप है, अतः अक्षर की तुलना में वह श्रेष्ठ है। ज्ञान के द्वारा अक्षर ही ज्ञेय है। परब्रह्म की प्राप्ति भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से नहीं हो सकती। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही अपने किसी विशिष्ट अंश का आविर्भाव जगत् रूप में करता है। अंश तथा अंशी की अभिन्नता के कारण जगत् तथा ब्रह्म अभिन्न है। ब्रह्म में सभी प्रकार के विरोधी धर्म सम्भव हैं। वह अनवगाह्य है। जीव-काल, प्रकृति सभी सत्तावान् हैं, किन्तु ब्रह्म से अपृथक् हैं। वह कर्त्ता और भोक्ता दोनों ही हैं।[५] तिरोभाव और आविर्भाव सभी उसकी इच्छानुसार ही होता है। शरीर धारण की आवश्यकता न होने पर भी भक्तों की प्रसन्नता के लिए विविध-रूपों में दृष्टिगोचर होता है। अपने मौलिक रूप में ब्रह्म दृश्य नहीं है। वह दृष्टिगोचर तभी होता है, जब जगत् रूप में रहता है। वल्लभ के अनुसार जो श्रुतियाँ ब्रह्म का निर्गुणत्व प्रतिपादित करती हैं

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ३३०.

लिए वल्लभ ने दार्शनिक व्याख्यान प्रस्तुत किया।[1]

ब्रह्म—वल्लभ का ब्रह्म-सम्बन्धी विवेचन अन्य आचार्यों से सर्वथा पृथक् है। ब्रह्म के स्वरूप-बोध की दृष्टि से विचार करने पर उसे जड़ जगत् का कारण माना गया है। कारण के भेद, प्रायः सभी मत ने, निमित्त और समवायि माने है। ब्रह्म की निमित्त-कारणता के प्रति किसी का विरोध नही है। किन्तु उपादान कारण एव समवायि कारण मानने वाले वर्ग मे, स्वरूपगत व्याख्यान की दृष्टि से, पर्याप्त मतभेद है। वेदान्त मे उपादान को समवायि के रूप मे ही माना गया है।[2] किन्तु ब्रह्म को यदि समवायि कारण मान लिया गया, तो उसका विकार भी अवश्य स्वीकार करना होगा।[3] विकार युक्त परिणाम वल्लभ को अभीष्ट नही है। कारण की दृष्टि से वल्लभ यद्यपि ब्रह्म को समवायि कारण मानते है, किन्तु उनकी समवायि की परिभाषा न्याय की मान्यता[4] से भिन्न है। तादात्म्य समवायि के मूल मे है।[5] ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान मे सत्, चित् तथा आनन्द के आधार पर सर्वव्यापक ब्रह्म नाम, रूप तथा क्रियायुक्त प्रपचीकृत जगत् का मूल कारण है। उसकी सर्वव्यापकता ही कारणता का आधार है।[6] ब्रह्म ही प्रकृति एव जीव का मूल कारण है। शंकर तथा उनके अनुयायी स्वतत्र रूप मे अथवा जीवाश्रित माया (भामती प्रस्थान) को जगत् का उपादान कारण मानते हैं। वल्लभ की उक्त धारणा रुचिकर नही है। उनके अनुसार यदि माया को मध्यस्थ बना

---

१. वल्लभ—"सन्देहार्थं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः।
विरुद्धशास्त्रसम्भेदादंगैश्चाशक्यनिश्चयः॥
तस्मात्सूत्रानुसारेण कर्तव्य: सर्वनिर्णयः।' ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य, पृष्ठ २०,

२. 'तत्तु समन्वयात्।' ब्रह्मसूत्र १।१।३.

३. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ३२२.

४. केशव मिश्र—'तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातार्थौ ययोर्द्वयो.।
एकमविनश्यदपराश्रितावेवातिष्ठन्ते॥' तर्कभाषा, पृष्ठ ३५.

५. पुरुषोत्तम—'ननु दूषिते समवाये अयुतद्धियोः कः सम्बन्धोऽङ्गीक्रियतः इति चेत् तादात्म्यमेव इति ब्रूमः। कथ इति चेद् इत्थं प्रत्यक्षाद् यद्द्रव्यसमवेतं तद् तदात्मकमिति व्याप्तेः ......कारणकार्यतादात्म्य द्रव्योर्निर्विवादम्। ब्र० सू० अणुभाष्य टीका, पृष्ठ ६२७.

६. वल्लभ का अणुभाष्य, पृष्ठ ८५.
पुरुषोत्तम की टीका, पृष्ठ ८५.

जीव के स्वरूप-ग्रह में अविद्या का मुख्य स्थान है। यह अविद्या पांच पर्वों से युक्त मानी गई है।

(१) स्वरूपाज्ञान—जीव को अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्म से अभिन्नता ज्ञात नहीं रहती।

(२) देहाध्यास—स्वरूप-सम्बन्धी विवेचन के न होने से वह देह को ही आत्मा मान लेता है।

(३) इन्द्रियाध्यास—आत्मा के विषय में इन्द्रिय को ही आत्मा मानना इन्द्रियाध्यास है।

(४) प्राणाध्यास—प्राणादि वायुओं को ही आत्मा मानना।

(५) अन्तःकरणाध्यास—अन्तःकरण को आत्मा के रूप में अध्यासित करना।

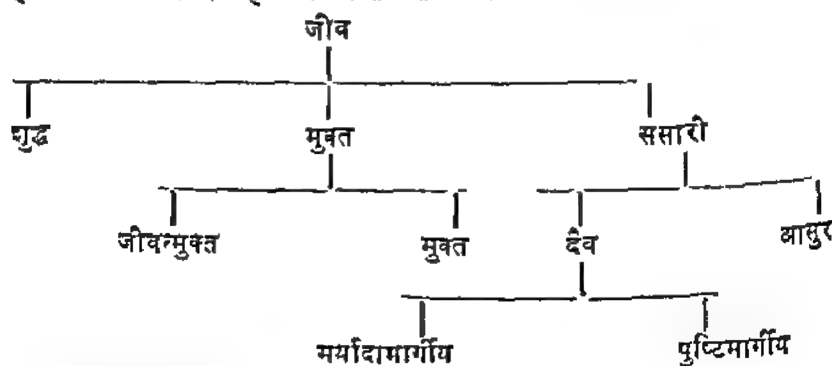
अविद्या के उक्त सभी परिणाम जीव को अपने स्वरूपबोध से पृथक् रखते हैं। शुद्धजीव में ऐश्वर्य अंश को तिरोहित करती है। अविद्या के सम्पर्क में आने के पूर्व जीव शुद्ध माना जाता है। मुक्त जीव अविद्या से, विद्या के कारण, मुक्त हो जाता है। जन्म-मृत्यु का भोग करने वाला अविद्या का आबद्ध जीव संसारी है। संसारी दशा में जीव पुष्टिमार्गीय भक्ति का अनुसरण करके अपने में तिरोहित आनन्दांश को प्राप्त करता है। वह अणु परिमाणी है।[1] ब्रह्म का अंश है।[2] जीवन की मुक्ति उसके तिरोभूत अंश की प्राप्ति है, ब्रह्म से एकरूपता नहीं। ब्रह्म से अभिन्नता तो उसकी पहले से ही है। ब्रह्म को पूर्ण तथा जीव को अंश मानते हुए भी वल्लभ ने दोनों को अपृथक् माना है। अंश और अंशी के परस्पर सम्बन्ध के मूल में न्याय की समवायि की मान्यता है, किन्तु वल्लभ ने उसे 'तादात्म्य' कहकर व्याख्यात किया। और इस व्याख्यान के आधार पर, ब्रह्म तथा जीव की अभिन्नता, को स्वतः सिद्ध माना गया। रामानुज ने जीव तथा ब्रह्म पर विचार करते हुए दोनों का परस्पर सम्बन्ध समानाधिकरण माना है, जबकि वल्लभ में दोनों एक ही हैं; अतः इस प्रकार के किसी सम्बन्ध को मानने की आवश्यकता उनको नहीं है। पंच-पर्वाविद्या से आबद्ध जीव बिना ब्रह्म की कृपा के मुक्ति नहीं पा सकता। साधन की दृष्टि से ज्ञान भी लाभप्रद है, किन्तु भक्ति उसका मुख्य आधार है।

जगत्—जिस प्रकार से जीव, ब्रह्म के आनन्दांश तिरोहित हो जाने से, स्थिति प्राप्त करता है, वैसे ही जड़ जगत् भी ब्रह्म के आनन्द एवं चित् अंश का तिरोभाव है। अतः जड़ जगत् भी ब्रह्म का अंश है। अतएव जगत् ब्रह्म ही है। वेदान्त के अनुयायियों की पूरी परम्परा में यही एक ऐसा दर्शन है, जो जड़ जगत् को इतना महत्व

१. वल्लभ—अणुभाष्य २।३।१९.
२. वही, २।३।४३.

उनका अभिप्राय गुणाभाव अथवा निर्विकल्प-रूप इंगित करना नही है, अपितु वे केवल यही सूचित करती हैं, कि ब्रह्म में सामान्य गुण नही है। ब्रह्म ही शुद्ध रूप मे अद्वय है। अन्य तत्वो की सत्ता होने पर भी, ब्रह्म के अश होने के नाते, उनमे परस्पर अभेद है।

जीव—ब्रह्म जीव-रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं। सत् तथा चित् अश के प्राकट्य तथा आनन्दांश के तिरोभाव से पशु और जीव-समूह सम्पृक्त है। माया जीव की निर्मिति मे किसी भी प्रकार कारण नही है। जीव-ब्रह्म का उसी प्रकार का परस्पर सम्बन्ध है जो अग्नि एवं स्फुलिंग मे होता है। यह जीव का आविर्भाव ठीक वैसे ही है, जैसे कि लपेटे हुए कपड़े को फैला देने पर उसमे विस्तार का आविर्भाव हो जाता है। विस्तार वस्त्र से भिन्न नही है। केवल एक विशिष्ट अंश की अभिव्यक्ति मात्र है। जीव मे आविर्भाव के मूल मे ब्रह्म का चिदंश है।[१] देहादि के धर्म जीव से पृथक् ठीक उसी प्रकार से उस पर आरोपित नही किए जा सकते, जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा मे जल के कम्पादि धर्म आरोपित नहीं किए जा सकते।[२] जीव असंख्य हैं। उसमें अन्तर्यामी की स्थिति है। प्रत्येक जीव के लिए अन्तर्यामी की स्थिति पृथक्-पृथक् है।[3] वह कारण है। इसीलिए ब्रह्म को भी अन्तर्यामी कहा गया है। क्यो कि वह भी सभी का कारण है। वल्लभ-सम्मत जीवो का वर्गीकरण निम्न प्रकारसे है।



१. प्रमेयरत्नार्णव, पृष्ठ ७-९.

२. वल्लभ—'यथा जले चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन जलेन कृतो गुणः कम्पादिधर्मः आगन्तो विद्यमानो मिथ्यैव दृश्यते न वस्तुनश्चन्द्रस्य एव अनात्मनो देहादिधर्मो जन्मबन्धदुःखादिरूपो द्रष्टुः आत्मनो जीवस्य न तु ईश्वरस्य।' सुबोधिनी टीका, ३।७।११.

३. वल्लभ—'अन्तर्यामीणां स्वरूपभूतत्वेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेशात् तदभेदानामानन्त्येऽपि कारणीभूतवक्ष्यमाणतत्त्वशरीरे प्रविश्य तत्सहायकरणात्कारणकोटावेव निवेशो न स्वरूपकोटौ। ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृष्ठ १६५.

है। आचार्य ने इस मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा है और इसीलिए वल्लभ-मत पुष्टिमार्गीय भी कहा जाता है। पुष्टि का अर्थ है भगवदनुग्रह।[1] महत्ता के ज्ञान के साथ सुदृढ़ स्नेहात्मिका अनुभूति ही भक्ति है। तथा वही एकमेव साधन है।[2] भक्ति के माध्यम से ब्रह्म की अभिन्नता के बोध के लिए पुष्टिमार्ग के साथ मर्यादामार्ग की भी मान्यता प्रस्तुत की है। पुष्टिमार्ग बिना किसी अन्य की सहायता के लक्ष्य प्राप्त कराता है, जबकि मर्यादामार्ग में ज्ञान की भी आकांक्षा रहती है।[3] प्रभु का अनुग्रह पुष्टिमार्ग की सर्वाधिक विशेषता है।[4] वही उसके अभेद का साधक है, वैदिक लौकिक उपाय नहीं।[5] इन्हीं दो मार्गों के आधार पर मर्यादा तथा पुष्टि नामक दो भक्तियाँ स्वीकारी गई हैं। मर्यादा-भक्ति का फल सामीप्य मात्र प्राप्त करा देना है जबकि पुष्टि-भक्ति के द्वारा अभेदप्रतीति होती है।

अचिन्त्यभेदाभेद—भक्ति को आधार बनाकर अपनी स्थिति निर्मित करने वाली परम्पराओं में चैतन्य अत्यधिक भावविह्वल भक्त के रूप में विख्यात हैं। चैतन्य ने यद्यपि किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की, किन्तु उनको उक्त मत का प्रवर्तक माना गया है। इसी परम्परा के अन्य परवर्ती विचारक स्वयं को मध्व से सम्बद्ध स्वीकार करते हैं। दक्षिण भारत के लेखक एवं विचारकों ने भक्ति को कभी इतना महत्व नहीं दिया जितना कि चैतन्य ने।[6] निम्बार्क के उपरान्त चैतन्य ने भी कृष्ण, वृन्दावन तथा राधा आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया। चैतन्य वल्लभ के समकालीन होते हुए भी, उनके समान धर्म के विधानात्मक पक्ष को, महत्व न दे सके; अपितु चैतन्य को धर्म का भावात्मक पक्ष ही अधिक ग्राह्य रहा।[7]

अचिन्त्यभेदाभेद मत शब्दप्रमाण की दृष्टि से मध्व के समान अत्यन्त व्यापक क्षेत्र स्वीकार किए हुए है। पांचरात्र साहित्य तथा भागवत पुराण को भी आधार

१. 'पोषणं तदनुग्रहः।' श्रीमद्भागवत २।१०.
२. 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥' तत्त्वार्थदीप, पृष्ठ ६५.
३. 'वल्लभ—'पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं, मर्यादामंगीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं युक्तमेव।' ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य ३।३।२९.
४. 'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः।' वही ४।४।९.
५. 'अनुग्रहेणैवसिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥' प्रमेयरत्नार्णव पृ० १९.
६. डा० एस० राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी भाग २. पृष्ठ ७६०,
७. भण्डारकर—वैष्णविमज्शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११७.

देता है कि इसे वह नानात्मावस्था में भी ब्रह्म ही माने । जगत् की उत्पत्ति और विनाश ब्रह्म के इस स्वरूप का आविर्भाव तथा तिरोभाव ही है। आविर्भूत अवस्था में वह अनुभवजन्य अथवा दृश्य होता है । वस्तुतः इसमें विषयत्व की योग्यता का आना ही आविर्भाव है तथा इसका अभाव ही तिरोभाव है ।[1] अविद्या के कारण जीव के द्वारा कल्पित पदार्थ का नाम संसार है । ब्रह्म जड़ जगत् के आविर्भूत रूप में ही प्रत्यक्ष है । जगत् शंकर के समान न तो भ्रमात्मक है, और न मध्व के समान ब्रह्म से प्रत्येक दृष्टि से भिन्न । वल्लभ ने भी माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु माया के द्वारा अविकृत रूप में परिणमित जगत अतात्त्विक नहीं है ।[2] माया ईश्वर की इच्छा मात्र है ।[3] ब्रह्म एक ओर, जहां जगत का कारण है, वहां दूसरी ओर वह जगत ही है । बृहदारण्यक की 'एकोऽहं बहुस्याम' की धारणा, वल्लभ के अनुसार, ब्रह्म में ही स्वेच्छा से ब्रह्म की नानात्मकता का बोध कराती है । इस मत में माया तथा अविद्या भिन्न है ।[4] यही, एकात्मकता की प्रतीति में बाधक बनकर, नानात्मकता का बोध कराती है । जगत् सत् है, किन्तु ब्रह्म के अंश के रूप में ही है । उसकी सत्ता का बोध ही हमको भ्रम में डाल देता है । हम इसके सत्तात्मक अंश को तो देखते हैं, किन्तु ब्रह्मात्मकता को दृष्टिगोचर नहीं कर पाते । यही अविद्यामोहित जीव की मनःस्थिति है ।

जगत् को किसी भी प्रकार अतात्त्विक मानना उचित नहीं । यदि इसे अतात्त्विक मान लिया गया, तो फिर ब्रह्म से इसकी एकात्मकता प्रमाणित नहीं की जा सकेगी । तत्त्व और अतत्त्व कभी परस्पर अभिन्न नहीं हो सकते । अतः वल्लभ के मत में जगत यद्यपि ब्रह्म का परिणाम है, किन्तु इस परिणाम में किसी प्रकार का विकार नहीं है । उसका यह अविकार सुवर्ण-निर्मित आभूषण में सुवर्ण के अविकार के समान है । इसीलिए जगत का भी विनाश सम्भव नहीं है । तिरोभाव विनाश न होकर केवल अप्रत्यक्षता है। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि जगत की सत्ता है ।

शंकर के उपरान्त प्रचलित होने वाले इन वेदान्त सम्प्रदायों में भक्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । वल्लभ ने मुक्ति के अनन्य साधन के रूप में भक्ति को माना है । गीता में प्रतिपादित कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग में से वल्लभ ने अन्तिम रूप में भक्ति को ही स्वीकारा । ज्ञान के बल पर केवल अक्षर ब्रह्म को पाया जा सकता है ; किन्तु उससे भी श्रेष्ठ परब्रह्म पुरुषोत्तम से अभेदबोध के लिए भक्ति नितान्त आवश्यक

१. 'अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः । तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः ।' विद्वन्मंडन, पृष्ठ ७.

भ्रमण किया।

चैतन्य के पहले अद्वैताचार्य नामक व्यक्ति के द्वारा श्रद्धा और स्नेह के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वही चैतन्य का दार्शनिक गुरु था।[1] माध्व मतानुयायी विद्वान् चैतन्य को अपनी विचार-सरणि का अनुयायी मानते हैं।[2] किन्तु इस मत का भावपूर्ण-संस्थापन चैतन्य के द्वारा ही किया गया।

इस मत में चैतन्य, नित्यानन्द तथा अद्वैतानन्द तीन प्रभु माने गए हैं।[3] रूपगोस्वामी चैतन्य के साक्षात् शिष्य थे, तथा इन्होंने दानकलाकेलिकौमुदी, ललितमाधव, विदग्धमाधव, आदिरूपक, उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु-साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थ, लघुभागवतामृत, हंसदूत, पद्यावली एवं उद्भव सन्देश आदि ग्रन्थों की रचना की। रूपगोस्वामी के अग्रज सनातन गोस्वामी द्वारा भागवत के दशमस्कन्ध की वैष्णवतोषिणी नामक टीका, वृहन्भागवतामृत तथा हरिभक्तिविलास की रचना की गई। चैतन्य-मत की शास्त्रीय स्थापना में जीव गोस्वामी का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र की प्रौढ़ गम्भीरता एवं परमत-खण्डन की प्रबलता जीव गोस्वामी के ग्रन्थों में प्राप्य है। भक्तिरसामृतसिन्धु पर दुर्गमसंगिनीटीका, भागवत पर क्रम सन्दर्भ तथा भागवत सन्दर्भ एवं सर्वसंवादिनी आदि जीव गोस्वामी की प्रमुख रचनाएं हैं। सत्रहवीं सदी के विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भागवत पर सारार्थदर्शिनी, उज्ज्वलनीलमणि पर आनन्दचन्द्रिका, कविकर्णपूर के अलंकार-कौस्तुभ पर प्रभाटीका लिखी है। वेदान्त-सम्प्रदाय में उपमत के रूप में मान्यता स्वीकृत कराने के लिए प्रस्थानत्रयी का आश्रय नितान्त आवश्यक है। चैतन्य-परम्परा के साहित्य में इस विकास-क्रम तक प्रस्थानत्रयी का आधारगत उपयोग नहीं किया गया। अठारहवीं सदी के बल्देवविद्याभूषण ने ब्रह्म-सूत्र पर गोविन्द-नामक-भाष्य लिखकर इसे उचित आधार पर स्थित किया। गोविन्द-भाष्य के अतिरिक्त सिद्धांतरत्न, प्रमेयरत्नावली, गीताभूषण, स्तवमाला तथा लघु-भागवतामृत की टीका की सृष्टि की। यद्यपि नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द को चैतन्य की परम्परा ने महत्त्व दिया है, तो भी दार्शनिक प्रतिपादन की दृष्टि से जीव गोस्वामी एवं बल्देव विद्याभूषण का योगदान स्तुत्य है।[4]

ब्रह्म— चैतन्य के मत में विशुद्ध आनन्दात्मक स्वरूप ब्रह्म का है। वही विशेष्य

---

१. डा० आर० जी भण्डारकर, वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजम सिस्टम्स, पृष्ठ ११८.
२. डा० वी० एन० के० शर्मा—ए हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आव वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ३७६.
३. डा० आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्म शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ १२२.
४. "वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० १२३

माना गया है। गीतगोविन्द जैसे ग्रन्थों ने चैतन्य के मन-प्राण को पूर्ण रूपेण आप्लावित कर दिया था। परिणामतः भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिपिबद्ध कृष्ण कथा ने उनके व्यक्तित्व को बहुत भीतरी भाग तक प्रभावित किया। अन्य मतों के संस्थापकों में चैतन्य अपेक्षाकृत अधिक साहसी सुधारक हैं। मुसलमानों को भी अपने मत में परिवर्तित करके उन्होंने अपनी उक्त प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

चैतन्य के मत में भेद और अभेद होते हुए भी वह अचिन्त्य है। अचिन्त्य से अभिप्राय परमतत्त्व की शक्ति की अकल्पनीयता है। जागतिक प्रतीति में भी विश्व की वस्तुओं में व्याप्त अनेक शक्तियों में सभी शक्तियां ज्ञेय नहीं होतीं, केवल कतिपय शक्तियां ही जानी जा सकती हैं। अतः विश्व का स्वरूप भी जब अज्ञेय, अचिन्तनीय अथवा अकल्पनीय है, तब उस परम-तत्त्व के स्वरूप का अचिन्त्य होना अस्वाभाविक नहीं है।[1] अचिन्त्य-पद का व्याख्यान भिन्न प्रकार से भी हो सकता है। वस्तु और उसकी शक्ति के परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान में यह कह पाना सम्भव नहीं कि उस तत्व की शक्ति उससे अपृथक् है अथवा पृथक्। यदि पूर्णतः वह शक्ति अभिन्न हो, तो फिर उसमें किसी भी प्रकार की गतिमत्ता सम्भव नहीं होगी, किन्तु वस्तुओं के परिवर्तित स्वरूप को देखकर प्रत्यक्षतः अज्ञात होने पर भी तर्क के द्वारा वस्तु में शक्ति का होना ग्राह्य हो पाता है।[2] जैसे सूर्य की किरणों की पारस्परिक संसक्ति से अनेक प्रकार के वर्णों की सृष्टि होती है। इस वर्ण-सृष्टि की शक्ति किरणों में है। उस शक्ति को प्रत्यक्षतः देखना सम्भव नहीं। वर्ण-क्रम को देखने के उपरान्त ही अनुमिति के रूप में शक्ति की स्थिति स्वीकार करनी होती है। इसी प्रकार ईश्वर और उसकी शक्ति की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को सोचा नहीं जा सकता, इसीलिए इस मत ने अचिन्त्य-भेदाभेद अभिधान स्वीकार किया।

चैतन्य, कृष्णचैतन्य, गौराग का मूल नाम विश्वम्भर मिश्र था। वल्लभ के समसामयिक इस आचार्य का समय १४८५ से १५३३ ई० है।[3] इनका जन्म नवद्वीप में हुआ था। पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र तथा माँ का शची था। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीदेवी था। वृन्दावन कुमारस्थान, पुरी, श्रीरंगम् आदि स्थानों पर इन्होंने

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ३९८।

२. "लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यज्ञान-गोचराः, अचिन्त्य तर्कासह यज्ज्ञानं कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाण तस्य गोचराः सन्ति।" षट्सन्दर्भ पृष्ठ ६३-६४.

३. डा० आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज़्म शैविज़्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११८.

भ्रमण किया।

चैतन्य के पहले अद्वैताचार्य नामक व्यक्ति के द्वारा श्रद्धा और स्नेह के सिद्धान्त का प्रसार किया गया था। यह भी कहा जाता है कि वही चैतन्य का दार्शनिक गुरु था।[1] माध्व मतानुयायी विद्वान् चैतन्य को अपनी विचार-सरणि का अनुयायी मानते हैं।[2] किन्तु इस मत का भावपूर्ण-संस्थापन चैतन्य के द्वारा ही किया गया।

इस मत में चैतन्य, नित्यानन्द तथा अद्वैतानन्द तीन प्रभु माने गए हैं।[3] रूपगोस्वामी चैतन्य के साक्षात् शिष्य थे, तथा इन्होंने दानकलाकेलिकौमुदी, ललितमाधव, विदग्धमाधव, आदिरूपक, उज्ज्वलनीलमणि तथा भक्तिरसामृतसिन्धु-साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थ, लघुभागवतामृत, हंसदूत, पद्यावली एवं उद्भव सन्देश आदि ग्रन्थों की रचना की। रूपगोस्वामी के अग्रज सनातन गोस्वामी द्वारा भागवत के दशमस्कन्ध की वैष्णवतोषिणी नामक टीका, वृहन्भागवतामृत तथा हरिभक्तिविलास की रचना की गई। चैतन्य-मत की शास्त्रीय स्थापना में जीव गोस्वामी का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। शास्त्र की प्रौढ़ गम्भीरता एवं परमत-खण्डन की प्रवलता जीव गोस्वामी के ग्रन्थों में प्राप्य है। भक्तिरसामृतसिन्धु पर दुर्गमसंगिनीटीका, भागवत पर क्रम सन्दर्भ तथा भागवत सन्दर्भ एवं सर्वसंवादिनी आदि जीव गोस्वामी की प्रमुख रचनाएं हैं। सत्रहवीं सदी के विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भागवत पर सारार्थदर्शिनी, उज्ज्वलनीलमणि पर आनन्दचन्द्रिका, कविकर्णपूर के अलंकार-कौस्तुभ पर प्रभाटीका लिखी है। वेदान्त-सम्प्रदाय में उपमत के रूप में मान्यता स्वीकृत कराने के लिए प्रस्थानत्रयी का आश्रय नितान्त आवश्यक है। चैतन्य-परम्परा के साहित्य में इस विकास-क्रम तक प्रस्थानत्रयी का आधारगत उपयोग नहीं किया गया। अठारहवीं सदी के बल्देवविद्याभूषण ने ब्रह्म-सूत्र पर गोविन्द-नामक-भाष्य लिखकर इसे उचित आधार पर स्थित किया। गोविन्द-भाष्य के अतिरिक्त सिद्धांतरत्न, प्रमेयरत्नावली, गीताभूषण, स्तवमाला तथा लघु-भागवतामृत की टीका की सृष्टि की। यद्यपि नित्यानन्द एवं अद्वैतानन्द को चैतन्य की परम्परा ने महत्त्व दिया है, तो भी दार्शनिक प्रतिपादन की दृष्टि से जीव गोस्वामी एवं बल्देव विद्याभूषण का योगदान स्तुत्य है।[4]

ब्रह्म—चैतन्य के मत में विशुद्ध आनन्दात्मक स्वरूप ब्रह्म का है। वही विशेष्य

---

१. डा० आर० जी भण्डारकर, वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजम सिस्टम्स, पृष्ठ ११८.
२. डा० वी० एन० के० शर्मा—ए हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आव वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृष्ठ ३७६.
३. डा० आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ १२२.
४. "वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृ० १२३

माना गया है। गीतगोविन्द जैसे ग्रन्थों ने चैतन्य के मन-प्राण को पूर्ण रूपेण आप्लावित कर दिया था। परिणामतः भिन्न-भिन्न स्थानों पर लिपिबद्ध कृष्ण कथा ने उनके व्यक्तित्व को बहुत भीतरी भाग तक प्रभावित किया। अन्य मतों के संस्थापकों में चैतन्य अपेक्षाकृत अधिक साहसी सुधारक हैं। मुसलमानों को भी अपने मत में परिवर्तित करके उन्होंने अपनी उक्त प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

चैतन्य के मत में भेद और अभेद होते हुए भी वह अचिन्त्य है। अचिन्त्य से अभिप्राय परमतत्त्व की शक्ति की अकल्पनीयता है। जागतिक प्रतीति में भी विश्व की वस्तुओं में व्याप्त अनेक शक्तियों में सभी शक्तियां ज्ञेय नहीं होतीं, केवल कतिपय शक्तियां ही जानी जा सकती हैं। अतः विश्व का स्वरूप भी जब अज्ञेय, अचिन्तनीय अथवा अकल्पनीय है, तब उस परम-तत्त्व के स्वरूप का अचिन्त्य होना अस्वाभाविक नहीं है।[1] अचिन्त्य-पद का व्याख्यान भिन्न प्रकार से भी हो सकता है। वस्तु और उसकी शक्ति के परस्पर सम्बन्ध के ज्ञान में यह कह पाना सम्भव नहीं कि उस तत्व की शक्ति उससे अपृथक् है अथवा पृथक्। यदि पूर्णतः वह शक्ति अभिन्न हो, तो फिर उसमें किसी भी प्रकार की गतिमत्ता सम्भव नहीं होगी, किन्तु वस्तुओं के परिवर्तित स्वरूप को देखकर प्रत्यक्षत. अज्ञात होने पर भी तर्क के द्वारा वस्तु में शक्ति का होना ग्राह्य हो पाता है।[2] जैसे सूर्य की किरणों की पारस्परिक ससक्ति से अनेक प्रकार के वर्णों की सृष्टि होती है। इस वर्ण-सृष्टि की शक्ति किरणों में है। उस शक्ति को प्रत्यक्षत. देखना सम्भव नहीं। वर्ण-क्रम को देखने के उपरान्त ही अनुमिति के रूप में शक्ति की स्थिति स्वीकार करनी होती है। इसी प्रकार ईश्वर और उसकी शक्ति की भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को सोचा नहीं जा सकता, इसीलिए इस मत ने अचिन्त्य-भेदाभेद अभिधान स्वीकार किया।

चैतन्य, कृष्णचैतन्य, गौरांग का मूल नाम विश्वम्भर मिश्र था। वल्लभ के समसामयिक इस आचार्य का समय १४८५ से १५३३ ई० है।[3] इनका जन्म नवद्वीप में हुआ था। पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र तथा मां का शची था। उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मीदेवी था। वृन्दावन कुमारस्थान, पुरी, श्रीरंगम् आदि स्थानों पर इन्होंने

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ३९८।

२. "लोके हि सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः अचिन्त्यज्ञान-गोचराः, अचिन्त्यं तर्कासह यज्ज्ञान कार्यान्यथानुपपत्तिप्रमाणं तस्य गोचराः सन्ति।" षट्सन्दर्भ पृष्ठ ६३-६४.

३. डा० आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविज्मशैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११८.

हैं तो भी वे ब्रह्म में समाहित हैं।[1] ब्रह्म तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है।

महाविष्णु अथवा संकर्षण जो सम्पूर्ण प्रकृति एवं जीवों का अधिपति है। इसमें जीव तथा प्रकृति अपृथक् रूप में नियंत्रित है।

प्रद्युम्न—वह सभी आत्माओं—जीवों—का नियामक है। इस रूप में ब्रह्म प्रकृति को छोड़कर केवल जीवों का ही नियंत्रक है।

तीसरे रूप में वह अपने-आपको, जड़-चेतन सभी की अतिरिक्त स्थिति के नियामक के रूप में, प्रकट करता है।[2] वह ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों से ही युक्त है। उसकी शक्तियाँ अकल्पनीय हैं।[3] इसी ब्रह्म तत्व को कृष्ण के रूप में स्वीकार किया है। षट्सन्दर्भ के लेखक ने भागवत में कहे गए कृष्ण के विग्रह को ब्रह्म से अभिन्न बतलाने के लिए अथक प्रयास किया है। अधर्म की संत्रस्तता से रक्षा करने के लिए वही परमशक्ति अवतार ग्रहण करती है। अवतार, जीव के समान उससे पृथक् न होकर, अभिन्न है।[4] कृष्ण ही परमशक्ति है। वह इतने सुन्दर हैं कि काम भी उन पर मोहित हो सकता है। वह चार व्यूहों के माध्यम से ज्ञान, चित्, स्नेह तथा क्रीड़ा को अभिव्यक्त करता है।[5] जिस प्रकार मधु से भ्रमर भिन्न हैं किन्तु मधु पीकर वह मत्त हो जाता है। वैसे ही स्नेह से मत्त जीव परमात्म-तत्व की आकाँक्षा रखता है। उसी स्नेहिल मत्तता के कारण वह भेद को भूल जाता है। यद्यपि वह ब्रह्म से पूर्णतया पृथक् है। जीव गोस्वामी के अनुसार आत्मगत दृष्टि के कारण वह तत्व ब्रह्म, जगत् के स्रष्टा के रूप में भगवान् पद से बोध्य है। बलदेव उसे हरि कहता है, तथा नारायण द्वारा सत्ता, महत्ता एवं कृष्ण द्वारा स्नेह की प्रतीति मानता है। स्नेह और आनन्द के चरम रूप होने के कारण ही वह श्रेष्ठतम है।

जीव—ईश्वर की जीव-शक्ति से जीव उत्पन्न होते हैं। स्वरूप-शक्ति का सहयोग एतदर्थ प्रभावी होता है। जीव अपने शासक ब्रह्म से पृथक् है तथा अणुपरिमाणी है।[6] जीव असंख्य हैं। सत, रज तथा तम यह तीनों गुण जीव से सम्बद्ध

१. "ते च स्वरूपशक्तिमायाशक्ती परस्परविरुद्धे यथा तयोर्वृत्यः स्वस्वगुण एव परस्परविरुद्धाऽपि भाव्यः तथापि तासामेकं निदानं तदेव।" षट् सन्दर्भ, पृ० ६१.

२. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ४०३.

३. 'पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसंप्रगम्यो, वायोरथापि मनसो मुनिपुंगवानाम्। सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्वे, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।। ब्रह्मसंहिता ५।४३.

४. बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य, ३।३।४७.

५. डा० आर० जी० भण्डारकार—वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ १२५.

६. बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य, २।२।४१.

है अन्य सभी शक्तियां विशेषण हैं। इन शक्तियों से युक्त तत्व को भगवान् कहा गया है।[1] वही अन्तिम सत्ता है। ब्रह्म, भगवान् तथा परमात्मन् ये तीनों नाम एक ही तत्व की भिन्न विशेषताओं को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हैं। वह निर्गुण है। उसकी निर्गुणता, प्रकृति एवं सगुण के स्वरूपतः उसमें न होने से सिद्ध है।[2] उसमें अनन्त गुण हैं। गुण और गुणी का परस्पर अभेद होता है इसीलिये शास्त्रों में उसे गुणात्मा कहा गया है।[3] वस्तुतः वह नित्य एवं अप्राकृत हैं। भेद जल और उसकी तरंगों की परस्पर भिन्नाभिन्नता के समान है। वैकुण्ठ उसका लोक है।[4] उसके विषय में प्राप्त एकात्मिका और नानात्मिका प्रतीति के मूल में उसकी अपरिसीम शक्तियां हैं। मध्व ने इन्हीं शक्तियों को विशेष कहा है। चैतन्य-मत में उसे ग्रहण कर लिया गया।[5] यह विशेष भेद का निर्वाहक मात्र है। भेद की वस्तुतः स्थिति है। अपनी अपरिसीम शक्ति के कारण ही वह स्वगत, सजातीय एवं विजातीय भेदों से रहित है। जगत् के उद्भव, स्थिति एवं लय का आधार वही है। जगत् की निर्मिति में वही उपादान एवं निमित्त कारण है।[6] उसकी तीन शक्तियां मानी गई हैं।[7] परा, अपरा एवं अविद्या। इसी को क्रमशः विष्णु, जीव तथा माया भी कहा जा सकता है। अपनी पराशक्ति के कारण जड़ जगत का वह निमित्त कारण है।[8] अपरा तथा माया शक्ति उपादान कारण है। इन तीनों शक्तियों में प्राथमिक शक्ति अपरिवर्तनशील है। इसी को स्वरूप, तटस्थ और माया शक्ति भी कहा गया है। स्वरूपाशक्ति भी सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी भी है। 'चित् की अन्तिम एवं श्रेष्ठ स्थिति बाद की है, इसीलिए उसे आनन्दात्मक कहा गया है।[9] स्वरूप शक्ति और मायाशक्ति यद्यपि परस्पर-विरोधी

---

१. "आनन्दमात्रं विशेष्य समस्ताः शक्तयः विशेषणानि विशिष्टो भगवान्।" षट्सन्दर्भ, पृष्ठ ५०.

२. डा० राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ७६१.

३. "गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्।" भागवत १०।१४।७.

४. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी भाग ४, पृ० ४२६.

५. "यत्र भेदभावो भेदकार्यञ्च प्रमितेः तत्रैव भेदप्रतिनिधिर्विशेषः कल्प्यते।" सिद्धांतरत्न, पृ० २३.

६. बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य १।४।२४.

७. "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥" विष्णुपुराण ६।७।६१.

८. बलदेव विद्याभूषण—गोविन्दभाष्य २।३।४०.

९. वही, ४।१।१.

समान रहती है।[1] यह प्रपंच भगवान से एकान्तिक रूप में न तो भिन्न है न अभिन्न। यह भिन्नाभिन्नात्मकता अचिन्त्य है।[2]

भक्ति—चैतन्य-सम्प्रदाय में भक्ति का अत्यधिक महत्व है। भगवत्प्रीति का अनुभव ही मोक्ष है। यह अवस्था बिना भक्ति के प्राप्त नहीं हो सकती; अतः भक्ति महत्त्वपूर्ण आधार है।[3] यह कर्म की अवहेलना करके उसे अतिक्रान्त कर जाती है। पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए भक्ति का आश्रय ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। इसके द्वारा जीव ईश्वर के समान स्थिति प्राप्त कर लेता है। यद्यपि वह उससे अभिन्न तो नहीं हो सकता तथापि अत्यधिक सामीप्य की उसे उपलब्धि होती है।[4] भक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु पर श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। बिना गुरु-कृपा के भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। तर्क की स्थिति भी इस क्षेत्र में नहीं है। तर्क का सम्बन्ध बुद्धि से है भाव का मन से। भक्ति भाव के अधिक समीप है, इसलिए तर्क का यहां कोई स्थान नहीं। भगवद-दृष्टि में कोई भी प्राणी हेय नहीं है, अतः भक्ति के लिये मानव में सभी के प्रति स्नेह, दया, ममता आदि का होना आवश्यक है।

चैतन्य-स्वीकृत भक्ति के सिद्धान्त का आधार सम्भवतः राधा के प्रति कृष्ण का प्रेम रहा होगा। सम्भवतः उसी से जीव के प्रति ब्रह्म के स्नेह को स्वीकार किया गया हो। यह आध्यात्मिक स्नेह सामान्य वासनात्मक स्नेह से सर्वथा भिन्न है। ब्रह्म की पराशक्ति अथवा स्वरूपशक्ति की संवित् एवं ह्लादिनी शक्ति का सम्मिश्रण भक्ति है। संवित् और ह्लादिनी दोनों भगवान् की शक्तियां हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। चैतन्य ने दो प्रकार की भक्ति मानी है। विधिभक्ति तथा रुचिराभक्ति। इस मत में अत्यन्त प्रबल कामना के साथ गोपियों की भक्ति को स्पृहणीय माना है।[5] सिद्धान्तरत्न के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक ज्ञान दूसरा विज्ञान। विज्ञान को ही भक्ति भी कहा गया है। 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में त्वं पद के बोध

१. 'वनलीनविहंगवत्' प्रमेयरत्नावली, ३।२.

२. 'जीवगोस्वामी—'स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिमतोर्भेदाभेदावंगीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। भागवतसन्दर्भस्य सर्वसंवादिनी, पृष्ठ २३.

३. 'सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति।' गोपाल तापनी.

४. बलदेवविद्याभूषण—गोविन्दभाष्य, १।१।१७.

५. 'आराध्यो भगवान्व्रजेशतनयस्तद्धामवृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।' विश्वनाथ चक्र—५.

हैं।[1] प्रलय के उपरान्त ब्रह्म 'एकोऽहं बहुस्याम' की भावना से भोक्ता जीव तथा भोग्य की सृष्टि करता है। माया के कारण जीव अपने स्वरूप-बोध को भूल जाता है। इसीलिए जीवात्माएं शरीर को जान सकती है, वास्तविकता को नही। ब्रह्म का जीव से एकत्व बोध वास्तव मे है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। यह माया भी ईश्वर की शक्ति है। जीव किरणो के समान है और ब्रह्म सूर्यमण्डल के समान। जिस प्रकार किरणें सूर्य की शक्ति से ही है उससे पृथक् नही है। जीव के रूप का वैभव इसी तत्व के कारण है।[2] जीव की स्थिति विशिष्टाद्वैत मे विशेषण के रूप मे है। जबकि चैतन्य जीव को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति मानते है। जीव ब्रह्म की कृपा से भक्ति के द्वारा अपने वस्तुबोध को भलीभाँति समझ लेता है।

जगत्—ब्रह्म की तीन शक्तियो मे तीसरी शक्ति से जिसे अविद्या अथवा माया कहा गया है, जड जगत् की सृष्टि होती है। माया केवल शक्ति ही है, अन्य कुछ नही, जैसे कि अद्वैतवादी मानते है।[3] जड जगत् एव उसके प्राणी ईश्वर से भिन्न होते हुए भी उसके अधीन है। जड जगत् ब्रह्म से भिन्न भी नही है तथा सर्वथा अभिन्न भी नही। अद्वैत सम्प्रदाय ने जगत् को भ्रान्तिजन्य माना है। गौड़पाद ने इसके लिए 'अलातचक्र' दृष्टान्त के रूप मे प्रस्तुत किया था। चैतन्य मतानुयायी विचारक जगत् को सत्य एव भ्रान्तिहीन मानते है। जगत् के मूल मे स्थित माया नाम की शक्ति ही ईश्वर-विरोधी है। वही जीव को ईश्वर-विमुख करके दूर ले जाती है। इसी कारण जीव जगत् का दास बन जाता है। यह हरि की बहिरग शक्ति है। इसकी वास्तविक सत्ता श्रुति-प्रतिपाद्य है।[4] विष्णुपुराण मे इसे अक्षय एव नित्य कहा गया है।[5] प्रकृति अथवा प्रधान को बल्देव विद्याभूषण माया से अभिन्न मानते हुए ईश्वर के ईक्षण व्यापार से गतिवान मानते हैं। जीव ने प्रकृति को ब्रह्म-शक्ति के रूप मे माना है।[6] प्रलयकाल मे भी उसकी सूक्ष्मस्थिति वन मे छिपे पक्षी के

---

१. डा० एस० एन० दास गुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ४००.

२. 'स्वरूपवैभवे तस्य जीवस्य रश्मिस्थानीयस्य मण्डलस्थानीयो य आत्मा परमात्मा स एव स्वरूपशक्त्या सर्वभूत, न तु तत्प्रवेशेन, ततः तत्र इतरः स जीवः केनेतरेण करणभूतेन क पदार्थं पश्यते, न केनापि कर्मोपि पश्यते इत्यर्थः, न हि रश्मयः स्वशक्त्या सूर्यमण्डलान्तर्गतवैभव प्रकाशयेयुः न चार्चिषो वह्नि निर्दहेयुः।' षट्सन्दर्भ, पृष्ठ ७१.

३. 'मीयते अनया इति माया शब्देन शक्तिमात्रमपि भण्यते।' षट्सदर्भ पृष्ठ, ७३.

४. ईशावास्योपनिषद् ८.

५. विष्णुपुराण १।२२।५८.

६. डा० एस० राधाकृष्णन—इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ७६३.

द्वितीय अध्याय

द्वैत वेदान्त का उद्भव और विकास

मध्व वेदान्त-दर्शन की परम्परा में द्वैतमत अथवा भेदवाद के संस्थापक हैं। व्यापक प्रसार एवं साहित्य की दृष्टि से शंकर-रामानुज के उपरान्त इनका स्थान है। श्रुतियों एवं प्रस्थानत्रयी के व्याख्यान में प्रवृत्त पूर्ववर्ती विचार-क्रमों को द्वैत ने मान्यता प्रदान नहीं की। पाश्चात्य चिन्तन में जैसे रहस्यवाद के सहज-शत्रु के समान हेगेल-दर्शन प्रतिष्ठित हुआ, वैसे ही अद्वैत वेदान्त के प्रबल-प्रतिद्वन्द्वी के रूप में द्वैत-वेदान्त की स्थापना हुई।[1] कान्ट तथा हीगेल के विरुद्ध रसल की प्रतिक्रिया मध्व की प्रतिक्रिया के समान मानी जा सकती है।[2] यह विरोध रामानुज की अपेक्षा अधिक कठोर था। प्रवृत्ति-सिद्धान्त दोनों ही रूपों में भारतीय-चिन्तन, आदर्श और यथार्थ के संघर्ष से ओत-प्रोत है। इसी के द्वारा चिन्तन को क्रमाप्त विकास मिला है। द्वैत-वेदान्त भी उसी संघर्ष की एक शृंखला है।

मध्व ने अपने विचार की स्थापना में प्राचीन साहित्य का पूर्ण उपयोग किया है। यद्यपि शंकर के सर्वातिशायी अद्वैत ने द्वैत के निर्माण में प्रेरक तत्व के रूप में कार्य किया,[3] यथापि श्रुति एवं श्रुत्यनुगत वाङ्मय भी इस मत के स्वीकृत निष्कर्षों का समर्थन करता है, यह धारणा भी इसके मूल में आधारतः सन्निविष्ट रही। सभी आस्तिक दर्शनों को अपना प्रमाणीकरण प्राचीन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में ही करना पड़ा है। यह प्रवृत्ति मध्व के खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों से भी ज्ञात होती है।[4]

द्वैत मत के प्रवर्तक आचार्य ने वैदिक साहित्य के विपुल उल्लेखों के आधार

---

१. डा० सी० डी० शर्मा—इंडियन फिलासफी, पृ० ५३४.

२. डा० नागराज शर्मा—रेन आफ़ रीयलिज्म, पृ० १.

३. डा० बी० एन० के० शर्मा—ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ़ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, खण्ड १, पृ० २.

४. प्रस्तुत प्रसंग में मध्व की दृष्टि का अनुसरण करते हुए वैदिक साहित्य का सर्वेक्षण किया गया है।

से कैवल्य ज्ञान मिलता है तथा तत्पद के बोध से भगवत्प्रसाद। किन्तु इसके अति-रिक्त विज्ञान अर्थात् भक्ति से ईश्वर को वश मे किया जा सकता है, अतः वही श्रेयस् है।[1]

यह मत रामानुज तथा मध्व दोनो से प्रभावित हैं। 'डा० राधाकृष्णन का मत कि रामानुज से अधिक प्रभावित' अधिक ग्राह्य नही। सिद्धान्तो को ध्यान मे रखते हुए यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि चैतन्य के परवर्ती शिष्यो ने अपने समय से पूर्व के प्रचलित सभी मतो से कुछ न कुछ ग्रहण किया है। वस्तुतः इस मत को तो दो-चार विचारको ने दार्शनिक सम्प्रदाय बना दिया। अन्यथा यह तो सगुण भक्ति पर आधारित भावात्मक आन्दोलन था।

---

१. सिद्धान्तरत्न, पृष्ठ २९.

लिए आन्तरिक अवस्थाओं का विचार भी उपनिषाद् में प्राप्य है। वस्तुतः मन्त्र ब्राह्मण और आरण्यक की अपेक्षा यही दार्शनिक विकास के आधार रहे हैं। यद्यपि पूर्ववर्ती वाङ्मय के विकसित एवं परिवर्तित रूप उपनिषद् हैं।[1] मध्व के अनेक सिद्धान्त इस पर पूर्णरूपेण आधारित हैं।[2]

उपनिषदों में भी द्वैतात्मकता तथा अद्वयोन्मुखता दोनों प्रवृत्तियां बहुलता से प्राप्त हैं। इनका परस्पर संघर्ष भी चल रहा है। याज्ञवल्क्य एक ओर 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' का उपदेश देते हैं। दूसरी ओर जनक की सभा में भेदपरक वाक्यों का उपन्यास करते हैं।[3] उक्त साहित्य में अद्वैतपरक प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं किन्तु उनमें विशुद्ध अद्वैत की दृष्टि से अनेकशः दुर्बलताएं हैं।[4] श्वेताश्वतर उपनिषद् भेदभावी परम्परा के बहुत समीप है। सांख्य दर्शन के विचार भी उसमें हैं।[5] इसका प्रारम्भ ही द्वैत को उपलक्षित करता है।[6] जड़ एवं चेतन का भेद स्पष्टतः स्वीकृत है। इन दोनों प्रकार के तत्वों को ईश्वर के अधीन रहना पड़ता है।[7] श्वेताश्वतर

१. रानाडे, कांस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० ४३४.

२. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥' मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१
'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचया मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यन्त्यमी शमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥' ३।१।२
'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥' ईशावास्योपनिषद् १;
कौशीतकी, ३।६; कठोपनिषद्, १।२।२३.

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ३। ६। ७-८.

४. यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते विनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत ॥'
बृहदारण्यक उपनिषद्, ४। ३। २३, १। ४। ४०;
'एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।' प्रश्नोपनिषद् ४। ९.

५. रानाडे, कांस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, भाग २, पृ० ३०४.

६. 'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥'

७. वही, ४। १३
'यो देवानामधिपो यस्मिल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्त द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'
वही, ६।१
'देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।'

पर अपने तात्त्विक विवेचन को रखा है। वेद मे देवो को सर्वनामवान् कहा गया है।[1] व्युत्पत्तिपूर्वक विष्णु को अन्य अनेक उल्लेखों के आधार पर उक्त रूप मे स्वीकृत किया गया है।[2] वैदिक साहित्य मे मध्व के अनुसार विष्णु ही सभी देवो के आधार एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण देव है।[3] अनेक देवों की विस्तृत परम्परा में एकात्मकता की ओर बढते पादक्षेपो से यही सहज एव स्वाभाविक निष्कर्ष ग्रहीत हो सकता था कि किसी एक देवता को आधार मानकर उसे सर्वप्रमुख कहा जाता। मध्व ने विष्णु को ईश्वर एवं सर्वोत्कृष्ट मानकर यही किया।[4] भारतीय चिन्तन स्वतन्त्र होने पर भी समन्वयहीन दृष्टिकोण नही रखता।[5] वैदिक विचारकों ने बहुधा वचनो को परस्पर सश्लिष्ट किया है।[6] एक देव की यही सर्वोत्कृष्टता द्वैत के विष्णु की सर्वातिशयता की प्रेरणा है।

मन्त्र एव ब्राह्मण साहित्य के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थो के अगभूत उपनिषदों मे दार्शनिक विवेचन पर्याप्त स्थिरता एव स्पष्टता के साथ प्राप्त होता है। वेदान्त के विभिन्न मतसस्थापक आचार्यों ने तत्वो का स्वरूप-विश्लेषण भी इसी ग्रन्थ-राशि के आधार पर किया है। आरण्यक एव उपनिषद् के परस्पर-सम्बन्ध को देखते हुए यह निष्कर्ष प्राप्त करना बहुत स्वाभाविक है कि रहस्यवाद एवं प्रतीकवाद, पूर्व की अपेक्षा अधिक तार्किक एव समयगत विकास को लिए हुए हैं। श्रुति का मन्त्र-ब्राह्मण भाग देवो को बाह्य रूप मे मानता है; आरण्यक सर्वव्यापकता की ओर संकेत करते हैं तथा उपनिषद् अन्तरात्मा के रूप मे अध्यात्मविद्या द्वारा ग्राह्य मानते हैं। इस प्रकार इस क्रमिक विकास मे बाह्य दृष्टि अन्तर्मुखी होती गई। उपनिषद् की विचार-परम्परा स्पष्ट रूप से दो सत्ताए स्वीकार करती है। जीवात्मा और परमात्मा। इसी-

---

१. ऋग्वेद, १।१३४।४५

'यो देवाना नामधा एक एव।' १०।८२।३.

२. वही, १०।८२।६.

३. 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। तदन्तरा सर्वे देवता।'
ऐतरेय ब्राह्मण, प्रथम पक्ति.

४. मध्व—'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः॥
तत्र तत्रस्थितो विष्णु. तत्तच्छक्तिप्रबोधकः।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमजसा॥' अनुव्याख्यान.

५. डा० राधाकृष्णन्, इडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ९२.

६. ऋग्वेद—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु.॥' १।१६४।४६

जाते हैं। दूसरी परम्परा अन्य तत्वों की भी सार्वकालिक एवं आत्यन्तिक स्थिति मानती है। इन परस्पर-विरुद्ध विचार प्रणालियों ने परवर्ती विचारकों के सामने अनेक प्रकार से वैदिक मन्त्र-द्रष्टाओं को व्याख्यान करने का अवकाश दे दिया। शंकर, रामानुज, मध्व निम्बार्क तथा वल्लभ आदि अपनी दृष्टि से इनका उपयोग करते हैं।

वैदिकेतर महाभारत, पुराणादि साहित्य में वैचारिक स्थिरता एवं स्पष्टता का आपेक्षिक अभाव मिलता है। अनेक परस्पर-विरोधी मत उपलभ्य हैं।[१] सामाजिक वातावरण में भी इस विविध वाङ्मयीन प्रवाह का प्रभाव था। अन्य विचारकों ने सम्भवतः इसे व्यामोहपूर्ण मानकर सम्पूर्ण साहित्य की उपेक्षा की है। यह वाङ्मयी विकसनशील वैचारिक दाय का वाहक है। महाभारत एवं पुराणादि को चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक था। शंकर तथा अन्य आचार्यों ने कहीं-कहीं कथ्य सम्पोपणार्थ उद्धृत अवश्य किया है किन्तु मुक्त-कण्ठ से दार्शनिक आधार स्वीकार करते हुए इनको संकोच होता है। मध्व ने अपने दार्शनिक स्रोत एवं आधार के रूप में इनकी भी प्रतिष्ठा की है।

महाभारत के अन्तर्गत हरिवंश पुराण में विष्णु की महत्ता आख्यात है।[२] महाभारत में मुख्य रूप से सांख्यानुसारी दृष्टि को स्थान मिला है तो भी उसमें एक ऐसे महापुरुष की मान्यता है जो अन्य पुरुषों का भरण करता है।[३] यह यद्यपि सेश्वर सांख्य के समीप है, तथापि द्वैतात्मक-प्रवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है। पुराणों का चिन्तन, सृष्टिप्रक्रिया तथा आत्म-तत्व विवेचन की दृष्टि से, अर्द्धयथार्थवादी प्रतीत होता है। शंकर के मत के अनुकूल ये सिद्धान्त नहीं हैं। गीता में भी इसी दृष्टि की प्रधानता है।[४] व्यक्ति के स्वयं के कृत्य उसकी सुख एवं दुःखोपलब्धि के लिए पर्याप्त नहीं है; उसे इस सन्दर्भ में विष्णु-तत्व की कृपा की अपेक्षा निश्चित रूप से रहती है। उसके सन्तोष का आधार भी वही तत्व है।[५] जीव को स्वयं कोई कार्य

१. महाभारत, ३।१४।११९
 'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।'
२. हरिवंश, ३।३२३
 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
 आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥'
३. महाभारत, १२।२६१।२२.
४. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फिलासफी, भाग ३, पृ० ४९.
५. विष्णुपुराण—रामानुज द्वारा उद्धृत—
 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
 विष्णुराराध्यते येन नान्यत्तत्तोषकारणम् ॥'

ईश्वर-सम्बन्धी विवेचन मध्व-सम्मत विष्णु के स्वरूप के समीपवर्ती है।[1] इसीलिए ड्यूसन तथा अन्य अनेक विद्वान इसे द्वैतवाद का समर्थक उपनिषद् मानते हैं।[2] चेतन तत्व मे ईश्वर एव जीव परस्पर भिन्न है।[3] मानवीय चेतना के आत्यन्तिक स्वरूप की रक्षा अन्त तक बनी रहती है। ब्रह्म का साम्य पूर्णतः न भी प्राप्त कर सके, तो कुछ अंशो मे तो समकक्ष हो ही जाता है। किन्तु अन्तिम अवस्था में भी ईश्वर अथवा उस व्यापक तत्व से लघुता बनी ही रहती है।[4] स्वप्नावस्था तथा उससे परे भी ईश्वर एव जीव का भेद श्रुति को अभीष्ट है।[5] ईश्वर की प्रशसा एव भक्ति-विषयिणी मान्यता भी प्राप्य है।[6]

उपनिषद् के उक्त सभी तथ्यो के प्रति मध्व की दृष्टि गई। स्वभावत' ये सभी सूत्र अद्वैत के विरोधी विचार को पुष्ट करने मे सहायक सिद्ध हुए। शकर ने इनकी पूर्ण उपेक्षा तो की ही, साथ ही इनके अर्थ के साथ अन्याय भी किया है। विचार, वैदिक साहित्य की इस सीमा तक, राह खोजता सा प्रतीत होता है। एक परम्परा एक तत्व को इतना अधिक महत्व देती है कि उसके सामने अन्य सभी तत्व तिरोहित हो

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।३
'एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सहरत्येष देवः।
भूय. सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्य कुरुते महात्मा ॥'

२. डा॰ राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ॰ ५११.

३. छान्दोग्य उपनिषद्, ८।१२।३, ८।५३, ८।२।१०.
कौषीतकी उपनिषद्, १।३-४

४. तैत्तिरीय उपनिषद् (आरण्यक) ३।१२।१
अतएव चानन्याधिपति । ४।४।९ ब्रह्मसूत्र.
वही, ४।४।१७.
'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।'

५. 'स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देव' कुरुते बहूनि ।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमान. जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥' ४।३।१३.
कठोपनिषद्, २।१।४
'स्वप्नान्त जगरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मान मत्वा धीरो न शोचति ॥'
बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।२१ ; ४।३। ३५.
तैत्तिरीयोपनिषद्, २।७.
कठोपनिषद्, २।३।१८. मुण्डकोपनिषद्, ३।१।२.

६. मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१.

है।[1] विचारों की दृष्टि से साहित्य का यह वर्ग मध्व के अधिक समीप है। इसीलिए मध्व के ग्रन्थों में आप्त प्रमाण के रूप में इनका विशद उपयोग है।[2] रामानुज द्वारा उद्धृत परमसंहिता से ज्ञात होता है कि अनादि, अनन्त एवं पारमार्थिक दृष्टि से निश्चित रूप में अचेतन तत्व है।[3] ईश्वर की आज्ञा से ही जीव अनादि कर्म से आबद्ध है।[4] व्यावहारिक क्षेत्र में नैष्कर्म्य सिद्धान्त की स्वीकृति इन संहिताओं में दी गई है।[5] मध्व का नैष्कर्म्य सिद्धान्त इस साहित्य पर ही आधारित है।

पुराणों की रचना तक दर्शन का सृजनात्मक पक्ष विकसित होता रहा। इसके उपरान्त व्याख्यानात्मक एवं समाहारपरक प्रवृत्ति चिन्तन को प्राप्त हुई। एक ओर पुराणों के अर्ध-यथार्थवादी चिन्तन तक नवीन योगदान के सूत्रों की अविच्छिन्नता रही। दूसरी ओर परस्परविरोधी मान्यताओं में समन्वय एवं विघटन भी चलता रहा।[6] इसी काल में आस्तिक परम्परा की आधार श्रुति के व्याख्यान में कतिपय साहसपूर्ण एवं मौलिक संकेत प्राप्त किए गए। इन व्याख्यानों में आदर्श एवं यथार्थ पर आधारित परस्पर संघर्षरत दो प्रवृत्तियां वृद्धिगत होती रहीं। यथार्थ पर आधारित न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा दर्शन की प्रणालियां सैद्धान्तिक स्वरूप लेकर उपस्थित हुईं। इसके साथ ही गौड़पाद तथा उनका अनुसरण करने वाली परम्परा में आदर्शवादी स्वर और भी प्रखर होता चला गया। वैसे दोनों ही वर्गों को किसी स्थिर एवं स्पष्ट विभाजक रेखा द्वारा विभाजित नहीं किया जा सकता। दोनों में दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियां न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती हैं। फिर भी प्रवृत्ति एवं स्वरूपगत बहुलता के कारण उन्हें दो शिविरों में वर्गीकृत कर दिया गया।

डा० बी० एन० के० शर्मा के अनुसार इन सभी चिन्तन सरणियों का निर्माण केवल वैचारिक उलझन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सका।[7] यह मत

१. श्रेडर इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र, पृ० ६.११.
२. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ् वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० ५५.
३. परमसंहिता, २।१८, 'अचेतनाः परार्थाश्च नित्याः सततविक्रियाः।
सह्यनादिरनन्ताश्च परमार्थेन निश्चिताः॥'
४. मध्व द्वारा उद्धृत—'अनादि कर्मणा बद्धो जीवः संसारमंडले।
वासुदेवाज्ञया नित्यं भ्रमति········॥'
५. भागवत, १।३।८
'तन्त्रं सात्वतमाचष्टे नैष्कर्म्यं कर्मणा यतः।'
६. डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५२.
७. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ् वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर भाग १, पृ० १४०.

करने अथवा न करने का कोई अधिकार नहीं है ।[1] उसकी सारी क्षमता किसी अन्य तत्व के अधीन है । वस्तुतः कर्म वही है जो हरि के सन्तोष का कारण हो ।[2] नैष्कर्म्य की यह व्याख्या वेदान्त के अद्वैतेतर सभी सिद्धान्तों को ग्राह्य है ।

उक्त नैष्कर्म्य सिद्धान्त को गीता मे आध्यात्मिक आधार पर प्रस्तुत किया गया। भागवत मत का यह विकास गीता मे प्राप्य है ।[3] मध्व ने इसे पांचरात्र सहिताओं का सक्षेप माना है ।[4] गीता में उपनिषद् के कर्म-विरोधी अतिवादी स्वर की प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है । गीता की सृष्टि-प्रक्रिया साख्य-सम्मत है ।[5] इसमे यह कही भी स्वीकार नही किया गया कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है; अन्य सभी या तो हैं ही नहीं अथवा मिथ्या हैं। माया का भी केवल तीन स्थानों मे ही उल्लेख मिलता है । किन्तु वह प्रयोग भी शकर की माया के स्वरूप का आधार नहीं हो सकता । कही भी यह उल्लेख नही मिलता कि माया के कारण जगत् की सत्ता है ।[6] साथ ही पुरुष के शाश्वतत्व और अनेकत्व को अनेकश. कहा है ।[7]

मध्व ने अन्य साहित्य की अपेक्षा पांचरात्र साहित्य को बहुत महत्व दिया है । इस को श्रुति के समान सीमित अधिकारियो का विषय न मानकर वेदार्थ उपबृहण के लिए सामान्य माध्यम के रूप मे स्वीकार किया गया ।[8] पांचरात्र मे आर्य तथा अन्य परवर्ती चिन्तकों का ज्ञान अनेक खण्डों मे संगृहीत है ।[9] दो सौ से अधिक सहिताओं के रूप मे ग्रन्थ हस्तलिखित ग्रन्थागारो मे आज भी प्राप्त

---

१. महाभारत, १२।२३५।८४
गीता, ३।६ 'नाह कर्त्ता न कर्त्तात्वं न कर्ता यस्तु सदा प्रभुः ।'
२. भागवत, ४।२६।४६—'तत्कर्म हरितोषयत् ।'
वही, ४।३०।४०—'वृणीमहे ते परितोषणाय ।'
३. डा० राधाकृष्णन, इडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ५२६.
४. ब्रह्मवैवर्तपुराण अनुव्याख्यान २।२ मे उद्धृत—
'इति गीता च तच्छास्त्र संक्षेप इति हीरितम् ।'
५. गीता, १४।३.
६. डा० एस० एन० दास गुप्ता, ए हिस्ट्री आफ़ इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४७८.
७. गीता, २।६.
८. व्योम सहिता—मध्व द्वारा उद्धृत ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१.
'स्त्रीशूद्रब्रह्मबन्धूनां तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता ।'
९. श्रेडर, इन्ट्रोडक्शन टु पाचरात्र, पृ० २.

भाषा में लिखा होने पर भी उसकी मध्व के अनुसार उसकी द्वैतपरकता को बिना किसी पूर्वाग्रह के स्वीकार किया जा सकता है। जगत् की यथार्थ सत्ता मानने के कारण ही सूत्रकार बौद्धों के द्वारा स्वीकृत जगत् की मात्र बौद्धिक स्थिति से सहमत नहीं हैं। क्षणभंगवाद के साथ-साथ योगाचार मत के ज्ञान एवं ज्ञेय की एकरूपता का भी खण्डन किया गया है। इससे सूत्रकार का अभिमत प्राप्त हो जाता है कि ये जगत् को सत्य, स्थिर एवं बुद्धि से स्वतन्त्र मानते हैं।[१] सांख्य के मत का खण्डन भी सूत्रकार की उसी दृष्टि की सम्पुष्टि है।[२] उक्त प्रसंग के व्याख्यान में शंकर ने भी इसी तथ्य को इंगित किया है।[३] अर्थात् ज्ञानात्मक प्रतीति भी बादरायण को इष्ट है। आत्मा और जीव एक ही में निवास करते हैं। आत्मा में अपूर्णताएं नहीं हैं। यह जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल देता है, अतः उसे दोषी नहीं मानना चाहिए।[४] जीव ब्रह्म का अंश है।[५] डा० दासगुप्ता के अनुसार इन सूत्रों का द्वैतपरक भाष्य ही सत्य के अधिक निकट है।[६] पूर्वपक्ष के रूप में ही सही, शंकर मतानुनायियों ने स्वीकार किया है कि सूत्रकार कहीं भी अभेद को स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं करते।[७]

शंकर के पूर्ववर्ती विचारकों में भी कतिपय यथार्थवादी थे। शंकर के द्वारा वृत्तिकार के रूप में उपवर्णित उपवर्ष को विशिष्टाद्वैत के विचारक अपने मत का पूर्वाचार्य मानते हैं।[८] टंक नामक विद्वान भास्कर के समान ब्रह्मपरिणामवादी के रूप में विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक उद्धरणों से शंकर के पूर्ववर्ती यथार्थवादी विवेचकों को स्मरण किया जा सकता है। किन्तु शंकर ने उनको महत्व नहीं दिया। उनकी इस अस्वीकारिता के मूल में सम्भवतः बौद्धों का आदर्शवाद था जो ईसा की प्रथम सदी से लेकर पांचवीं तक पुनरुज्जीवित होता रहा।[९] गौडपाद, जिनकी वैचारिक धरोहर को ही अद्वैत वेदान्त के रूप में शंकर ने विकसित किया, निश्चित

---

१. ब्रह्मसूत्र, २।२।२९
'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।'
२. डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४४३.
३. शंकर, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२९
'नैव जागरितोपलब्धं वस्तु कस्यांचिदवस्थायां बाध्यते।'
४. ब्रह्मसूत्र, २।१।३४.
५. वही, २।३।४३.
६. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४२१.
७. आनन्दगिरि, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य टीका, १।३।२९.
८. वेदान्तदेशिक, तत्वविवेक, ३.
९. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त, भाग १, पृ० ८९.

अधिक तर्कसंगत नहीं है। कुछ अंशों तक इसे सत्य माना जा सकता है कि तत्कालीन चिन्तन बौद्ध, जैन तथा अन्य आस्तिक विचारों की परम्परा भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद प्रचलित करती रही, तो भी ये सम्पूर्ण अनेकधा प्रचलित मत केवल उलझन उत्पन्न कर पाए हों, विश्वसनीय नहीं। साथ ही विकास के सिद्धान्त के विपरीत भी हैं। इस प्राप्त सामग्री का विद्वानों द्वारा उपयोग किया गया। इसके आधार पर ही विभिन्न वादों ने अपने मत में और अधिक परिष्कार किया है। ये सभी प्रयोग और विकासमान पादक्षेपों के पर्याय हैं। तो भी यहां पर उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बहुत से तथ्यों की उपेक्षा इन आचार्यों ने की है।

ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के साथ विभिन्न धाराओं का स्रोत रहा है। ब्रह्म-सूत्र के पूर्ववर्ती वातावरण में वैदिक साहित्य एवं मान्यताओं के प्रति अनास्था थी। यदि विचार ग्रहण भी किया गया तो क्रमाप्त परिवेश छोड़ कर। चार्वाक तथा अन्य नास्तिक दर्शनों ने वेद की अपौरुषेयता एवं सर्वोत्कृष्टता पर आघात किया। जन समुदाय की सुखाकांक्षी दृष्टि का उस ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही था।[१] बुद्ध धर्म नैतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए अधिक उन्मुख था, न कि जगत् के बौद्धिक समाधान की ओर। वह उस समय आत्मा का उपचारक बन कर उपस्थित हुआ।[२] आत्मा की सत्ता स्वीकार करके जैन मत ने अपनी पृथक् स्थिति प्राप्त की। वह कैवल्य के अति-रंजित रूप को प्रचारित करके जनता में प्रभावशाली हो रहा था।[३] बौद्ध एवं जैन विचारकों ने जगत् के कारणभूत किसी एक तत्व को नहीं माना। ऐसी अवस्था में आदर्शवादी वर्ग में वैदिक साहित्य के वचनों के संक्षिप्त संकलन की अपेक्षा थी। जगत् की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना की ओर ध्यान देकर उक्त मतों की प्रतिक्रिया आस्तिक वर्ग के एक व्यवस्थित दर्शन का विकास हुआ।[४] इसका प्रारम्भ करने वाला बादरायण था।[५]

वेदान्त के परस्पर विरोधी मतों को प्रतिपादित करने के लिए दर्शन के रूप में पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के द्वारा इन सूत्रों की रचना हुई।[६] अस्पष्ट

---

१. कारपेन्टर, थीइज्म इन मेडिवल इण्डिया, पृ० ५३.

२. वर्थ, रिलीजन आफ् इण्डिया, पृ० १२०.

३. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ५२.

४. वही, भाग १, पृ० ७८.

५. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१ 'वेदान्तकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। —शंकर.

६. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० १६८.

भाषा में लिखा होने पर भी उसकी मध्व के अनुसार उसकी द्वैतपरकता को विना किसी पूर्वाग्रह के स्वीकार किया जा सकता है। जगत् की यथार्थ सत्ता मानने के कारण ही सूत्रकार बौद्धों के द्वारा स्वीकृत जगत् की मात्र बौद्धिक स्थिति से सहमत नहीं हैं। क्षणभंगवाद के साथ-साथ योगाचार मत के ज्ञान एवं ज्ञेय की एकरूपता का भी खण्डन किया गया है। इससे सूत्रकार का अभिमत प्राप्त हो जाता है कि ये जगत् को सत्य, स्थिर एवं बुद्धि से स्वतन्त्र मानते हैं।[1] सांख्य के मत का खण्डन भी सूत्रकार की उसी दृष्टि की सम्पुष्टि है।[2] उक्त प्रसंग के व्याख्यान में शंकर ने भी इसी तथ्य को इंगित किया है।[3] अर्थात् ज्ञानात्मक प्रतीति भी बादरायण को इष्ट है। आत्मा और जीव एक ही में निवास करते हैं। आत्मा में अपूर्णताएं नहीं हैं। यह जीवों को उनके कर्म के अनुसार फल देता है, अतः उसे दोषी नहीं मानना चाहिए।[4] जीव ब्रह्म का अंश है।[5] डा० दासगुप्ता के अनुसार इन सूत्रों का द्वैतपरक भाष्य ही सत्य के अधिक निकट है।[6] पूर्वपक्ष के रूप में ही सही, शंकर मतानुनायियों ने स्वीकार किया है कि सूत्रकार कहीं भी अभेद को स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं करते।[7]

शंकर के पूर्ववर्ती विचारकों में भी कतिपय यथार्थवादी थे। शंकर के द्वारा वृत्तिकार के रूप में उपवर्णित उपवर्ष को विशिष्टाद्वैत के विचारक अपने मत का पूर्वाचार्य मानते हैं।[8] टंक नामक विद्वान भास्कर के समान ब्रह्मपरिणामवादी के रूप में विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक उद्धरणों से शंकर के पूर्ववर्ती यथार्थ-वादी विवेचकों को स्मरण किया जा सकता है। किन्तु शंकर ने उनको महत्व नहीं दिया। उनकी इस अस्वीकारिता के मूल में सम्भवतः बौद्धों का आदर्शवाद था जो ईसा की प्रथम सदी से लेकर पांचवीं तक पुनरुज्जीवित होता रहा।[9] गौडपाद, जिनकी वैचारिक धरोहर को ही अद्वैत वेदान्त के रूप में शंकर ने विकसित किया, निश्चित

---

१. ब्रह्मसूत्र, २।२।२९
'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।'
२. डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४४३.
३. शंकर, ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।२९
'नैव जागरितोपलब्धं वस्तु कस्यांश्चिदवस्थायां बाध्यते।'
४. ब्रह्मसूत्र, २।१।३४.
५. वही, २।३।४३.
६. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४२१.
७. आनन्दगिरि, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य टीका, १।३।२९.
८. वेदान्तदेशिक, तत्वविवेक, ३.
९. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त, भाग १, पृ० [illegible]

अधिक तर्कसंगत नहीं है। कुछ अर्थों तक इसे सत्य माना जा सकता है कि तत्कालीन चिन्तन बौद्ध, जैन तथा अन्य आस्तिक विचारों की परम्परा भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद प्रचलित करती रही, तो भी ये सम्पूर्ण अनेकधा प्रचलित मत केवल उलझन उत्पन्न कर पाए हों, विश्वसनीय नहीं। साथ ही विकास के सिद्धान्त के विपरीत भी है। इस प्राप्त सामग्री का विद्वानों द्वारा उपयोग किया गया। इसके आधार पर ही विभिन्न वादों ने अपने मत में और अधिक परिष्कार किया है। ये सभी प्रयोग और विकासमान पादक्षेपों के पर्याय हैं। तो भी यहां पर उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बहुत से तथ्यों की उपेक्षा इन आचार्यों ने की है।

ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् तथा गीता के साथ विभिन्न धाराओं का स्रोत रहा है। ब्रह्मसूत्र के पूर्ववर्ती वातावरण में वैदिक साहित्य एवं मान्यताओं के प्रति अनास्था थी। यदि विचार ग्रहण भी किया गया तो क्रमाप्त परिवेश छोड़ कर। चार्वाक तथा अन्य नास्तिक दर्शनों ने वेद की अपौरुषेयता एवं सर्वोत्कृष्टता पर आघात किया। जन समुदाय की सुखाकांक्षी दृष्टि का उस ओर उन्मुख होना स्वाभाविक ही था।[१] बुद्ध धर्म नैतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति के लिए अधिक उन्मुख था, न कि जगत् के बौद्धिक समाधान की ओर। वह उस समय आत्मा का उपचारक बन कर उपस्थित हुआ।[२] आत्मा की सत्ता स्वीकार करके जैन मत ने अपनी पृथक स्थिति प्राप्त की। वह कैवल्य के अतिरंजित रूप को प्रचारित करके जनता में प्रभावशाली हो रहा था।[३] बौद्ध एवं जैन विचारकों ने जगत् के कारणभूत किसी एक तत्व को नहीं माना। ऐसी अवस्था में आदर्शवादी वर्ग में वैदिक साहित्य के वचनों के संक्षिप्त संकलन की अपेक्षा थी। जगत की व्यावहारिक सत्ता की स्थापना की ओर ध्यान देकर उक्त मतों की प्रतिक्रिया आस्तिक वर्ग के एक व्यवस्थित दर्शन का विकास हुआ।[४] इसका प्रारम्भ करने वाला बादरायण था।[५]

वेदान्त के परस्पर विरोधी मत को प्रतिपादित करने के लिए दर्शन के रूप में पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के द्वारा इन सूत्रों की रचना हुई।[६] अस्पष्ट

१. कारपेन्टर, थीइज्म इन मेडिवल इंडिया, पृ० ५३.
२. बर्थ, रिलीजन आफ् इंडिया, पृ० १२०.
३. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० ५२.
४. वही, भाग १, पृ० ७८.
५. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१ 'वेदान्तकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।
वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते।' —शंकर.
६. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० १६८.

के अतिरिक्त कोई-नई विचारधारा प्रायः नहीं मिलती। मध्व तक ही चिन्तन की मौलिक परम्परा है।[1]

पद्मपुराण में मध्व के मत को ब्रह्मा से प्रारम्भ माना गया है।[2] मध्वसम्प्रदाय के मठों में प्राप्त सूची के अनुसार मध्व के आचार्य अच्युतप्रेक्ष्य थे।[3] मध्व अथवा उनकी परम्परा के द्वारा भले ही आचार्यों का उल्लेख मिले, किन्तु उनमें से किसी के कोई ग्रन्थ नहीं मिलते। मध्व ने अपना सम्बन्ध स्वयं व्यास से स्थापित किया है। मध्व की जन्म-तिथि ११९७ ई० विद्वानों द्वारा स्वीकार की गई है।[4]

मध्व की जीवनी के विषय में कोई आधिकारिक सूचना प्राप्त नहीं होती। 'मध्व विजय' नामक नारायणार्थ-विरचित ग्रन्थ से ही हम उनके विषय में जानकारी प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु वह सूचना इतने अधिक श्रद्धातिरेक एवं पौराणिक प्रसंगों से आपूरित है कि उसमें से तथ्यांश का ग्रहण अत्यन्त कठिन है। त्रिविक्रम पंडित के वन्दनात्मक छन्दों में भी जीवन-वृत्त-सम्बन्धी संकेत प्राप्य हैं। मध्व को वायु का अवतार माना गया है। शृंगेरी से पश्चिम की ओर, चालीस मील दूर, उडिपी के समीप, रजतपीठ के निवासी मध्यगेह भट्ट के पुत्र थे। उडिपी आज भी मध्वसम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'रजतपीठ' नामक स्थान को आधुनिक कल्याणपुर माना जा सकता है।[5] मध्व अच्युतप्रेक्ष्य के शिष्य थे तथा संन्यस्त के उपरान्त पूर्णप्रज्ञ एवं आनन्दतीर्थ के नाम से अभिहित किये जाते थे। पहले शंकर के मत का इन्होंने अध्ययन किया। बाद में, उससे सहमत न होने के कारण उन्होंने पृथक् मत की स्थापना कर ली। अच्युतप्रेक्ष्य के साथ उन्होंने दक्षिण-यात्रा की और विष्णुमंगल ग्राम में पहुंचे।[6] इसके उपरान्त धनुष्कोटि एवं रामेश्वर की यात्रा की। तदनन्तर उत्तर भारत में अपने मत का प्रसार किया। मध्व-विजय में मध्व के उन प्रयासों का श्रद्धातिरेक स्वरों में वर्णन है जो उन्होंने अपने मत के प्रसार के हेतु किए।[7]

मध्व के ग्रंथों की संख्या ३७ है। इन सभी कृतियों को चार भागों में बांटा जा सकता है।

१. प्रस्थानत्रयी का भाष्य—ब्रह्मसूत्र गीता तथा प्रमुख उपनिषदों की द्वैतपरक टीका।

---

१. मणिमंजरी, ८।३३.
२. डा० बी० एन० के० शर्मा, इंट्रोडक्शन टू चतुस्सूत्री मध्व भाष्य, पृ० २४.
३. सुमध्व विजय, ५।३.
४. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग ४, पृ० २५.
५. वही, पृ० ५३.
६. नारायणाचार्य, मध्व विजय, ५।३०.
७. मध्व विजय, ५।८-१६.

रूप से अजातिवादी बौद्धों के विज्ञानवाद एवं माध्यमिक सम्प्रदाय से प्रभावित थे। इसीलिए अनुश्रुति ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध माना।[1]

इस एकान्त आदर्शवाद के विरोध में बहुत शीघ्र अनेक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हुईं। रामानुज, भास्कर, निम्बार्क, बल्लभ तथा अन्य अनेक विचारक। शंकर के ही मत में परवर्ती काल मे विवरण तथा भामतीप्रस्थान नामक दो उपभेद एकान्त अद्वैत के प्रति असहिष्णुता को सूचित करते हैं।

ईसा की दसवी शताब्दी से ही दक्षिण में वैष्णव मत द्वारा समर्थित भक्ति का प्रचार बढ़ने लगा था। अतः वेदान्त के मायावादी स्वरूप मे परिवर्तन आना बहुत स्वाभाविक था।[2] यामुनाचार्य ने पूर्वविस्मृत बोधायन आदि आचार्यों को पुनरुज्जीवित किया। यामुनाचार्य एव रामानुज का उदय शंकर के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिचायक है। साथ ही इसके द्वारा द्वैतात्मक एव यथार्थवादी विचारकों की पूर्वागत परम्परा की अविच्छिन्नता की ओर भी सकेत मिलता है। किन्तु रामानुज की प्रतिक्रिया पूर्ण अन्तर लेकर नही बढी। चित् और अचित् के परस्पर-सम्बन्धों पर आधारित आपेक्षिक यथार्थवादी दृष्टि के कारण अनेक मतो का पुनरुन्नयन हुआ। इसी बीच छठी सदी ईस्वी से निरन्तर बारहवी सदी ईस्वी तक विकसनशील शैव मत का प्रभाव बढ रहा था। नायनमार सन्तों की रचनाएं वैष्णव मत के विरोध मे जनता मे प्रभाव स्थापित कर रही थी। इन सम्पूर्ण वैचारिक परिस्थितियो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अतियथार्थवादी विचारधारा की मध्व द्वारा स्थापना की गई। स्रोत की दृष्टि मे रामानुज ने केवल वैदिक साहित्य को ही विष्णु के स्वरूप का आधार माना, जबकि मध्व ने पुराण तथा पंचरात्र को भी ग्रहण करके अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया।

मध्व के पूर्व का यह व्यापक साहित्य निश्चित रूप से द्वैतात्मक प्रतीति के क्रमिक विकास को स्पष्ट करता है। अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों के कण्ठस्वर को अपने स्वर मे आत्मसात करते हुए शंकर के पूर्ण विरोधी मत की मध्व ने स्थापना की। चित् और अचित् के सम्बन्धो को पाच भागो मे मध्व ने विभक्त किया है। यह सत्य है कि इस वर्गीकरण मे मध्व कहीं-कहीं अतिवादी भी हैं; और कहीं-कहीं पूर्ण पुराणवादी। जैसे जड़ का जड़ से भेद तथा तमोबहुल एवं मुक्तियोग्य जीवो की स्वीकृति।

मध्व द्वैत के संस्थापक हैं। यहां तक भारतीय दर्शन के विकास मे मौलिकता मिलती है। इसके उपरान्त केवल परिभाषाओं के खण्डन-मण्डन मे प्रयुक्त सूक्ष्म तर्कों

---

1. वादि राजतीर्थ, युक्तिमल्लिका, १।५६
   'मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव च।'
2. डा० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एड इट्स लिट०, भाग १, पृ० ६०.

है।' घाटे का यह कथन अविचारिताभिवान है।[1] दर्शन के ग्रन्थों में तात्विक समीक्षा प्रमुख एवं भाषागत सौष्ठव गौण है। मध्व ने नूतन अथवा लुप्तप्राय विचार-क्रम का बीजारोपण किया है।

मध्व ने अपने जीवन-काल में ही अष्ट-मठों की स्थापना कर दी थी।[2] सम्भवतः इनका प्रारम्भ कृष्णा-पूजा के लिए हुआ था। किन्तु इनकी प्राथमिक व्यवस्था एवं स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। वैचारिक एवं आचारगत प्रचार की दृष्टि से मध्व ने स्वयं इस स्थान को अपने केन्द्र के रूप में विकसित किया। इन मठों में द्वैत मत के आचार्यों एवं साहित्य की सूचनाओं का व्यापक संग्रह है।

मध्व के उपरान्त द्वैत की परम्परा में ऋषिकेशतीर्थ की 'सम्प्रदाय पद्धति' उल्लेखनीय है। इसमें मध्व के जीवन-वृत्त के साथ-साथ उक्त सम्प्रदाय के आचार-व्यवहार-सम्बन्धी विवेचन भी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से पद्मनाभतीर्थ के विषय में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है।[3]

मध्व के अनुज विष्णुतीर्थ ने भी माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त संन्यास लिया। उसे साहित्य में महान योगी के नाम से सम्बोधित किया गया है।[4] संन्यस्त व्यक्तियों के कर्तव्यों का निर्देश करने वाला चार अध्यायों का 'संन्यासविधि' नामक पद्यात्मक ग्रन्थ विष्णुतीर्थ ने लिखा। इनमें विष्णुभक्ति के अधिकारी का विवेचन भी है।[5]

प्रारंभिक रचनाकारों की गणना में मध्व की अनुजा कल्याणदेवी का नाम उल्लेखनीय है। उसने कृष्णस्तोत्र, अणुवायुस्तुति तथा लघुतारतम्य स्तोत्र, इन तीन ग्रन्थों की रचना की।[6] परम्परानुसार त्रिविक्रम पंडित की भगिनी कल्याणदेवी ने भी लघुवायुस्तुति नामक ग्रन्थ की रचना की।[7]

त्रिविक्रम पंडित का द्वैत के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। मध्व विजय

१. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० १६८.
२. मध्व विजय, १४।१३१.
३. सम्प्रदायपद्धति, १८
४. मध्व विजय, १५।९१-९६.
५. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० २७९.
६. मध्व विजय, २।३५.
७. स्तोत्र महोदधि, पृ० २४९-५०.

२. दश प्रकरण—द्वैत विचारों के प्रतिपादक, स्वतंत्र रूप से लिखे गए खण्डन-मण्डन-परक ग्रन्थ ।
३. भागवत तात्पर्य निर्णय एवं ऋग्भाष्य ।
४. अन्य अस्फुट रचनाएं ।

भाषा अत्यन्त सामान्य एवं सरल है । सामासिक एवं दुरूह प्रयोगों की ओर मध्व की रुचि तो है ही नहीं, साथ ही शंकर के समान गद्य एवं पद्य का रूप न तो उतना प्रसन्न है और न ही प्रांजल । प्रकरण-ग्रन्थों की भाषा यद्यपि सरल है तो भी अस्पष्टता के कारण बिना टीका के सैद्धान्तिक भाव हृदयंगम करना कठिन है। डा० शर्मा के अनुसार भाषा के कारण ही मध्व के ग्रन्थों का भारतीय भाषा एवं विदेशी भाषा में अनुवाद नहीं हो सका ।[1] निस्सदेह भाषा का, प्रसार अथवा उपेक्षा में, महत्त्व अवश्य रहता है, किन्तु उतना नहीं जितना डा० शर्मा ने उसे दिया है। द्वैत के संस्थापक मध्व अवश्य हैं, किन्तु उनका व्याख्यान, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से, अपर्याप्त एवं अस्पष्ट है । अपूर्णता एवं संकेत मात्र दे देना मध्व की प्रवृत्ति है । प्रतिपादन को देखते हुए शंकर और रामानुज से वह पर्याप्त हीन कोटि का है । दार्शनिक मत के नाते द्वैत को प्रतिष्ठा वस्तुतः जयतीर्थ के प्रयासों से मिली । व्यासतीर्थ ने इसे और भी श्रेष्ठ तार्किक धरातल पर स्थापित किया । अतः उपेक्षा के दो कारणों की ओर संकेत किया जा सकता है—भाषा तथा विषय का अपुष्ट प्रतिपादन ।

डा० शर्मा से असहमत होते हुए यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि भाष्य-कार के रूप में मध्व अधिक प्रखर नहीं हैं। कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की उपेक्षा की गई है जिसे परवर्ती टीकाकारों ने परिष्कृत किया। मध्व के असंख्य उद्धरण भी संशोधकों के लिए समस्या हैं। इनके स्रोत का कहीं पता ही नहीं चलता। इसके कारण वर्ण्य के प्रामाण्य पर ही शंका होने लगती है। प्राचीन आचार्य अप्पय दीक्षित तथा आधुनिक विद्वान भंडारकर, वेल्वेल्कर तथा राघवेन्द्राचार आदि इसी प्रश्न को अनेकशः उठाते हैं। मध्व की भाषा में व्याकरण के सौष्ठव का भी अभाव है। कहीं-कहीं तो अपाणिनीय प्रयोग भी मिलते हैं।[2] मध्व ने अपने भाष्य ग्रन्थों की अस्पष्टता के कारण का स्वयं संकेत किया है।[3] किन्तु 'यह भाष्य किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० ११०.
२. अनुव्याख्यान, १।४।८ ; २।२।१२.
पतिना, गृह्य, जनयिता के लिए जनिता, समासान्त प्रत्ययों का अप्रयोग जैसे आदिराजानः आदि ।
३. ब्रह्मसूत्र भाष्य, १।१।१.

होकर नारायण ने उनकी मन्दबुद्धि का भी उल्लेख किया है।[1] द्वैतमतानुसारिणी परम्परा इसे महाकाव्य मानती है। अत्यधिक सौष्ठवपूर्ण भाषा एवं व्याकरणसम्मत दुरूह पदरचना का इसमें प्रयोग है।[2] किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य की अनेक संविधानिक एवं शास्त्रीय वाच्यताएं इसमें दृष्टिगोचर नहीं होतीं। अद्वैतमतानुयायियों को बहुत ही कठोर शब्दों में सम्बोधित किया गया है। अपशब्दों की इस परम्परा का श्रीगणेश मध्व ने किया किन्तु परवर्ती ग्रन्थों में नितान्त निम्नस्तरीय अपशब्दों का प्रयोग हुआ।[3] नारायण ने लगभग बीस ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से बारह प्रकाशित हो चुके हैं। अन्य हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में हैं। कुछ केवल उद्धरणों के माध्यम से ही ज्ञेय हैं।[4] विष्णतत्त्व निर्णय की टीका तत्वमंजरी का उल्लेख जगन्नाथ तीर्थ ने किया है।[5] अनुव्याख्यान की न्यायचंद्रिका नामक टीका में सरल तथा विवादरहित प्रसंगों का समावेश किया गया है। अनुमध्वविजय, भावप्रकाशिका तथा प्रमेयनवमालिका आदि ग्रन्थ उसके द्वारा प्रणीत हैं।[6] भावप्रकाशिका ऐतिहासिक तथा मणिमंजरी द्वैत-वेदान्त के पौराणिक उद्भव की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। शुभोदय, पारिजातहरण काव्य एवं योगदीपिका उपासना-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त भी कतिपय भावपरक स्तुतियां प्राप्य हैं। नारायण के शिष्य अथवा पुत्र ने अणुभाष्य पर टिप्पणी की रचना की[7]।

पद्मनाभतीर्थ (१३१८-२४)—प्राचीन टीकाकारों में पद्मनाभतीर्थ का स्थान स्मरणीय है। मध्वभाष्य पर सर्वप्रथम टीकाकार की प्रतिष्ठा इसी को प्राप्त है।

---

१. नारायण, मध्व विजय १५।१३६-१६७.
२. वही, १।१७ ३५-३८.
३. वादिराजतीर्थ, युक्तिमल्लिका, प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक श्लोक।
४. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० २८५.
५. भाष्यदीपिका, पृ० ३६.
६. मद्रास ओरियंटल लाइब्रेरी डिस्क्रिप्टिव कैटलाग, २१।१२।४४.
'सुमध्वविजयाभिधं व्यधितभावदीपाह्वयम्।
प्रमेयनवमालिकां पुनरिमां दक्षां च ताम्।
सतां श्रवणभूषणां व्यतनुतैष नारायणः ॥'
७. आनन्दमाला भूमिका का श्लोक—'अशेषवेदान्तकृतान्तसारव्याख्याविहारान्हरिभक्तिसिन्धून्।
त्रिविक्रमार्यान्परमान्गुरून्मे नारायणार्यश्च गुरून नतोऽस्मि ॥'

नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक नारायणाचार्य का वह पिता था। बारहवी सदी की समाप्ति के लगभग कुम्बल के शासक जयसिंह का यह पडित, मध्व के मत मे, अद्वैत छोड़कर, सम्मिलित हो गया। इसने मध्व के भाष्य पर तत्वप्रदीप नामक टीका लिखी।[१] उसके पुत्र ने मध्व विजय मे त्रिविक्रम का जीवन-चरित्र भी विस्तार से लिखा है।[२] त्रिविक्रम का अनुज शकराचार्य मध्व का ग्रन्थालयाध्यक्ष था। उसीके द्वारा त्रिविक्रम को मध्व का साहित्य पढने को मिला। विष्णुमंगलग्राम मे मध्व से पराजित होने पर वह उनका अनुगत बन गया।[3] उसने युवावस्था के प्रारम्भ मे ही उपाहरण नामक नौ सर्गों का महाकाव्य लिखा।[४] उपाहरण महाकाव्य मे गोमूत्रिका, मुरजबन्ध आदि चित्रकाव्य, श्लेष अलकार, मालिनी एव शार्दूलविक्रीड़ित छन्दो का प्रयोग किया गया है। कृत्रिम काव्यो की परम्परा मे इसकी भी गणना की जा सकती है। पद्मनाभ के उपरान्त तत्वप्रदीप नामक दूसरी टीका त्रिविक्रम पडित ने लिखी। भाषा पर्याप्त आलकारिक है। मध्व के सिद्धान्तो को उनके अन्य ग्रन्थो के आधार पर प्रतिपादित किया है। शकरार्य अथवा शकराचार्य त्रिविक्रम पडित के अनुज के द्वारा भी 'सम्बन्ध-दीपिका' नामक ग्रन्थ लिखा गया। किन्तु वह कोई अधिक महत्वपूर्ण कृति नही है।

नारायण यतीन्द्र, त्रिविक्रम का तीसरा पुत्र था। उसने त्रिविक्रम पडित की वदना बडे आदर से की है।[५] नारायण की ख्याति मध्व-विजय नामक मध्व के चरित्र-ग्रन्थ पर आधारित है। मध्व के समकालीन होने के कारण, अतिशयोक्ति छोडकर, अन्य प्रसंग अपेक्षाकृत विश्वसनीय माने जा सकते है। अन्य पडितो पर मध्व की विजय का अतिवादी चित्रण इसमे मिलता है।[६] मध्व के शिष्यो की गणना मे निष्पक्ष

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० २८०

२ मध्व विजय, सर्ग १३ एव १४.

३ वही, सर्ग १४

४ डा० बी० एन० के० शर्मा, लाइफ एड वर्क्स आफ त्रिविक्रम पडित—जर्नल आफ अन्नामलाई यूनिवर्सिटी, २।२.

५. नारायण, मध्वविजय (भावप्रकाशिका) अन्तिम श्लोक—
'त्रिविक्रमगुणनिधेः सुशिष्याः सुताः।
सतामभिमतास्त्रयो यस्तृतीयोऽत्र नारायणः॥'
वही, १।४
'तमोमुदानन्दमवाप्तलोकस्तत्वप्रदीपाकृति गोगणेन।
यदस्य शीतांशुभुवा गुरुस्तास्त्रिविक्रमार्यान् प्रणमामि वयान्॥'

६. वही, १।५-६-७.

परम्परा में प्रत्यक्षतः गृहीत हैं। वेदान्त सम्प्रदायों के विभिन्न आचार्यों से, भिन्न परिस्थितियों में प्राप्त साहित्य का यथार्थवादी दृष्टि से मध्व ने उपयोग किया। इन समकालीन विचारकों ने उस पर विचार किया। उनके विचार की संसूचिका यह ग्रन्थराशि, परिमाण में उल्लेखनीय है, किन्तु योगदान में सामान्य है। व्याख्यानों में सुदृढ़ता एवं गम्भीर-सूक्ष्म दृष्टि का अभाव है। परिणामतः अन्य प्रतिस्पर्धी मतों की तुलना में शास्त्रीयता का परिवेश इनमें नहीं है। मध्व ने पूर्ववर्ती सम्पूर्ण साहित्य—उपनिषद्, पुराण तथा पंचरात्र आदि से स्वमतानुरोधी उल्लेखों का संकलन किया है। वह भी सैद्धान्तिक दृष्टि से अपूर्ण अथवा कहीं-कहीं आत्मविरुद्ध है। ऐसे प्रसंगों में भाषा और भी अधिक नीरस तथा अस्पष्ट है। इन सम्पूर्ण अभावों को परवर्ती रचना-कारों द्वारा पूरा किया जाना अपेक्षित था। दिग्विजयों के उल्लेख करने वाले ग्रन्थ अतिवादी होने के साथ ही, प्रभाव-विषयक समाचार मात्र उपस्थित करते हैं। त्रिविक्रम तथा उसी के समान अन्य टीकाकारों ने यद्यपि उपबृंहण प्रस्तुत किया है तथापि न तो वह इतना मौलिक ही है और न शास्त्रीय ही।

इन टीकाकारों के उपरान्त महत्त्वपूर्ण स्थान जयतीर्थ का है। उससे पूर्व द्वैत-वेदान्त की परम्परा में उसके समान विचक्षणता, पाण्डित्य एवं निष्ठा का अभाव है। जयतीर्थ के मूल स्थान के विषय में पर्याप्त मतभेद है। गुरुचर्या के अनुसार वह वृष्टिखेट ग्राम का निवासी था।[1] व्यासतीर्थ द्वारा लिखित अनुजयतीर्थविजय एवं वृहज्जयतीर्थ विजय में जन्मस्थान के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसके पिता का नाम रघुनाथ था। जयतीर्थ का समय १२४७ से १२६८ ईस्वी है। अक्षोभ्य-तीर्थ के सम्पर्क से द्वैत मत ग्रहण किया।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि पद्मनाभ जयतीर्थ के गुरु थे।[3] टीकाकार के रूप में उसका द्वैत परम्परा में नितान्त स्पृहणीय स्थान है।[4] द्वैत मत के रूप त्रिमुनि में वह कामधुक् है।[5] पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग ४, पृ० १२
'वृष्टिखेटाधिपो घोण्डो रघुनाथाभिधः प्रभुः।'
२. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिट-रेचर, भाग १, पृ० ३२२.
३. डा० एच० ग्लेसनैप, मध्वाज फिलसफी डेस विष्णु ग्लौवेन, पृ० ५२.
४. न्यायामृत प्रारम्भिक श्लोक
'गुरुभावं व्यंजयन्ती भाति श्री जयतीर्थवाक्।'
जयतीर्थस्तुति, १.
५. 'जयार्यो कामधुक् स्मृतः।' (साम्प्रदायिक अनुश्रुति).

पद्मनाभ गोदावरी के तट पर उत्तरी कर्नाटक का निवासी था।[1] वह बहुत विद्वान एवं मध्व के वरिष्ठ शिष्यों में से था।[2] लगभग पन्द्रह हस्तलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। जयतीर्थ के पूर्ववर्ती टीकाकारों में उसका महत्व स्पष्ट ही है। मध्व के दसों प्रकरण-ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीता भाष्य एवं अनुव्याख्यान पर उक्त आचार्य की टीकाएं हैं। इनमें से अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के ही रूप में आज भी पड़ी हैं। मध्व के समकालीन टीकाकार होने के नाते नवीन मत के अस्पष्ट विचारों को तदनुसार समझने के लिए नितान्त उपयोगी है। प्रक्रिया एवं स्वरूप दोनों ही दृष्टि से जयतीर्थ पद्मनाभ के ऋणी हैं।[3] जयतीर्थ की विद्वता के आवरण में उसका व्यक्तित्व तिरोहित हो गया। यही कारण है कि उसके अधिक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सके।

नरहरितीर्थ—मध्वविजय में उल्लेख न मिलने पर भी श्रीकुरम् तथा अन्य स्थलों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वह भी मध्व का प्रत्यक्ष शिष्य था। किन्तु उनके जीवनवृत्त के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। नरहरिस्तोत्र में प्राप्त मनेक अन्धविश्वास एवं कपोलकल्पनाओं से घिरे हुए हैं। कथा को सत्य न भी माना जाय तो भी कलिंग में उसका प्रभाव अभिलेखों के आधार पर स्पष्टतया सिद्ध है। पद्मनाभ तीर्थ के उपरान्त वही मठाधीश था। अनेक ग्रन्थों के उल्लेख तो मिले हैं, किन्तु उपलब्ध ग्रन्थ, गीताभाष्य की भावप्रकाशिका नामक, अनेक स्थानों पर खण्डित टीका ही है।

अक्षोभ्यतीर्थ—उसे मध्व के प्रत्यक्ष शिष्यों में अन्तिम पीठाधिपति के रूप में द्वैत-परम्परा स्मरण करती है। साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार अद्वैत-वेदान्त के प्रमुख विचारक विद्यारण्य के साथ 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यार्थ पर विवाद हुआ था।[4] जयतीर्थ अपने आचार्य की दुर्वादिविदारण क्षमता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है।[5] जयतीर्थ को द्वैत-सम्प्रदाय का अनुगत बना देना अक्षोभ्य का महत्वपूर्ण कार्य था।

प्राचीन टीकाकारों के रूप में प्रसिद्ध,[6] यहां तक के विचारक मध्व के शिष्य-

---

१. मध्वविजय, १५।१२७; 'कर्नाटकोत्तरादेहि पद्मनाभमुनेरसौ।' गुरुचर्या-२.

२. मध्वविजय, ६।१७-१६.

३. जयतीर्थ, न्यायसुधा, १।४.

४. सम्प्रदाय में प्रचलित श्रुति
'विद्यारण्यमहारण्यमक्षोभ्यमुनिरच्छिनत्।'

५. भावप्रकाशिका, ४.

६. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृ० ३२०.

पटन के ब्रह्मण्यतीर्थ की कृपा से बल्लण्य सुमति को एक कन्या तथा दो पुत्र हुए। इसमें सबसे छोटे पुत्र का नाम यतिदास था। यही बाद में व्यासतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अध्ययन के उपरान्त अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार ब्रह्मण्यतीर्थ ने दूसरे पुत्र को ले लिया। १४७५-७६ के अकाल में ब्रह्मण्यतीर्थ की मृत्यु हुई। सम्भव है कि व्यास इस समय पीठाधिपति हुए हों, इसीसे उसके जन्म का सन् १४६० अनुमानित है।[1] किन्तु इस तिथि को विषय में मतभेद है।[2] सभी दार्शनिक मतों का अध्ययन कांची एवं श्रीपाद-राजमुलबागला के आश्रम में किया गया। कार्तवीर्य ने जिस प्रकार दत्तत्रेय का पूजन किया वैसे ही चन्द्रगिरि के नरेश ने व्यासतीर्थ का सम्मान किया।[3] अनुश्रुतियों के अनुसार तिरुपति की पहाड़ी पर श्रीनिवास के पूजन की स्थापना करके उसका भार अपने अनुचरों पर छोड़कर दक्षिण की ओर गए।[4] पन्द्रहवीं सदी के मध्य में विजयनगर के शासक के आध्यात्मिक निर्देशक के रूप में वहां गए तथा जीवन के अन्तिम क्षणों तक वहीं रहे।[5] इस पद की प्राप्ति के लिए व्यासतीर्थ को बासवभट्ट के नेतृत्व में गठित विद्वन्मण्डली से तीस दिवसीय विवाद करना पड़ा था।[6] तत्कालीन शासक वीर नरसिंह तथा कृष्णदेवराय द्वारा भी उनको बहुत सम्मानित किया गया। सोमनाथ के अनुसार राय उसे अपने कुलदेव से कम नहीं मानता था।[7] १५६ में व्यासतीर्थ को वेदकोंड ग्राम दिया गया, जिसका नाम बाद में व्याससमुद्र रखा गया। ८ मार्च, १५३६ को व्यासतीर्थ की मृत्यु हुई।

व्यासतीर्थ द्वैत-मत के वरिष्ठतम आचार्यों में हैं। जयतीर्थ के द्वारा प्रारम्भ की गई परम्परा को व्यसातीर्थ ने अपने प्रगाढ पाण्डित्य से समुज्वल बनाया; एवं न्याय की शैली में मध्व-सिद्धान्त को पूर्ण शास्त्रीयता प्रदान की। अनुक्त कथन व्यास की सफलता का आधार है।[8] अनुश्रुति उसे अत्यधिक सम्मानास्पद एवं बहुधीत के रूप में मानती है।[9] सोमनाथ ने कृष्णदेवराय के द्वारा व्यास के पूजन का मार्मिक वर्णन

१. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एन्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृ० १२६.
२. श्रीकण्ठ शास्त्री, डेव्हलपमेंट आफ संस्कृत एंड विजयनगर, पृ० १७.
३. सोमनाथ, व्यासयोगिचरित, पृ० ४०.
४. वी० वैंकोबाराव, मध्व टु व्यास, पृ० १८.
५. व्यासयोगिचरित, पृ० ५४.
६. वही, पृ० ६१.
७. वही, पृ० ७१-५.
८. न्यायामृत, १।१ : 'अनुक्तकथनात्क्वापि सकलोऽयं मम श्रमः।'
९. 'यदधीतं तदधीतं यदनधीतं तदप्यधीतम्।
पक्षधरविपक्षो नावेक्षि विना नवीनव्यासेन॥' साम्प्रदायिक अनुश्रुति।

नितान्त श्रद्धा के साथ आत्मसात करके, अत्यधिक प्रौढता एवं विद्वत्ता के साथ जयतीर्थ ने ग्रन्थों का निर्माण किया।[1] भारतीय चिन्तन मे तार्किक क्षमता की दृष्टि से वह अद्वितीय है।[2] अद्वैत के अनेक आचार्यों की विशेषताओ का समाहार जयतीर्थ मे मिलता है। जयतीर्थ ने मध्व के प्रायः सभी ग्रन्थो पर टीकाए लिखी हैं। 'वादावली' एव 'प्रमाणलक्षणपद्धति' ये दो स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ हैं।

जयतीर्थ के उपरान्त अनेक आचार्यों ने विशेष रूप से अद्वैत के खण्डन के लिए ग्रन्थो का निर्माण किया। विष्णुदासाचार्य (१३९०-१४४०) व्यासतीर्थ के पाचवें गुरु तथा राजेन्द्रतीर्थ के शिष्य थे।[3] उक्त प्रकार के सघर्षपरक खण्डनात्मक ग्रन्थों का सामान्यत प्रारम्भ इन्ही से होता है। वादरत्नावली की रचना विष्णुदासाचार्य ने की। व्यासतीर्थ का काल उक्त आचार्य से लगभग एक शताब्दी उपरान्त है। जयतीर्थ के मार्ग का अनुसरण करने वाले विचारको मे व्यासतीर्थ का स्थान बहुत ही महत्व का है। नैयायिक प्रक्रिया की तर्कोष्णता जयतीर्थ की अपेक्षा अधिक है। गगेश उपाध्याय द्वारा प्रचारित मार्ग का व्यासतीर्थ ने पूर्ण उपयोग किया। इसके परिणामस्वरूप द्वैत एव अद्वैत लेखको के द्वारा परस्पर प्रतिद्वन्द्वी साहित्य का विपुल निर्माण हुआ।[4] डा० दासगुप्ता का यह मत पूर्णरूपेण ग्राह्य है कि जयतीर्थ और व्यासतीर्थ की तार्किक क्षमता एव प्रौढ पाण्डित्य, अद्वैत एव विशिष्टाद्वैत विद्वानो मे नही है।[5] इनकी समानता मे केवल हर्ष एव चित्सुख का ही ग्रहण हो सकता है। द्वैत-साहित्य मे व्यासराय, व्यासतीर्थ, व्यासस्वामी के नाम से प्रसिद्ध यह आचार्य ब्रह्मण्यतीर्थ का शिष्य था।[6] सोमनाथ द्वारा लिखे गए व्यासयोगिचरित की उपलब्धि के पूर्व तक व्यासतीर्थ की पूर्ण अवहेलना की गई।[7] इसके अतिरिक्त पुरन्दरदास के गीत एव अभिलेखो के आधार पर उसके जीवनवृत्त की स्थूल रूपरेखा बनाई जा सकती है। ईस्वी १४६० मे यह मैसूर राज्य के बैन्नूर ग्राम मे उत्पन्न हुआ।[8] चन्न-

---

१. तीर्थप्रबन्ध, ३ १८.
२. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी, भाग ४, भूमिका, पृ० २,
३. डा० बी० एन० के० शर्मा, जीनियोलाजिकल टेबल-३
४. के० बी चतुर्वेदी, 'पोलेमिकल लिटरेचर इन द्वैत वेदान्त, मालविका, भाग १.
५. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी, भाग ३, पृ० १११.
६. डा० बी० एन० के० शर्मा, जीनियोलाजिकल टेबल-३।१.
७. डा० बी० एन० के शर्मा ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृ० २४.
८. सोमनाथ, व्यासयोगिचरित, पृ० १६४.

प्रमाणपद्धतिव्याख्या, अधिकरणमाला, चन्द्रिकोदाहृतन्यायविवरणम्, अप्पयकपोलचपेटिका, मध्वाध्वकण्टकोद्धार, चक्रमीमांसा, न्यायमुकुर, परतत्वप्रकाशिका, न्यायसंग्रह, सिद्धान्तसारासारविवेक प्रथम तथा द्वितीय भाग, आनन्दतारतम्यवादार्थ, न्यायाध्वदीपिका, श्रुतितात्पर्यकौमुदी, उपसंहरविजय, नयपंचकमाला, वाग्वेश्वरी नारायणशब्दार्थनिर्वचनम्, प्रणवदर्पखण्डनम्, पिष्ठपशुमीमांसा,[1] कुचोद्यकुठार, अद्वैतशिक्षा, श्रुत्यर्थसार तथा शैवसर्वस्वखण्डनम् आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राप्य हैं। दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्यात्मक ग्रन्थों का भी प्रणयन विजयीन्द्र ने किया है।[2]

व्यास के विरुद्ध मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैत-सिद्धि की रचना की। अद्वैतसिद्धि का उत्तर व्यसरामाचार्य ने न्यायामृततरंगिणी में दिया। आनंदभट्टारक ने भी इसी परम्परा में न्यायामृकण्टकोद्धार नामक ग्रन्थ लिखा। वनमालिमिश्र नामक प्रसिद्ध विद्वान् ने तरंगिणी के विरोध में रचित ब्रह्मानन्द सरस्वती की गुरुचन्द्रिका एवं लघुचन्द्रिका का खण्डन तरंगिणी सौरभ एवं न्यायामृतसौगन्ध्य में किया।[3] चण्डमारुत, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, भक्तिरत्नाकार, मध्वमुखालंकार,[4] जीवेश्वराभेदधिक्कार, प्रमाणसंग्रह, अभिनवपरिमल तथा अद्वैतसिद्धिखण्डन आदि ग्रन्थों का प्रणयन भी वनमालि ने किया।[5]

वादिराजतीर्थ (१६०० ईस्वी)—व्यासतीर्थ के प्रत्यक्ष शिष्य होने के कारण महत्वपूर्ण हैं। वादिराज द्वारा रचित लम्बी ग्रन्थ-परम्परा सुनी जाती है। उपन्यासरत्नमाला, तत्वप्रकाशिकागुर्वर्थदीपिका, न्यायसुधागर्वर्थदीपिका, ईशोपनिषद्टिप्पणी, गीताभाष्यटिप्पणी, एकोनपंचपादिका, विवरणव्रणम्, पाषण्डखण्डनम्, युक्तिमल्लिका, न्यायरत्नावली, मध्ववाग्वज्रावली, वृन्दवनाख्यान, श्रुतितत्वप्रकाश, कल्पलता, लतालंकार, महाभारतात्पर्यनिर्णय पर भावप्रकाशिका, ब्रह्मसूत्रनिबद्धाधिकरणनामावली, नैवेद्यसमर्पणप्रकार, श्रीपादराजशतकम्, वैकुण्ठवर्णनम्, हयग्रीवपंचकम्, केशवादिचतुर्विंशतिमूर्तिलक्षस्तुति, त्रिविक्रमस्तोत्र, आपादस्तोत्र, कृष्णस्तुति, श्रीशगुणदर्पण, वेंकटेशमंगलाष्टक, प्रार्थनादशक, रौप्यपीठपुरकृष्णस्तुति, प्रश्नावली, हरिभक्तिसार, स्तोत्रमाला, तन्त्रसारसंग्रह तथा दीनत्रयनिर्णय आदि ग्रन्थ वादिराज रचित हैं। वादिराज के कवि-

१. आर० नागराज शर्मा, रेन आफ रियलिज्म इन इंडियन फिलासफी, पृ० २५.
२. सुभद्रा धनंजय, उभयग्रस्तराहूदयदो रूपक तथा अप्पय की चित्रमीमांसा के विरोध में चित्रमीमांसाखण्डनम्.
३. बी० एन० शर्मा, 'ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृ० १५०.
४. म० म० गोपीनाथ द्वारा सम्पादित.
५. मध्वमुखालंकार की भूमिका : सम्पादक म० म० गोपीनाथ कविराज, पृ० १.

किया है।[1] कर्नाटक के अभिलेखीय साक्ष्य भी उसकी महत्ता को पुष्ट करते हैं।[2] वस्तुत: इस मत के विकास मे, व्यास द्वितीय संस्थापक के रूप मे स्थित हैं। यही से परस्पर खण्डन-मण्डन के स्वतन्त्र ग्रन्थो के लेखक की परम्परा चली। व्यासतीर्थ ने न्यायामृत, तात्पर्यचन्द्रिका, तर्कताण्डव, भेदोज्जीवन, मायावादखण्डमन्दारमजरी, प्रपचमिथ्यात्वानुमान-खण्डमन्दारमजरी, उपाधिखण्डनमन्दारमजरी तथा तत्वविवेक-मन्दारमजरी की रचना की।[3] द्वैत-परम्परा व्यासतीर्थ को चिन्तामणि मानती है।[4] व्यासतीर्थ का एक अन्य खण्डनात्मक ग्रन्थ का सन्दर्भ अभी हाल मे ही प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ का नाम, 'सत्तर्कविलास' है। इसे व्यासतीर्थ ने मायावादखण्डनटीका मन्दार-मजरी मे सदर्भित किया है। इसकी प्राप्ति किसी भी हस्तलिखित ग्रन्थागार मे नही हुई। इसको मिलाकर इस लेखक की ग्रन्थ सख्या नौ हो जाती है।

विजयीन्द्रतीर्थ—(१५३९-९५)—श्रीपादराजाष्टकम् के अनुसार विजयीन्द्र-तथा वादिराजतीर्थ दोनो ही व्यासतीर्थ के शिष्य थे।[5] परम्परानुसार इसने एक सौ चार ग्रन्थो की रचना की। किन्तु हस्तलिखित एवं प्रकाशित रूप मे केवल तीस ही उपलब्ध है। अद्वैत मत के प्रसिद्ध विद्वान अप्पयदीक्षित का यह समकालीन था। अधिकांश समय वह कुम्भकोणम मे रहा।[6] दस प्रकरणो के टीकाकार के रूप मे ख्यात होने पर भी तत्वोद्योत एव तत्वसख्यान पर ही टिप्पणी मिलती है। सूत्र प्रस्थान मे मध्व के ब्रह्मसूत्रभाष्य, न्यायविवरण तथा अनुव्याख्या पर टिप्पणिया लिखी हैं। मध्व-नयमजरी, न्यायामृत की टीका लघु आमोद,[7] चन्द्रिका की टीका न्यायमौक्तिकमाला,[8]

---

१. सोमनाथ, व्यासयोगिचरित, पृ० ७२
'यावत्यो घनसम्पदो गुणगणो यावांश्च यावद्यशस्तावत्कर्तुमियेष पूजनमसौ श्रीव्यासभिक्षोर्नृपः।'

२. एपिग्राफिका कर्नाटिका,
'पुराणपुण्यध्यानपुण्यपुष्कलमूर्तये । मध्वाचार्यमताम्भोजमार्तण्डायितमूर्तये ॥
ब्रह्मण्यतीर्थशिष्याय ब्रह्मनिर्मलमूर्तये । व्यासतीर्थयतीन्द्राय विद्वदिन्दीवरेन्दवे ॥

३. डा० बी० एन० के शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त, भाग २, पृ० ५८.

४. चिन्तामणिस्तु व्यासा। मुनित्रयो मुदाहृतम्। परम्परागतख्याति।

५. ३।६

६. मैसूर आर्कियालाजिकल रिपोर्ट.

७. भेदविद्याविलास, पृ० २४.

८. आर० नागराज शर्मा, रेन आफ रियलिज्म इन इडियन फिलासफी, पृ० ३.

मर्म के परिचायक रुक्मिणीशविजय एव सरसभारतीविलास हैं। वादिराज का अन्य लेखको की तुलना मे विशिष्ट ग्रन्थ तीर्थप्रबन्ध है। इसमे अनेक भारतीय तीर्थों का विवरणात्मक एव दिशाओ के आधार पर वर्गीकृत वर्णन है।

द्वैत के अहम्मन्य एव परम्परागत ज्ञान के विद्वन्मन्य विचारक के रूप में सत्यध्यानयति (१६४८-१६७४ ईस्वी) उल्लेखनीय है। प्राप्त सूचनाओ के आधार पर उसके द्वारा बारह ग्रन्थो की रचना की गई। खण्डनत्रयटिप्पणी, कर्मनिर्णय पर कर्म-प्रकाशिका टीका, न्यायसुधा पर परशु नामक टीका किन्तु यह अप्राप्य है। अभिनवचन्द्रिका, ऋग्भाष्यटिप्पणी, अभिनवामृत अभितर्कताण्डवविजयमाला तथा अप्पयदीक्षित के विरोध मे लिखित अभिनवगदा।[1]

अपने-आपको नारायणभट्ट का शिष्य कहने वाले गौडपूर्णानन्द चक्रवर्तिन् का समय तथा जीवनी अज्ञात है। सन्दर्भों के आधार पर उसे सत्रहवी सदी का माना जा सकता है।[2] इसका प्रमुख ग्रन्थ तत्त्वमुक्तावली अथवा मायावादशत दूषणी है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक टीकाकारो एव ग्रन्थकारो की व्यापक परम्परा ने इस मत की श्रीवृद्धि की। प्रायः वे सभी ग्रन्थ हस्तलिखित पोथियो के रूप मे ही सुरक्षित हैं।

बगाल का भक्तिपरक वैष्णव-सम्प्रदाय व्यापक मात्रा मे मध्व से प्रभावित था। यद्यपि चैतन्य ने संन्यास अद्वैतमतानुयायी विरक्त से लिया, तो भी उस परम्परा के लेखक बल्देव विद्याभूषण आदि की मान्यतानुसार अचिन्त्य-भेदाभेद का आधार मध्व-चिन्तन ही है। इसीलिए इसे माध्वगौडीय सम्प्रदाय भी कहा जाता है। किन्तु एस० के० डे तथा अन्य बग विद्वान् मध्व के सिद्धान्तो से भिन्न सिद्धान्तो को मानने के कारण इसे पृथक् मानते हैं। उनके अनुसार परवर्ती लेखको ने स्वेच्छा से गुरु-परम्परा का निर्माण करके मध्व से उसका सम्बन्ध स्थापित कर दिया। डा० शर्मा ने कतिपय उद्धरणो एव गुरुपरम्परा के आधार पर चैतन्य को मध्वानुगत माना है।[3] कुछ अंशो मे यह मत भले ही सत्य हो किन्तु पूर्णरूपेण मध्वानुगत मानना उचित नहीं। विष्णुसर्वोत्कृष्टता तथा उसकी कृपा पर आधारित भक्ति मध्व के अतिरिक्त, अन्य वेदान्त मे भी है। सम्भव है कि वहां से चैतन्य ने उसे ग्रहण किया हो। सम्भव है कि उस भक्तिधारा की ओर किसी मध्व के मत के आचार्य ने उन्मुख किया हो

---

१. अभिनवगदा, १।३

'गदापेये दीक्षितस्य मृषे दुरभिमानिनः।
पातयामि शिरस्यद्य गुर्वीमभिनवां गदाम् ॥'

२. डा० बी० एन० के० शर्मा, ए हिस्ट्री आफ द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एंड इट्स लिटरेचर, भाग २, पृ० २७५.

३. वही, पृ० ३३२.

तृतीय अध्याय

द्वैत-वेदान्त में पदार्थ-विवेचन

'तत्त्व' की अनेक परिभाषाएं विभिन्न शास्त्रकारों ने उल्लिखित की हैं। माध्यमिककारिका के अनुसार—निर्विकल्प, प्रपंचों से अप्रपंचित, अनेकार्थरहित एवं शान्त यह, आर्यों के निमित्त, तत्व का लक्षण है एवं लौकिक दृष्टि से जानने के उपरान्त भी, वह वहीं नहीं रहता जो जाना गया है, उससे भिन्न भी नहीं रहता, न उच्छिन्न है, न शाश्वत, उसी को तत्व कहेंगे।[1] माध्यमिककारिकाकार की उक्त परिभाषा बौद्ध-दृष्टि से संवलित है।

न्यायभाष्यकार ने तत्व क्या है? इसके उत्तर में व्यक्त किया कि, 'सत् का सत् मात्र होना एवं असत् का असत् मात्र होना ही तत्व है। अर्थात् जो जैसा है, उसे उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है।'[2]

'अर्थ जिस रूप में अवस्थित है, उसमें ही अवस्थित रहकर जो तथा-भूत-प्रत्यय का निमित्त बनता है, वह तत्व है।'[3]

शंकर के अनुसार, 'द्रव्य का अविकृत होना ही तत्व है, क्योंकि उसमें दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती। विकार तत्व नहीं होता, क्योंकि उसके लिए अपरसहयोग अपेक्षित है।'[4]

'जो अर्थ जिस रूप में स्थित है, उनका वैसा होना तत्व है।'[5]

अमरकोशकार ने 'तत्व' को 'ब्रह्म' और 'यथार्थ का पर्याय माना है। (तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये।)

जयतीर्थ ने, 'स्वरूप, प्रमिति एवं प्रवृत्ति तीनों प्रकार की सत्ता से अर्थ का

---

१. माध्यमिककारिका—१८।९-१०.

२. न्यायभाष्य १।१।१.

प्राप्त कर रहे हैं। अनन्तकृष्णशास्त्री के नवनिर्मित संस्कृत ग्रन्थ के विरोध मे अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे है। डा० ए० के० नारायण ने 'आउट लाइन आफ मध्व फिलासफी' की रचना की।

द्वैतात्मक चिन्तन की इस व्यापक एवं निरन्तर विकसनशील परम्परा का स्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहासकारो द्वारा प्रायः उपेक्षित रहा। दक्षिण भारत के जन-जीवन पर आज भी इसका बहुत गम्भीर प्रभाव है। उक्त उल्लेख उस विस्तृत ग्रन्थराशि की ओर संकेत मात्र ही हो सकते हैं। यथार्थवादी दृष्टि के परिपोषकर्ता इस मत का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी अपेक्षित है।

कालतः देशतः सीमित होने पर भी तत्वतः हो सकती है। तत्त्व होने के लिए त्रिकालगत निषेध का अभाव होना चाहिए। किसी वस्तु का विनाश उसकी सत्ता का बाध नहीं है, अपितु त्रैकालिक दृष्टि से किसी वस्तु की सत्ता के निषेध को बाध कहा जा सकता है। यदि किसी एक काल में ही किसी वस्तु की सत्ता प्राप्त है, तो फिर उसे असत्व कैसे कहा जा सकता है?[1] अद्वैत एवं बौद्ध दोनों एकान्त मतों की अपेक्षा मध्व ने न्याय-सहकृत इसी धारणा को स्वीकार किया है, कि यदि वस्तु किसी देशकाल से सम्बन्धित है, तो उसे सत्व मान लेना चाहिए; भले ही पूर्वापरवर्त्ती काल में एवं अन्यत्र उसकी स्थिति न हो। शंकर के द्वारा ग्रहीत व्यावहारिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता तथा पारमार्थिक सत्ता आदि-संज्ञागत भेद व्यर्थ हैं। सत्ता सदैव पारमार्थिक ही होगी। वस्तु या तो होगी ही नहीं अथवा होगी। यह सम्भव नहीं है, कि कोई तत्व व्यवहारतः सत् हो, किन्तु परमार्थतः असत् हो। अतः मध्व मिथ्यात्त्व को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं।

'तत्त्व' को उक्त स्वरूप के ग्रहणोपरान्त 'सत्ता' गत श्रेष्ठता आदि के क्रम का भी विवेचन अपेक्षित है। जगत्, जीव आदि सभी तत्वों में एक ऐसे तत्व का आकलन अनिवार्य है, जो इन सबका आधार हो, स्वतंत्र हो तथा अन्य सभी जिसके अधीन हों। इस 'तत्व' का निर्धारण इसलिए भी आवश्यक है कि इसके न मानने पर 'जगत्' में प्राप्त व्यवस्था का समाधान क्या होगा? मध्व ने इस 'तत्व' को दृढता से प्रतिपादित किया है।[2]

'सत्ता' का सर्वोत्तम रूप स्वातंत्र्य है। यह क्रिया एवं चैतन्य दोनों आधारों पर होना चाहिए। इसी तथ्य की सर्वोत्कृष्टता को व्यक्त करने के लिए पराधीन तत्व को असत् भी कह दिया जाता है।[3] जयतीर्थ के मत से स्वरूप, प्रमिति एवं प्रवृत्ति-गत्त सत्ता के लिए पराधीन न होना स्वतंत्रत्व है। स्वतंत्र 'तत्व' की मान्यता अन्य दार्शनिक मतों ने भी स्वीकार की है, किन्तु ईश्वर को स्वतंत्र तत्व का स्थानापन्न अन्य मतों ने ग्रहण नहीं किया। शंकर का अद्वय-ब्रह्म, जयतीर्थ की उक्त परिभाषा के अनुसार, स्वतंत्र तत्व के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। विशिष्टाद्वैत में भी विशिष्टैक्य-रूप ब्रह्म में भी परानपेक्षत्व नहीं है। परानपेक्षत्व के लिए पर का तथा

१. जयतीर्थ—'नहि विनाशो बाधः अपितु कालत्रयसत्तानिषेधः। न ्येकस्मिन्काले सतः स सम्भवति।' वि० तत्वविनि० टीका, पृष्ठ ९५.

२. मध्व—'यत्स्थितं दृश्यते वस्तु संस्थानं तदुदीरितम्।
उभय हरिरेवास्य जगतो मुनिपुंगव ॥' भा० तां०, पृष्ठ १३.

३. वही—'वस्तु स्वतन्त्रमुद्दिष्टमस्वतन्त्रमवस्तु च।
स्वाधीनं सदिति प्रोक्तं पराधीनमसत् स्मृतम्।' भा० ता०, पृष्ठ १०८.

युक्त होना, तत्व माना है।'[1]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'तत्व' की परिभाषा मे विचारकों मे यत्किंचित् अन्तर अवश्य है। यह अन्तर उनकी दार्शनिक मान्यता के स्थापन के परिणामस्वरूप है। फिर भी 'यथार्थता' के पर्याय के रूप में, सामान्य रूप से, सभी चिन्तकों ने तत्व-पद के अर्थ का ग्रहण किया है। जयतीर्थ ने स्वरूप, ज्ञान एवं व्यापार को लक्ष्य करके यथार्थता को और अधिक स्पष्ट किया है। सत्ता का उक्त त्रैविध्य के आधार पर होना अपेक्षित है, किन्तु वह अनारोपित अवश्य होना चाहिए। किसी प्रकार का आरोप वस्तु की सत्ता को तिरोहित कर देता है। यही तथ्य पूर्वोक्त न्यायभाष्यकार की परिभाषा से भी उपलब्ध है।

मध्व की परिभाषा 'तत्त्वम् अनारोपितम्'[2] से प्रश्न उठा कि क्या केवल सत्ता तत्व है? अथवा सत्ता का ज्ञान तत्व है? अथवा काल और आकाश मे स्थित रहना तत्व है? अथवा प्रत्येक काल और सम्पूर्ण आकाश मे रहना तत्व है? जो है वह सभी वास्तव हो यह सम्भव नही। अतः मात्र 'रहना' तत्व की परिभाषा नही हो सकती। यदि यही ग्रहण किया गया तो फिर भ्रम की स्थिति ही नही रहेगी। इस अनादि संसार मे प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों में भ्रान्ति और वास्तविकता दोनों ही प्राप्त होते हैं।[3] आभासमात्र वस्तुता नही है। सत्ता किसी विशेष काल एवं देश से सम्बन्धित स्थिति पर भी आधारित हो सकती है। यह आवश्यक नही कि सत्ता के लिए सर्वदेशकालसम्बन्धित हो।

तत्व के निर्णय के निमित्त अर्थक्रियाकारित्व भी एक आधार है। काल्पनिक रजत से कोई भी पात्रादि का निर्माण नहीं कर सकता। सर्प के भ्रम के प्रसंग में, जहा भयादि की प्रतीति हो रही है,[4] वहां 'सत्ता' का भाग अवश्य है, क्योंकि उसमें अर्थक्रियाकारित्व है। उस भ्रम मे रज्जु भय का कारण नही है अपितु सर्पप्रतीति ही भय का हेतु है और वह सत है, यह दूसरी बात है, कि उसे यहां भ्रमवशात् ग्रहण कर लिया गया है।

'तत्व' न तो बौद्धों के अनुसार केवल क्षणिक है और न अद्वैत वेदान्तियों के अनुसार शाश्वतिक रूप से नित्य तथा देशतः एवं कालतः अव्याहत हो।[5] कोई वस्तु

१. जयतीर्थ—'स्वरूपप्रमितिप्रवृत्तिलक्षणा सत्ता त्रैविध्यम्।' तत्वसंख्यानटीका, पृष्ठ १.
२. मध्व—तत्वसंख्यान, पृष्ठ १.
३. जयतीर्थ—'अनादौ च संसारे, इन्द्रियलिंग-शब्द-जन्येषु ज्ञानेषु द्वयी गतिमनुसन्दधत्।' न्यायसुधा, पृष्ठ २१८.
४. जयतीर्थ—'रज्जुज्ञानस्यैव भयकम्पादिजनकत्वात्।' वादावली, पृष्ठ ४६.
५. वही—'न हि सत्ता सर्वदेशकालसत्ता भवितव्यमिति नियामकमस्ति।' न्यायसुधा, पृष्ठ २१७.

को भी उपादान के अन्तर्गत ही ग्रहण किया गया है, अतः उपादानत्व जिस तत्व में हो, वह द्रव्य है।

पदार्थ-संग्रह के अनुसार द्रव्य वीस (२०) प्रकार के हैं।

(१) ईश्वर
(२) लक्ष्मी
(३) जीव
(४) अव्याकृताकाश
(५) प्रकृति
(६) गुणत्रय
(७) महत्
(८) अहंकार
(९) बुद्धि
(१०) मन
(११) इन्द्रिय
(१२) तन्मात्राएं
(१३) भूत
(१४) ब्रह्माण्ड
(१५) अविद्या
(१६) वर्ण
(१७) तम
(१८) वासना
(१९) काल
(२०) प्रतिबिम्ब

(१) ईश्वर—स्वतंत्र और अस्वतंत्र दो प्रकार के तत्व 'तत्व-संख्यान' में वर्णित है। 'स्वतंत्र' तत्व भगवान् विष्णु तथा अन्य सभी परतंत्र हैं।[1] वह सभी प्रकार के दोषों से रहित है। सभी प्रकार के अनन्तगुणों से परिपूर्ण है। अन्य सभी द्रव्यों के गुण सीमित हैं, किन्तु ईश्वर के असीमित गुण हैं। वह सर्वव्यापी है। जीव एवं जड से भिन्न है।[2] वह जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं लय का कारण है। ज्ञान, अज्ञान, बन्ध एवं मोक्षादि उसी के अधीन हैं। वह पूर्ण नित्य तथा ज्ञान एवं आनन्द

---

१. मध्व—'स्वतंत्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्वमिष्यते। स्वतंत्रो भगवान्विष्णुः ॥'
तत्व० सं०, पृ० १.

२. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ७०-७४.

उसकी अपेक्षा का अभाव होना आवश्यक है।

ईश्वर का 'स्वतन्त्रत्व' 'सर्वदोषविनिर्मुक्तत्व' भास्कर, यादवप्रकाश एवं निम्बार्क आदि आचार्यों के द्वारा भी स्वीकृत है। ब्रह्म के परिणामी-रूप एवं प्रक्रिया में उनमें अन्तर अवश्य है, किन्तु ब्रह्म की 'स्वतंत्र' स्थिति उनको मान्य है। ईश्वर पूर्ण है। 'तत्व' परिगणन के पूर्व स्पष्ट रूप से उनका स्वरूप-विषयक-बोध रहना चाहिए। उसी रूप मे उनको जानना श्रेयस्कर है।[1]

द्वैत-विचारको ने तत्वो को दस पदार्थों के वर्गों मे वर्गीकृत किया है। वे—

(१) द्रव्य
(२) गुण
(३) कर्म
(४) सामान्य
(५) विशेष
(६) विशिष्ट
(७) अंशि
(८) शक्ति
(९) सादृश्य एवं
(१०) अभाव

इनमे से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष एव अभाव न्यायवैशेषिक मत मे भी स्वीकृत हैं। वे समवाय को मिलाकर सात पदार्थ मानते हैं, जबकि मध्व-मत मे समावाय न लेकर अन्य चार वर्गों के समायोजन से पदार्थों की सख्या दस है।

(१) द्रव्य—'गुण और क्रिया का आश्रय द्रव्य,' यह न्याय वैशेषिक की परिभाषा प्रायः सर्वतोग्रहीत है। इसके अतिरिक्त द्वैत-विचारक द्रव्य के दो व्यावर्तक-धर्म मानते हैं, एक तो द्रव्य का उपादान कारण के रूप मे होना, दूसरा परिणाम एवं अभिव्यक्ति[2] का होना। यह दो धर्म जिस तत्व मे हो उसे द्रव्य कहा जाना चाहिए। द्रव्य मे उपादानत्व अवश्य होना चाहिए। जैसा कि प्रकृति मे है। द्रव्य की अभिव्यक्ति होना भी आवश्यक है, उदाहरणतः ईश्वर एवं जीव। इन दो रूपो मे (परिणाम एवं अभिव्यक्ति), जिसका परिवर्तन हो, वह द्रव्य है। मध्व-मत मे अभिव्यक्ति के आश्रय

---

१. जयतीर्थ—'परतन्त्रप्रमेयं हि स्वतन्त्रायत्ततया विदितं निःश्रेयसाय भवति। अन्यथा गगायासुरपरिगणनवदिदं तत्व-संख्यानमपार्थकं स्यात्।'
तत्वसंख्यान-टीका पृष्ठ ५.

१. पद्मनाभ—'उपादानत्वं च परिणामोऽभिव्यक्तिश्चेद्विविधम्।'
पदार्थसंग्रहः—द्रव्यप्रकरणम्, ५८.

महत्, अहंकार तथा सम्पूर्ण जगत् के प्रति उसका उपादानत्व परम्परया है। जगत् के उपादान होने के कारण ही इसे जड़ कहा गया है। यह नित्य एवं सर्व-व्यापी है। नित्य इस अर्थ में है कि परिणामों के उपरान्त भी वह कभी नष्ट नहीं होती। जैसे मिट्टी के सारे पात्रों में मिट्टी ही व्याप्त है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जागतिक पदार्थों में प्रकृति की व्यापकता है। यह परिणामी तत्व है।[1] प्रकृति के सांख्य-सम्मत एवं मध्व-स्वीकृत रूप में अंतर है। सांख्य में तीनों गुण, तीन धागे के समान, परस्पर मिलकर प्रकृति-रूप होते हैं। किन्तु मध्व मत में तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। तीनों गुण उसके अवयव न होकर कार्य हैं, प्रकृति इनका उपादान कारण है।

(६) गुणत्रय—सत्, रज एवं तम इन तीन गुणों के समुच्चय को त्रिगुण अथवा गुणत्रय कहा जाता है। यह प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। ईश्वर ने जगत् की सृष्टि के लिए इनको उत्पन्न किया। यही महत्, अहंकार तथा जगत् आदि के उपादानत्वेन स्थित हैं। सबसे पहले शुद्ध सत्व-गुण को प्रकृति ने उत्पन्न किया। इसके उपरान्त रज एवं तम् उत्पन्न हुए। सत्व एवं तमोगुण के सम्मिलन से रजोगुण की निर्मिति हुई। सृष्टि में यह तीनो गुण प्रकृति से निसृति होते हैं, प्रलय में इसी में विलीन हो जाते हैं।[2]

(७) महत्—महत के उपादान कारण त्रिगुण हैं।[3] सतोगुण के दस भाग, रज एवं तमोगुण के एक-एक भाग मिलकर महत् की सृष्टि करते हैं। प्रलयावस्था में इसी अनुपात में महत् तीनों गुणों में विलीन हो जाता है।

(८) अहंकार—महत् के तम भाग से अहंकार की सृष्टि है।[4] इसमें सत रज एवं तमो गुण का अनुपात १०:१:१।१० है। अहंकार के तीन प्रकार हैं—वैकारिक, तैजस एवं तामस।

(९) बुद्धि—अहंकार भी बुद्धि के समान ही महत् से प्रादुर्भूत है। इस मत में बुद्धि दो प्रकार की है। एक द्रव्य के रूप में दूसरी गुण के रूप में, बुद्धि का गुण-रूप 'ज्ञान' है। महत् से उद्भूत होने वाली बुद्धि द्रव्य-रूप है।

(१०) मनस्—बुद्धि के समान मन भी द्रव्य एवं इन्द्रिय रूप द्विविध है।[5] द्रव्य-रूप मन वैकारिक अहंकार से उत्पन्न है। इससे भिन्न मन एक इन्द्रिय के समान है। यह नित्य और अनित्य दोनों स्थिति से युक्त है। इसका नित्य रूप साक्षि होना है।[6] यही जीव का वास्तविक रूप है। अनित्य रूप जीव के स्वरूप का वाह्य रूप

---

१. मध्वसिद्धान्तसार—प्रकृति अध्याय।
२. वही —त्रिगुणाध्याय।
३. पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १०५.
४. वही —पृष्ठ १०८.
५. वही —पृष्ठ, ११५. ६. वही —पृष्ठ, ११८.

से आपूरित है। ईश्वर आनन्द एवं ज्ञान की नित्य एवं अविनाशि आकृति से युक्त है।

(२) लक्ष्मी—यह तत्व भी केवल ईश्वर के आधीन है, अन्य सभी तत्वों से स्वतन्त्र एवं ईश्वर से नित्य रूप से सम्बद्ध है। यह ईश्वर के ही समान नित्य एवं बन्धादि से मुक्त है। उसका कोई भौतिक आकार नहीं है। ईश्वर इसी के माध्यम से जगत् को उत्पन्न, स्थित एवं विलीन करते हैं। द्वैत-मत में लक्ष्मी के स्वरूप की सिद्धि के लिए कोई विशेष यत्न नहीं किया गया है। केवल श्रुति के आधार पर उसकी मान्यता को ग्रहण कर लिया है।

(३) जीव—प्रत्येक जीवित आकार में चैतन्य के केन्द्र को जीव कहा गया है। ज्ञान और चैतन्य-युक्त होने पर भी उसकी विशेषताएँ सीमित हैं। वह अज्ञान, मोह, भय एवं दुःख का भी आश्रय है। पंच-महाभूतों से निर्मित आकार के संयोग के कारण, वह बन्ध का विषय है। द्वैत-मत में सभी जीवों, यहाँ तक कि ब्रह्मा को भी, पाञ्चभौतिक आकार ग्रहण करना पड़ता है। आकार एवं मानसिक विशेषताओं, अज्ञान, वासनादि के कारण वह दुःख-पूर्ण संसार में आबद्ध है।

जीवों के तीन प्रकार हैं।[1] मुक्ति योग्य, नित्य-संसारी एवं तमोयोग्य। प्रथम वर्ग में देव, ऋषि तथा अन्य वे सभी जीव हैं, जो जागतिक सुख-दुःख से परे हैं। दूसरे वर्ग के जीव संसार से आबद्ध हैं। तीसरे वर्ग के जीवों में राक्षस, पिशाचादि का ग्रहण है। तमोगुण के कारण वे अपनी स्थिति से ऊपर उठ ही नहीं सकते। इस प्रकार के जीवों की मान्यता केवल इसी सम्प्रदाय में ग्रहण की गई है।

(४) अव्याकृत आकाश—यह दिग्य रूप है।[2] यह अविनश्वर सर्वतोव्याप्त तथा सृष्टि एवं प्रलयावस्था में अपरिवर्तनशील है। अपरिवर्तनशील होने के कारण ही इसे अव्याकृत कहा गया है। साक्षि के द्वारा हुए भान के आधार पर ही उसकी सत्ता है। यदि आकाश न माना जाय तो विश्व की सम्पूर्ण वस्तुएँ सम्बन्धाभाव की स्थिति में रहेंगी। 'किसके उत्तर में दक्षिण में कौन है?' यह बोध ही नहीं रहेगा।[3] भूताकाश से यह अव्याकृताकाश भिन्न है। भूताकाश अहंकार के 'तम' रूप से उद्भूत होता है।

(५) प्रकृति—साक्षात् अथवा परम्परा से जो तत्व सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है वह प्रकृति है।[4] विश्वोत्सृष्टि की इच्छा वाले ईश्वर के कारण, यह रूप-परिवर्तन करती है। इसकी प्रथम सृष्टि काल है तथा त्रिगुण, महत् अहंकारादि भी इसी से उत्पन्न होते हैं। काल एवं गुण-त्रय की यह प्रत्यक्षतः उपादान कारण है एवं

१. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ७६.

२. 'अत्र दिग्रूपत्वमव्याकृताकाशस्य लक्षणम्।' मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ८०.

३. पद्मनाभ—पदार्थसारसंग्रह, पृष्ठ ६४.

४. वही —'साक्षात्परम्परया वा विश्वोपादानम् प्रकृतिः।' पृष्ठ ६२.

मिस्त्र एवं तम ये पांच स्थितियां हैं। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार उसके चार प्रकार हैं। जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला एवं माया।[1]

(१६) वर्ण—ध्वनियां भी द्वैत-मत में द्रव्य के रूप में स्वीकृत हैं। वर्ण-सर्व-व्यापी, अनादि नित्य एवं ५१ प्रकार के हैं।[2] उनके संयोग से वैदिक लौकिकादि सभी प्रकार के शब्द बनते हैं। द्वैत का यह व्याख्यान मीमांसा एवं वैयाकरणों के अनुकूल है, किन्तु न्याय-वैशेषिक के वर्ण के स्वरूप को मध्व ने ग्रहण नहीं किया।' वर्ण द्रव्य है, व्यापक होने के कारण, आकाश के समान।[3] व्यापकता एक गुण है। वर्ण उसका आश्रय है। अतः वर्ण को द्रव्य मानना चाहिए।

(१७) तम—अन्धकार भी एक द्रव्य है। इसको द्रव्य के रूप में ग्रहण करने का हेतु अनुभव है। काले अथवा नीले वर्ण का सर्वतो-व्याप्त अन्धकार अनुभववेद्य होता है। वह भ्रम नहीं है, क्योंकि उसका बाध नहीं होता। इस प्रकार अंधकार में गुण (कृष्णादि), क्रियादि (गतिशील होना), पाये जाते है। अतः यह द्रव्य है। न्याय अन्धकार को प्रकाश का अभावमात्र मानता है, किन्तु विष्णु के द्वारा अन्धकार के विनाश का उल्लेख तथा जयद्रथ-वध के लिए अन्धकार को कृष्ण द्वारा उत्पन्न किए जाने सम्बन्धी उद्धरणों के आधार पर मध्व उसकी सत्ता श्रुति-प्रतिपाद्य भी मानते हैं।[4] साथ ही अन्धकार का स्थिति-विषयक अनुभव भी प्राप्त है। अतः उसे स्वतंत्र-द्रव्य के रूप में ग्रहण करना उचित है।

(१८) वासना—स्वप्न एवं स्वप्न-विषयों के उपादान कारण के रूप में वासना है।[5] सम्पूर्ण स्वप्न सत्य हैं तथा ईश्वर प्रणीत हैं। ईश्वर, निमित्तकारण बनकर, वासना का उपादान-कारण के रूप में उपयोग करके, स्वप्नों का निर्माण करता है। जो उपादान कारण होता है, वह द्रव्य होता है, अतः वासना द्रव्य है। अन्य दर्शनों के समान 'जाग्रत-अवस्था के अनुभवों से वासनाएं बनती हैं,' मध्व भी यही मानते हैं। अन्तः-करण में वासनाएं रहतीं हैं, जो उनका उपादान कारण एवं आश्रय है। यद्यपि वासनाएं कालविशेष में उत्पन्न होती एवं नष्ट होती हैं, किन्तु उनका प्रवाह अवि-नश्वर है।[6]

---

१. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ १७२.
२. वही—पृष्ठ, १७६.
३. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ५८.
४. वही.—पृष्ठ ६०.
५. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह—'स्वप्नपदार्थोपादानि वासनाः।' पृष्ठ १८३.
६. वही, —'पूर्वानुभवजन्याः मनोगताः एवं प्रवाहतोऽनाद्याः।' पृष्ठ १८५.

है। मन के नित्य और अनित्य रूपों का अन्तर यही है, कि नित्य रूप मन जीव का मूलस्वरूप है, अनित्य रूप उससे बाह्य है। मन, बुद्धि, अहकार, चित्त एव चेतन यह अनित्य मन के पाच प्रकार हैं। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है।[1] बुद्धि निश्चय का, अहकार कर्तृत्व-बोध का, चित्त स्मृति का कारण है। चेतन 'चित्' तत्व का वह भाग है, जो क्रिया की शक्ति रूप मे अभिव्यक्त होता है।

मध्व का अहंकार, बुद्धि एव मन (द्रव्यरूप) का स्वरूप अन्य मतों से भिन्न है। यह प्रकृति की सृष्टि की विकसित स्थितिया हैं।

(११) इन्द्रिय—अपने अपने विषय के प्रतिप्रवाहित होने की शक्ति से सम्पन्न द्रव्य को इन्द्रिय कहना चाहिए।[2] इन्द्रियो का त्रिविध वर्गीकरण प्राप्य है। द्रव्य-अद्रव्य रूप इन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रिय एव कर्मेन्द्रिय, नित्य तथा अनित्य। कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय द्रव्यरूप हैं तथा अनित्य हैं। वे तैजस अहकार से उत्पन्न हैं। जीव का स्वरूपभूत साक्षि ही नित्य-इन्द्रिय है। यह भी द्रव्य-रूप है। इसके अतिरिक्त ईश्वर, लक्ष्मी तथा मुक्तात्माओ की इन्द्रिया नित्य हैं।

(१२) तन्मात्राए—जो इन्द्रिय का विषय हो, उसे मात्रा कहते हैं। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध के रूप मे पाच प्रकार की हैं। मनस् आदि के समान द्रव्य एव अद्रव्य मे यह भी वर्गीकृत हो सकती हैं। तामस अहकार से उत्पन्न तन्मात्राएं द्रव्य रूप हैं। गुणरूप मात्राए आकाश, वायु, अग्नि, जल एव पृथ्वी के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गन्ध हैं।

(१३) भूत—भूत अन्य मतो के समान पाच ही हैं। ये आकाश, वायु, तेज, आप् एव पृथ्वी हैं। तन्मात्राओ के माध्यम से यह तामस अहकार से उत्पन्न हुआ है।

(१४) ब्रह्माण्ड—वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है, जिसमे सारे तत्व परस्पर सम्बद्ध हैं। यद्यपि सभी द्रव्यों का सम्मिलित रूप ब्रह्माण्ड हो सकता है, तो भी मध्व ने इसे पृथक् द्रव्य के रूप मे ग्रहण किया है। पृथक् रूप मे ग्रहण करने के समर्थन मे तर्क दे हुए कहा गया कि, 'व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् स्थिति से उनकी सामूहिकता सर्वथा भिन्न है।[3]

(१५) अविद्या—जीव मे अविद्या नित्य-रूप से स्थित है। सृष्टि के काल मे ब्रह्म अविद्या को अपने शरीर से उत्पन्न करता है। इस स्थूल-अविद्या का उपादान कारण पाच भूतों मे स्थित तम है। अविद्या की मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्धता-

१. पदार्थ सग्रह, पृष्ठ ११९.

२. 'स्वस्वविषयद्रवणशक्तिमत्त्वम् इन्द्रियलक्षणम्।'
　　　　मध्वसिद्धान्तसार, इन्द्रिय-प्रकरणम्।

३. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ, ५२.

वह रूप है।[1] यह सात प्रकारों में प्राप्य है। शुक्ल, नील, पीत, लाल, हरित, कपिल एवं अनेक वर्ण युक्त।[2] जब ये नित्य द्रव्यों में आश्रित रहते हैं, तब नित्यरूप तथा अनित्यद्रव्याश्रित (जलादि) होने पर, अनित्यरूप होते हैं। पदार्थसंग्रह के अनुसार प्रकृति के तीन वर्ण नित्य हैं। शुक्ल, लोहित एवं कृष्ण।[3] ये तीनों वर्ण सत्व, रज एवं तम इन तीन द्रव्यों के हैं, जो प्रकृति-प्रसूत हैं। अनित्यरूप में आकाश का नीलापन, जल की शुभ्रता, वासना जन्य स्वाप्न विषयों की वर्णगत विविधता अनित्यरूपों की सूचक है। गुण और द्रव्य के सम्बन्ध को हम अनुभव के द्वारा ही जानते हैं।

(४) रस—जिसके कारण मधुर, तिक्त, कषाय आदि प्रयोग हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का हेतु रस है। वह छः प्रकार का है—मधुर, तिक्त, अम्ल, लवण, कटु और कषाय। यह भी रूप के समान आश्रय के कारण नित्यानित्य है।

(५) गन्ध—जिसके कारण सुवास अथवा कुवास का अनुभव होता है, वह गन्ध नामक गुण है। यह 'सु' एवं 'कु' उपसर्ग-पूर्वक दो ही प्रकार का है। ईश्वर, लक्ष्मी एवं मुक्तात्माओं में केवल सुगंध एवं अन्यत्र सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों की स्थिति है।

(६) स्पर्श—जिसके कारण शीत, उष्णादि की प्रतीति होती है, उसका आधार यही गुण है। यह तीन प्रकार का है शीत, उष्ण एवं न शीत न उष्ण। रूपादि के समान यह भी नित्यानित्य है।

(७) संख्या—वस्तुओं का वह गुण संख्या है, जिसके आधार पर एक-दो आदि व्यवहार किया जाता है। वैशेषिक भी संख्या की यही परिभाषा मानते हैं। संख्या में भी 'एक' नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं। शेष संख्याएं अनित्य हैं। एकत्व सर्वव्यापी होने के कारण नित्य है। मध्व-मत में संख्यागत विवेचन न्यायनुकूल है।

(१९) काल—जो आयु की व्यवस्था करे वह काल है।[1] समय आदि और अन्त युक्त है, किन्तु वासना के समान उसका प्रवाह भी नित्य है। प्रत्येक वस्तु काल में ही सत्तावान होती है अतः उसे उन वस्तुओं का आश्रय माना है। वही प्रत्येक प्रकार की सृष्टि का कारण है। काल की प्रकृति के द्वारा सृष्टि होती है।

२०) प्रतिविम्ब–बिम्ब के समान एव उससे अविभाज्य तत्व प्रतिबिम्ब है।[2] प्रतिबिम्ब की सत्ता एव क्रिया बिम्ब पर आधारित है। प्रतिबिम्ब नित्यानित्य रूप द्विविध है।[3] सभी जीव जो ईश्वर के प्रतिबिम्ब अनित्य हैं। प्रतिबिम्बो की नित्यता एव अनित्यता को निर्धारित करने का आधार उपाधि है। बिम्ब की प्रतिच्छवि जिस प्रकार की उपाधि पर पड़ती है, वह प्रतिबिम्ब उस उपाधि के आधार पर नित्य अथवा अनित्य होता है। जीवोपाधि अविनश्वर है। ईश्वर का अश कहा गया है। अतः ईश्वर का वह प्रतिबिम्ब नित्य है। दूसरे उदाहरणो मे उपाधि के विनाशि होने के कारण प्रतिबिम्ब भी विनाशि ही रहेगा।

प्रतिबिम्ब को बिम्ब के अतिरिक्त स्वतन्त्र-तत्व के रूप में अन्य मत—अद्वैत वेदान्त न्यायादि-स्वीकार नही करते। पारमार्थिक दृष्टि से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में कोई अन्तर नही है। यह अद्वैत मत की मान्यता है। मध्व इस अभेद को न मानते हुए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि, 'जब कोई व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब पानी में अथवा दर्पण मे देखता है तब उसे यह बोध रहता है कि प्रतिबिम्ब उससे भिन्न है। भिन्नात्मक अनुभव होने पर दोनो को अभिन्न कैसे माना जा सकेगा।'[4]

(२) गुण—वर्गीकरण मे दूसरा वर्ग गुणो का है। गुण द्रव्य के समान स्वतः स्थिति योग्य नही होते। अपनी स्थिति के लिए दूसरो पर इसे आश्रित होना पड़ता है। यह सर्वदा द्रव्य पर आश्रित रहता है। सामान्यतः गुणो के अन्तर्गत सद्‌गुण एव दुर्गुण दोनो प्रकार के गुण रह सकते हैं, किन्तु मध्व ने दुर्गुणो को इस क्षेत्र से अलग करके केवल सद्‌गुण-भाग का ग्रहण किया है।[5] गुणो की सख्या अनन्त है। गुणो मे केवल बाह्यतः उपलब्ध विषयभूत गुण ही नही, अपितु मानसिक गुण 'शमदमादि' भी ग्राह्य हैं। कतिपय मुख्य गुणो का ही उल्लेख प्रस्तुत प्रसग मे सम्भव है।

(३) रूप—जिसके कारण हम शुक्ल-पीत-कृष्ण-आदि का प्रयोग कर सकें

१. पद्मनाभ पदार्थ सग्रह 'आयुर्व्यवस्थापकः कालः।' पृष्ठ १८६.

२. वही, —पदार्थसग्रह, पृष्ठ १९३.

३. वही, पृष्ठ २००.

४. मध्व सिद्धान्तसार, पृष्ठ ६७.

५. पद्मनाभ—'दोषभिन्नत्व गुणत्वम्।' पदार्थसग्रह, पृष्ठ २०४.

ये नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं।

(१३) संस्कार[1]—संस्कार-वेग, भावना योग्यता एवं स्थिति स्थापक इन चार प्रकारों में विभक्त हैं। वेग, ईश्वर लक्ष्मी, प्रकृति, अव्याकृताकाश तथा वर्ण में आश्रित होने पर नित्य, अन्यत्र अनित्य हैं। भावना का क्षेत्र सम्पूर्ण दृश्यमान जगत है। यह स्मृति का कारण है। 'योग्यता' नामक संस्कार के कारण अज्ञान से मोक्षावस्था तक की जीवात्माओं का क्रम स्थित है। इसी योग्यता के कारण मुक्तावस्था के पास पहुँचा जीव, अन्य जीवों से, भिन्न है। स्थिति-स्थापक नामक संस्कार वस्तु के पूर्वरूप पहुंचने में सहायक होता है। इस प्रकार इन संस्कारों में से वेग और स्थिति-स्थापक का सम्बन्ध जगत से है तथा अन्य दो भावना और योग्यता का स्वरूप विषयिगत है। ईश्वर और लक्ष्मी को छोड़कर सभी जीवों में भावना होती है। ईश्वरादि का ज्ञान स्मृति रूप न होकर सर्वदा प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक होता है। वहां स्मृति का प्रसंग नहीं है।[2]

(१४) आलोक—इसी गुण के कारण रूप को देखा जा सकता है। यह भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। ईश्वर लक्ष्मी मुक्त जीवों में रहनेवाले आलोक नित्य, तेज आदि में रहनेवाला अनित्य है।

उक्त गुणों के अतिरिक्त, जो कि प्रायः विषय रूप हैं, मध्व ने अनेक ऐसे गुणों का भी ग्रहण किया है जो पूर्णतः विषयिगत हैं। इन गुणों का उल्लेख वैशेषिक मत में नहीं है। ये शम, दम, तितिक्षा, कृपा, बल, भय, स्थैर्य, लज्जा, सौन्दर्य, धैर्य औदार्य, सौभाग्य आदि अनेक प्रकार के हैं।

इस प्रकार द्वैत सम्प्रदायों के ग्रथों में जिन गुणों का वर्णन हैं उनकी संख्या इकतालीस (४१) के लगभग है। किन्तु मध्व के अनुसार गुण अनन्त है। यहां तो उनमें से प्रमुख गुणों का ही वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

(३) कर्म—वर्गीकरण के अन्तर्गत कर्म को तीसरे वर्ग के रूप में वर्णित किया गया है। न तो यह द्रव्य है न गुण, अपितु दोनों से ही भिन्न है। गुण के समान कर्म भी द्रव्याश्रित है। गुण का द्रव्य के साथ रहना स्थायी है, जबकि कर्म का अस्थायी। कर्म को पाप एवं पुण्य का असाधारण कारण कहा गया है।[3] बिना कर्म के पाप-पुण्य दोनों ही सम्भव नहीं हैं।

---

१. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ, ९०.

२. पद्मनाभ—'ईशलक्ष्मीमुक्तानाम् स्मरणाभावान्न भावना।' पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ३२३.

३. 'साक्षात्परम्परया वा पुण्यपापासाधारणकारणम् कर्मेति कर्मसामान्यलक्षणम्।' मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १.

वे अनित्य ही होते हैं। ईश्वर और लक्ष्मी तीनों प्रकार के परिमाणवान् होने में समर्थ हैं।

(९) संयोग—संयोग के कारण दो पृथक् वस्तुओ का सग्रथन होता है। यह भी नित्यो मे आश्रित होने पर नित्य एव अनित्यो मे आश्रित होने पर अनित्य दोनो ही प्रकार का है।[1] वैशेषिक के अनुसार मध्व भी स्वीकार करते हैं कि, 'इन दोनो मे किसी एक की क्रिया से सयोग होता है।'[2] वैशेषिक क्रिया के अतिरिक्त संयोगज भी मानते हैं, जैसे शरीर और पुस्तक का सयोग। पुस्तक का सयोग हाथ से है। पुस्तक एव शरीर का सयोग, हस्त एव पुस्तक के सयोग से है।[3] मध्व केवल कर्मज सयोग को ही ग्रहण करते हैं। सयोगज सम्बन्ध गुण के रूप से पृथकत: स्वीकार नही किया है।

(१०) विभाग—दो परस्पर मिली वस्तुएं जिस गुण के कारण पृथक प्रतीत हो, वह गुण विभाग है। यह भी दो वस्तुओ मे से किसी की भी क्रिया से उत्पन्न होता है। यह नित्याश्रित होने पर नित्य, अनित्याश्रित होने पर अनित्य रूप से दो प्रकार का है।

(११) परत्वापरत्व—वस्तुओं मे जिसके कारण पूर्ववर्तित्व एव परवर्तित्व ज्ञात हो, वह गुण परत्व एव अपरत्व है।

वस्तुत: ये सभी गुण न होकर सम्बन्ध ही हैं फिर भी मध्व ने वैशेषिक मत के सादृश्य के कारण इनको गुण के रूप मे ग्रहण कर लिया।

इनके अतिरिक्त अन्य कतिपय विषयगत गुणो की प्रतिष्ठा भी मध्व मे है, जो प्राय: वैशेषिक मत के समान हैं। स्नेह, गुरुत्व द्रवत्व, मृदुत्व काठिन्य आदि।

(१२) बुद्धि[4]—बुद्धि हमारी सम्पूर्ण क्रियाओ एव व्यापारो का कारणभूत गुण है। यह भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। यथार्थ एव अयथार्थ रूप से भी इसका वर्गीकरण प्राप्य है। ईश्वर लक्ष्मी तथा अन्य श्रेष्ठ एव मुक्तात्माए यथार्थ और नित्य-ज्ञान धारण करती हैं। राक्षसादि अनित्य और मिथ्या ज्ञान से युक्त हैं। ब्रह्मा से लेकर लघुतम जीवो मे यथार्थ एव नित्य तथा अयथार्थ एवं अनित्य ज्ञान दोनो प्रकार का रहता है। ज्ञान को अनुभव एवं स्मृति के रूप मे भी वर्गीकृत किया गया है। अनुभव-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान एव शब्दरूप त्रिविध है।

सुख, दु:ख, द्वेष, इच्छा प्रयत्न, धर्म एव अधर्म आदि आत्मा के गुण है। तथा

१. पद्मनाभ पदार्थ सग्रह पृष्ठ, २३७.
२. वही, 'अन्यतरकर्मजः।' पृष्ठ २४०.
३. तर्कसग्रह—दीपिका, पृष्ठ ५५.
४. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ८१.

सकने के कारण स्वतंत्र वर्ग के रूप में परिगणन आवश्यक है। यह क्रिया एवं गुण का आश्रय न होने से द्रव्य नहीं है। प्रशस्तपाद के अनुसार मध्व ने भी स्वतन्त्र सत्ता के रूप में इसकी स्थिति मानी है।

दृष्टिकोण की समानता होने पर भी दोनों मतों, वैशेषिक एवं मध्व, में सामान्य के स्वरूप में अन्तर है। वैशेषिक के अनुसार यह नित्य, एक एवं अनेकानुगत है। तथा अनुवृत्ति-प्रत्यय का कारण है। जाति केवल एक में रहनेवाली माननी चाहिए न कि अनेक में इसलिए यह अनित्य है। प्रत्येक द्रव्य, गुण की पृथक्-पृथक् जाति है। उनका अन्य से सादृश्य जाति की सर्वव्यापकता का आभास प्रदान करती है। किसी विशेषता का अनेक वस्तुओं में पाया जाना मात्र यदि सामान्य अथवा जाति है तब गन्ध एवं रूप को भी जाति मान लेना चाहिए ?

सामान्य के व्यापक एवं नित्य-रूप को निषिद्ध कर देने पर अनुमान की मूल आधार व्याप्ति का ग्रहण कैसे होगा ? यदि रसवती एवं पर्वत के धूम में एक ही जाति नहीं है, तब व्यापित-ग्रहण कैसे सम्भव होगा ? मध्व के अनुसार हेतु के रूप में धूम का उपयोग करने के लिये उनका सादृश्य ही पर्याप्त है। जैन मत के अनुसार सामान्य अनेक, अनेकाश्रित एवं अनित्य है। पृथक्-पृथक् तत्त्व के साथ ही वह उत्पन्न एवं विनष्ट होती है। मध्व और जैन मत का सामान्य सम्बन्धी विवेचन समान है। उक्त सामान्य का स्वरूप मध्व के अनुसार केवल अनित्य विषयों से सम्बद्ध सामान्य के लिये है। जीवादि में रहनेवाली जाति नित्य है।

सामान्य के उक्त नित्य-अनित्य वर्गीकरण के अतिरिक्त मध्व ने जाति एवं उपाधि यह दो रूप भी ग्रहण किए हैं। जिसको हम साक्षात जानते हैं वह उपाधि जैसे गाय का सादृश्य। उपाधि अपने बोध के लिए सर्वदा पराश्रित रहती है।[१]

(५) विशेष—वस्तुतः मध्वमत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। द्रव्य और गुण का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शन का एक महत्वपूर्ण, किन्तु अत्यन्त विवादास्पद, प्रसग है। गुण द्रव्य से भिन्न और अभिन्न दोनों रूपों में ज्ञात होते हैं। मध्व में इसका समाधान इसलिए भी आवश्यक है कि ईश्वर को इस मत में अनन्तगुणयुक्त कहा गया है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी तथा अन्यान्य गुणों से पूर्ण है। वे यद्यपि ईश्वर में हैं फिर भी उनसे भिन्न हैं। इस समाधान के लिये 'विशेष' नामक तत्व स्थापित किया गया है। भेद के न रहने पर भेद के व्यवहार के कारणभूत तत्त्व की 'विशेष' अभिधा है।[२]

इस समस्या के महत्त्व को जानने के लिए द्रव्य एवं गुण के पारस्परिक सम्बन्ध

१. "इतरनिरूपणाधीननिरूपकत्वमुपाधिलक्षणम्।" मध्वसिद्धान्तसागर, पृष्ठ ६.
२. 'भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः। मध्वसिद्धान्तसार,

विहित, निषिद्ध एव उदासीन ये कर्मों का त्रिविध विभाग है। विहितकर्म, वेदशास्त्रोक्त कर्म है, जिनकी विधि एवं प्रक्रिया शास्त्रों मे प्रतिपादित है। विहितकर्म भी काम्य एवं अकाम्य इन विभागो मे विभक्त है। काम्य किसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किए गए कर्म तथा अकाम्य बिना किसी अभिलाषा के लिए सम्पन्न कृत्य। अकाम्य कृत्यों का उद्देश्य केवल ईश्वर को सन्तुष्ट करना है।[1] काम्य कर्मों के प्रारब्ध एव अप्रारब्ध ये दो रूप हैं। प्रारब्ध वे कर्म हैं, जिनका फल प्रारम्भ हो गया है, तथा अप्रारब्ध वे जिनका फल या तो अभी मुक्त नही है अथवा मुक्त हो चुका है। अप्रारब्ध को इष्ट और अनिष्ट इन दो रूपों मे विभक्त किया है। आज जो इष्ट हैं वे कल प्रारब्ध बन सकते हैं, तथा अनिष्ट वे जो समाप्त हो चुके हैं, एवं जिनके फल अब प्राप्त होने वाले नही है।

निषिद्ध-कर्मशास्त्र के द्वारा निषिद्ध हैं, जैसे ब्रह्म-हत्या आदि। यह कर्ता को अप्रसन्नता प्रदान कर सकते हैं।

उदासीन कर्म न तो विहित हैं, न निषिद्ध। ये क्रिया-शील होते हैं तथा वैशेषिक मत के अनुसार चेतन एवं अचेतन दोनों प्रकार के द्रव्यो मे रहते हैं।[2] ये उत्क्षेपण अपक्षेपण, आकुचन, प्रसरण, गमन, आगमन, भ्रमण, वमन, वपन, भोजन विदारण आदि अनेक प्रकार के हैं। मध्व-स्वीकृत गुणो के समान इन कर्मों की भी कोई सख्यागत सीमा नहीं है। ये उदाहरण तो उदासीन कर्म को समझाने मात्र के लिए दिये गए हैं। इनमे से प्रारम्भिक पांच वैशेषिक मत ने भी स्वीकार किए हैं।

कर्मों का एक अन्य विभाजन नित्य एव अनित्य के रूप मे भी है। ईश्वर एवं मुक्त जीवो के कर्म नित्य हैं। तथा अन्यो के अनित्याश्रित होने से अनित्य हैं।

यदि ईश्वरादि के सृष्टिलयादि कर्म नित्य है, तो यह कभी उपराम नही लेंगे निरन्तर बने ही रहेगे। मुक्त जीवो के भी नित्य कर्म सर्वदा उनसे सम्बद्ध ही बने रहेंगे। ये कर्म मध्व के अनुसार ईश्वर की शक्ति के रूप मे लयावस्था में रहते हैं। वे अभिव्यक्तिरूप से उन कार्यो मे दृष्टिगोचर होते हैं। यही व्याख्या मुक्त जीवों के कर्मों की भी दी जा सकती है।

(४) सामान्य—सादृश्य के कारण जब भिन्न वस्तुओ मे समानता की प्रतीति होती है तो उसका कारण सामान्य है। उदाहरण के लिए "मनुष्य" शब्द का प्रयोग सभी प्रकार के मनुष्यों के बोधक के रूप मे हैं। इस प्रकार सामान्य का रूप अत्यन्त व्यापक है। इसको किसी भी प्रकार से अस्वीकार करना सम्भव नही है। मध्व ने सामान्य की विषय-रूप सत्ता स्वीकार की है। अन्य किसी भी पदार्थ मे इसे न रख

---

१. मध्वसिद्धान्त सार, पृष्ठ २.
२. पद्मनाभ—पदार्थसग्रह, पृष्ठ १०.

में समानाधिकरण्य के कारण अभेद है। इस प्रकार की प्रतीतियों के परस्पर विरुद्ध होने पर भी यह तो अवश्य ही ज्ञात होता है, कि पट में कोई न कोई अतिशय भेद-निर्वाहक तत्व अवश्य हैं, जिसके कारण यह सभी सम्यगतया ग्राह्य हो सके। वह अभिन्न होने पर भी विशेष रूप प्रदान होने के कारण 'विशेष' नामक पदार्थ माना जाता है।'[1]

यह वस्तु की ही ऐसी विशेषता है, जिसके द्वारा वस्तु के अभिन्न होने पर भी, उनकी भिन्नता को व्यक्त किया जा सकता है। वस्तु की एक स्वतन्त्र स्थिति को रखते हुए भी इसी के सहारे असंख्य दृष्टिकोणों के यथार्थ को उसमें प्रमाणित किया जा सकता है। इसी शक्ति के कारण सामान्य से व्यक्ति को, द्रव्य से गुण को, शक्तिमान् को शक्ति से, स्वरूपिन से स्वरूप को भिन्न बोधित किया जाता है। यद्यपि ये अपने-अपने आश्रय से अभिन्न से प्रतीत होते हैं।

द्रव्य ही अनन्तविशेषों से युक्त हैं। विशेषों के कारण ही उसके व्यवहार में अनन्तत्व है।[2] जैन मत में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक माना है। यह तथ्य मध्व के निष्कर्ष के समान है, किन्तु जैन मत ने विशेष नामक पृथक् तत्व ग्रहण नहीं किया उक्त विवेचन के आधार पर 'विशेष' को एक प्रकार का गुण नहीं मान लेना चाहिए। यह अन्य के साथ सम्बन्ध का माध्यम बनता है, तथा जहाँ आवश्यक होता है, वहां भेद स्थापित करता है। डा० राधाकृष्णन् ने विशेष पदार्थ के ग्रहण के विरोध में कहा है कि—'यदि विशेष आश्रय से भिन्न है तब इसका आश्रय से सम्बन्ध नहीं रहा, यदि उससे भिन्न नहीं है, तो फिर यह विशेष नहीं है।"[3]

यह विरोध विशेष के स्वरूपाकलन में भ्रान्ति के कारण है। 'विशेष' पदार्थ की ही शक्ति है, उससे भिन्न कुछ अन्य अर्थ नहीं,[4] अतः यह कथन कि 'यदि वह अभिन्न है, तो विशेष नहीं कहा जा सकेगा' भ्रान्तिमात्र है।

---

१. जयतीर्थ—'तदेतयोरभेदभेदकार्ययोः प्रतीत्योरन्यथानुपपत्त्या निर्भेदऽपि पटे अस्ति कश्चनातिशयो भेदप्रतिनिधिः यद्वशादिदं सर्वं समंजसं स्यादित्येव कल्पनीयम्। सचातिशयोऽभिन्नेऽपि विशेषकत्वात् विशेष इति गीयते।' न्यायसुधा, पृष्ठ १०६.

२. मध्व—'द्रव्यमेव ततोऽनन्तविशेषात्मतया स्थितः।
नाना व्यवहृतेर्हेतुरनन्तत्वं विशेषतः॥' अनुव्याख्यान, पृष्ठ ५६.

३. डा० एस० राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ७४६.

४. जयतीर्थ—'स्वनिर्विवाहको विशेषो नाम पदार्थशक्तिरभिधिच्यताम्।' वादावली, पृष्ठ ८३.
'पदार्थशक्तिरिति न वस्त्वन्तरम्।' राघवेन्द्रतीर्थ, इसी पर टीका।

की ओर ध्यान देना आवश्यक है। घट और उसका कृष्णवर्ण इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? क्या ये एक हैं, अथवा परस्पर भिन्न, अथवा भिन्नाभिन्न हैं ? यदि दोनो मे कोई भेद नही है, तब घट और उसकी कृष्णता मह एक ही हुए। साथ ही फिर एक को घट दूसरे को कृष्ण कहना भी व्यर्थ होगा। यदि इन दोनों को एक दूसरे से भिन्न स्वीकार किया जावे तो इस भिन्नता का बोध कैसे होता है। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकेगा। तीसरा विकल्प ही अवशिष्ट है कि उनमे भेदाभेद है। किन्तु एक ही साथ भेद और अभेद होना आत्म-विरुद्धोपन्यास हुआ। इस प्रकार के विरोध के समाहार के लिये मध्व ने "विशेष" नामक पदार्थ की स्थिति स्वीकार की। 'अभेद एवं भेद इन परस्पर विरुद्ध धर्मों की एकत्र अवस्थिति के हेतु 'विशेष' ग्रहीत किया है।'[१]

"सामान्य के समान, 'विशेष' पदार्थ भी विषयरूप हैं, तथा सभी पदार्थों मे स्थित हैं।[२] अपने आश्रम मे रहने वाले ये विशेष असख्य है। इनके द्वारा अनेक प्रकार के गुणों की अभिव्यक्ति होती है। अनन्तगुणयुक्त ईश्वर मे अनन्त विशेष हैं।

इस 'विशेष' को स्वीकार करने के लिये जयतीर्थ का कथन है कि-किसी वस्तु की अनेक विशेषताए केवल काल्पनिक नही है। वे मानस-सृष्टि मात्र न होकर वस्तुतः है। कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं, जो अभिव्यक्त नही होती। कुछ प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होती है, एव विषय से पृथक नही दिखती— जैसे सूर्य का प्रकाश। किन्तु ये गुण उन आश्रयो से भिन्न हैं।

'शुक्ल-घट' इस प्रयोग मे शुक्ल और घट न तो पर्याय है और न ही सहचारी। जब किसी से शुक्ल वस्तु लाने को कहा जाता है, तो वह घट ही लेकर नही आता। जब कोई अन्धा व्यक्ति वस्तु को स्पर्श करके ज्ञान प्राप्त करता है, कि यह घट है या पट, तब उसे शुक्लादि की प्रतीति नही होती। अतः इससे यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि घट की प्रतीति एव शुक्ल की प्रतीति परस्पर भिन्न हैं। अतः द्रव्य और गुण का भिन्न होना भ्रान्ति न होकर सत् ही है।[३]

इसके साथ ही गुणो का द्रव्यातिरिक्त पाना भी सम्भव नही। 'शुक्लः घटः' कथन

---

१. जयतीर्थ—"परस्परविरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानघटनायामपि विशेषस्यांगीकरणीयत्वात्।" न्यायसुधा, पृष्ठ १०६.

२. पद्मनाभ—सर्वपदार्थनिष्ठाः।" पदार्थसग्रह, पृष्ठ २२.

३. जयतीर्थ—'दृश्यन्ते च भेदकार्याणि। पटशौक्ल्यबुद्ध्योरन्यूनातिरिक्त विषयत्वाभाव.। तच्छब्दयोरपर्यायत्वम्। अपर्यायशब्दस्मारकत्वम्।......महारजनसम्पर्केण शुक्लत्ववत् पटस्याप्यावृतत्वाभावः। पटवद्वा शौक्ल्यस्याप्यनावृतत्वाभावः इत्येवमादीनि। न चैषा प्रतीतिर्भ्रान्तिः।' न्यायसुधा, पृ० १०६.

यदि द्रव्य एवं गुण के सम्बन्ध की व्याख्या की दृष्टि से विशेष नामक नवीन पदार्थ का ग्रहण मध्व द्वारा किया जाय, तब एक शंका हो सकती है कि विशेष और द्रव्य मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अन्य विशेष के लिए अन्य विशेष की। इस प्रकार अनवस्था प्रसंग होगा। इसका समाधान मध्व के अनुसार है कि, 'विशेष स्वनिर्वाहक' है। अर्थात् अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसे किसी अन्य विशेष की अपेक्षा नही है। परिणामतः अनवस्था प्रसग का प्रश्न ही नही है।[1] नित्य पर आश्रित रहने पर नित्य एवं अनित्य पर आश्रित होने पर अनित्य, विशेष के दोनों प्रकार के रूप प्राप्त होते हैं।

वैशेषिक मत मे ग्रहीत 'विशेष' पदार्थ तथा मध्व प्रतिपादित विशेष पदार्थ मे पर्याप्त अन्तर है। वैशेषिक मत मे विशेष केवल नित्य द्रव्य मे रहता है जबकि मध्व-सम्मत विशेष की नित्यानित्य वृत्ति है। वैशेषिक मत मे 'विशेष' नित्यों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाले पदार्थ के रूप मे आख्यात है। उनको व्यावर्तक विशेष कहा गया है।

मध्व-मत मे 'विशेष' का कार्य केवल भेद प्रतिपादन करना नही है, अपितु धर्म एवं धर्मि के अभेद की सिद्धि भी करना है। वह उनमें भेद-कथन के निर्वाह की व्यवस्था भी करता है। मध्व ने विशेष वही स्वीकार किया है, जहाँ वास्तविक भेद का अभाव हो।

इस प्रकार एक का उद्देश्य भेद का ही प्रतिपादन करना है, दूसरे का अभेद का प्रतिपादन करते हुए भेदकथन का निर्वाह करना है। अतः वैशेषिक-मत एवं माध्व-मत के उद्देश्य एव प्रक्रिया मे पर्याप्त अन्तर है। भेदाभाव ग्रहण होने पर ही विशेष की प्रवृत्ति होती है। भेद के प्रमाणावसित होने पर वहां 'विशेष' की स्थिति ही नही रहेगी।[2]

(६) विशिष्ट[3]—विशेषण के सम्बन्ध के उपरान्त विशेष्य का जो रूप हो जाता है, उसे विशिष्ट कहते है। विशिष्ट को अलग तात्विक वर्ग के रूप मे मध्व ने ही प्रतिश्रुत किया है। जब यह द्रव्य और गुण के सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाता है तब अलग से स्वीकार करने मे क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर एवं अपनी स्थापना के

१. पद्मनाभ, पदार्थ सग्रह, पृष्ठ २३.
२. जयतीर्थ—'यत्र भेदाभावः प्रमाणावमितो भवेत्तत्रैव विशेषो व्यवहारनिर्वाहको-ऽङ्गीक्रियते। गवादिषु तु भेदस्यैव प्रमाणावमितत्वात् न व्यवहारो विशेषनिबन्धनमिति।' गीता० ता० न्यायदीपिका, पृष्ठ १८२.
३. पद्मनाभ—'विशेषणसम्बन्धेन विशेष्यस्य य आकारः तद्विशिष्टम्।' पदार्थसंग्रह, पृष्ठ २६.

समर्थन में अनेक तर्क द्वैत-मत के आचार्यों ने स्थापित किए हैं।

'विशिष्ट' तत्व का अनुभव द्रव्य गुणादि का सम्बन्ध मात्र नहीं है, अपितु वह सम्पूर्णता के रूप में बोधगम्य होता है। दण्डीपुरुष की एक पूर्ण प्रतीति विशिष्ट को पृथक्-तत्व के रूप में स्वीकार कराती है।

(७) अंशि—'विशिष्ट के समान अंशि भी एक पृथक् वर्ग है। विशिष्ट की स्थापना के लिए जो तर्क दिए गए हैं, वह इसके लिए भी सम्भव हैं।[1] यह एकत्व-प्रतीति, यदि स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कल्पित नहीं की गई तो वह अज्ञात ही रह जावेगी। अंशि को पृथक् पदार्थ के रूप में न मानकर न्यायवैशेषिक के समान समवाय के आधार पर अवयव-अवयवी का समवाय ग्रहण करके अंशि का विवेचन किया जा सकता है, किन्तु मध्व ने 'समवाय' नामक पदार्थ ही स्वीकार नहीं किया। समवाय न मानने के दो कारण हैं—

(क) जिन स्थानों पर समवाय का होना बताया गया है, जैसे कपड़ा, वस्त्र की शुक्लता आदि, वहां वह दृष्टिगोचर नहीं होता।

(ख) तन्तु और पट के सम्बन्ध में उपस्थित समवाय को जानने के लिए अन्य समवाय की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार यह अनवस्था प्रसंग होगा।[2] इस प्रकार वैशेषिक सम्मत समवाय, विशेषण-विशेष्य, अवयव-अवयवी आदि, बोध कराने में अनवस्था प्रसंग से दूषित होता है, अतः अग्राह्य है। समवाय के अभाव में अंशि नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना अपेक्षित है।

(८) शक्ति[3]—'शक्ति' एवं 'सादृश्य' जैसे तत्वों को पृथक् पदार्थ स्वीकार करने के मूल में सम्भवतः मध्व पर मीमांसा दर्शन का प्रभाव है। शक्ति को अन्य किसी पदार्थ के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। अचिन्त्य, आधेय, सहज एवं पद आख्यात से शक्तियां चार प्रकार की हैं। अचिन्त्य-शक्ति ईश्वर तथा अन्य देवात्माओं में रहती है, जो अघटित घटना के सम्पादन की क्षमता से सम्पन्न है।[4] अनेक विरोधी तत्व ईश्वर में होने के संकेत श्रुति में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के सम्पूर्ण अन्तर्विरोधों[5] का समाधान ईश्वर की यही शक्ति करती है। यह शक्ति मनुष्य में नहीं रहती।

आधेय शक्ति किसी अन्य माध्यम से प्राप्त की गई शक्ति को कहते हैं।

---

१. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ११.
२. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ११.
३. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रहः, पृष्ठ ३०.
४. 'अघटितघटनापटीयस्याचिन्त्यशक्तिः।' मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १३.
५. 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति दूरतः।' कठोपनिषद् १।२।२१.

यदि द्रव्य एवं गुण के सम्बन्ध की व्याख्या की दृष्टि से विशेष नामक नवीन पदार्थ का ग्रहण मध्व द्वारा किया जाय, तब एक शंका हो सकती है कि विशेष और द्रव्य मे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अन्य विशेष के लिए अन्य विशेष की। इस प्रकार अनवस्था प्रसग होगा। इसका समाधान मध्व के अनुसार है कि, 'विशेष स्वनिर्वाहक' है। अर्थात् अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसे किसी अन्य विशेष की अपेक्षा नही है। परिणामतः अनवस्था प्रसग का प्रश्न ही नही है।[1] नित्य पर आश्रित रहने पर नित्य एवं अनित्य पर आश्रित होने पर अनित्य, विशेष के दोनो प्रकार के रूप प्राप्त होते है।

वैशेषिक मत में ग्रहीत 'विशेष' पदार्थ तथा मध्व प्रतिपादित विशेष पदार्थ मे पर्याप्त अन्तर है। वैशेषिक मत मे विशेष केवल नित्य द्रव्य में रहता है जबकि मध्व-सम्मत विशेष की नित्यानित्य वृत्ति है। वैशेषिक मत मे 'विशेष' नित्यो को एक-दूसरे से पृथक् करने वाले पदार्थ के रूप मे आख्यात है। उनको व्यावर्तक विशेष कहा गया है।

मध्व-मत मे 'विशेष' का कार्य केवल भेद प्रतिपादन करना नही है, अपितु धर्म एवं धर्मि के अभेद की सिद्धि भी करना है। वह उनमे भेद-कथन के निर्वाह की व्यवस्था भी करता है। मध्व ने विशेष वही स्वीकार किया है, जहा वास्तविक भेद का अभाव हो।

इस प्रकार एक का उद्देश्य भेद का ही प्रतिपादन करना है, दूसरे का अभेद का प्रतिपादन करते हुए भेदकथन का निर्वाह करना है। अतः वैशेषिक-मत एवं माध्व-मत के उद्देश्य एव प्रक्रिया मे पर्याप्त अन्तर है। भेदाभाव ग्रहण होने पर ही विशेष की प्रवृत्ति होती है। भेद के प्रमाणावसित होने पर वहां 'विशेष' की स्थिति ही नही रहेगी।[2]

(६) विशिष्ट[3]—विशेषण के सम्बन्ध के उपरान्त विशेष्य का जो रूप हो जाता है, उसे विशिष्ट कहते है। विशिष्ट को अलग तात्विक वर्ग के रूप मे मध्व ने ही प्रतिश्रुत किया है। जब यह द्रव्य और गुण के सम्बन्ध से ही सिद्ध हो जाता है तब अलग से स्वीकार करने मे क्या लाभ हैं? इस प्रश्न के उत्तर एव अपनी स्थापना के

---

१. पद्मनाभ, पदार्थ सग्रह, पृष्ठ २३.

२. जयतीर्थ—'यत्र भेदाभावः प्रमाणावसितो भवेत्तत्रैव विशेषो व्यवहारनिर्वाहको-ऽङ्गीक्रियते। गवादिषु तु भेदस्यैव प्रमाणावसितत्वात् न व्यवहारो विशेषनिबन्धनमिति।' गीता० ता० न्यायदीपिका, पृष्ठ १८२.

३. पद्मनाभ—'विशेषणसम्बन्धेन विशेष्यस्य य आकारः तद्विशिष्टम्।' पदार्थसंग्रह, पृष्ठ २६.

गवय के सादृश्य में बोध के विषय समान धर्म हो सकते हैं। अतः सादृश्य पृथक् पदार्थ क्यों माना जाए ?

यदि समानधर्मों को बोध का विषय ग्रहण किया गया, तो इनके समान धर्मों की समानता का ग्रहण कैसे होगा ? गवय के बोध्य धर्मों में ऐसी कोई संसूचक स्थिति नहीं है, जो बता सके कि वह गाय के समान है। इसीलिए समानता के ग्रहण के लिए पुष्ट आधार एवं यथार्थवादी विषयगत दृष्टि के समाधान के लिए सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना होगा।

सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ, प्राभाकर एवं माध्व मत में समान रूप से ग्रहण करने पर प्राभाकर मत में सादृश्य एक ही है माध्व में सादृश्य अनेक हैं। यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समान है, तो वह किसी तीसरी वस्तु से भिन्न भी है।[1] अत उसे एक न मानकर अनेक को ग्रहण करना उचित है।

पदार्थसंग्रहकार[2] के अनुसार सादृश्य भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। जब मुक्त जीव सारूप्यमुक्ति—अर्थात् ईश्वर के सादृश्य—को प्राप्त करते हैं, तो वह नित्य-सादृश्य है। तथा जब गौ एव गवयादि सादृश्यों का ग्रहण होता है, तब वह सादृश्य अनित्य है।

(१०) अभाव—उत्तरकालीन नैयायिकों के समान मध्व ने भी अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार किया है। जब एक व्यक्ति को देखते हैं, तब न केवल वह व्यक्ति प्रत्यक्ष है, अपितु उसमें अन्य व्यक्ति का अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। वेदान्त के अद्वैत-मतवादी एवं प्राभाकर-मीमांसकों का कथन है कि वस्तु का यह तो स्वभाव ही है कि 'वह वही है अन्य कुछ नहीं।' यदि दूसरा तत्व, पहले में, अपने अभाव के ग्रहण में महत्वपूर्ण नहीं है, तब 'पहला व्यक्ति पहला ही है' तथा 'वह दूसरा नहीं है' में दूसरा अनुभव क्यों होता है, जो 'दूसरी वस्तु' से सम्बद्ध है। नव्यनैयायिकों के समान निषेध कभी भी विधि के समकक्ष नहीं होता। इस अनुभव के लिए अभाव का पृथक् पदार्थ के रूप में ग्रहण आवश्यक है।

एक स्वतंत्र प्रमेय के रूप में अभाव की स्थिति है। तथा भावरूपाज्ञान, मिथ्यात्व भेद एवं कारण-कार्य प्रसंग में यह इन सभी के मूल में स्थित है। 'पृथ्वी में घट नहीं है।' इस ज्ञान का प्रथम रूप निषेध ही है। अतः निषेध या अभाव भाव से भिन्न रूप में ज्ञात होता है।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव से चार प्रकार के अभाव मध्व-मत ने स्वीकार किए हैं। उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का न होना प्रागभाव

१. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १.

२. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४६.

उदाहरण के लिए किसी मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा से जिस शक्ति का आधान होता है, वह आधेय शक्ति है। प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा ही मूर्ति मे एक नई शक्ति आती है।

सहजशक्ति[1]—वस्तुओं में रहने वाली कार्य-शक्ति को सहज-शक्ति कहा गया है। यह शक्ति प्रत्येक कार्य के कारण में स्वभावतः रहती है। यह अभिव्यक्त भले ही न हो, किन्तु कारण में रहती है। वह कभी नष्ट नहीं होती। सहज-शक्ति को एक ऐसा विशेष तत्व कहा गया है जो अतीन्द्रिय तथा कार्य को उत्पन्न करने मे सक्षम है।[2] आश्रय के आधार पर वह भी नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की है।

पदशक्ति—मीमांसक एव वैयाकरण पद में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को पद शक्ति मानते है। शब्द और उसके उद्देश्य, अर्थ के सम्बन्ध को पदशक्ति कहा गया है। इसके अभाव मे पद अर्थ व्यक्त करने मे असमर्थ हैं।

(६) सादृश्य[3]—पृथक् पदार्थ के रूप मे 'सादृश्य' को स्वीकार करने से द्वैत मत पर प्राभाकर मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दो वस्तु की समानता सवेद्य है। उस समानता का ज्ञान तब तक ग्रहीत नही होता जब तक सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ स्वीकार न किया जाए।

इस पदार्थ को पृथक् रूप से स्वीकार करते हुए पूर्व पक्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि दूसरे अर्थ मे दिखाई देने वाली समानता, समान गुणों का दूसरे आधार पर पुनरीक्षण मात्र है। जब यह कहा जाता है कि 'गवय गो सदृश है।' तो इसका अभिप्राय है कि गो एवं गवय के समान धर्मों को, गो से भिन्न आश्रय गवय मे, दूसरी बार देख लिया गया है, अतः सादृश्य को अलग से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? सादृश्य का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

किन्तु मध्व का इसके विरोध मे कथन है कि किसी वस्तु का गुण उस वस्तु से पृथक् करके नही ज्ञात होता। गवय मे जो सादृश्य दृष्टिगोचर है, क्या वह गाय की ही कोई विशेषता है? अथवा गवय की? पहला पक्ष सर्वथा अग्राह्य है, इसलिए कि कितना ही महान् तार्किक हो वह एक का गुण दूसरे मे प्रमाणित नहीं कर सकता।[4] यदि गवय में गाय के गुण मान लिए गए तब, गवय गाय के समान न होकर गाय ही हो जावेगा। यदि इसका संबंध केवल गवय से है, तब 'गो के सादृश्य' का क्या अर्थ? अतः सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथमतः सादृश्य के ग्रहण के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि गो एव

१. कार्यमात्रानुकूला स्वभावरूपा सहजशक्तिः। पदा० सं०, पृ० ३३.

२. 'कार्योत्पत्त्यनुकूलोऽतीन्द्रियकारणधर्मविशेषः। मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४.

३. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४२.

४. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १७.

गवय के सादृश्य में बोध के विषय समान धर्म हो सकते हैं। अतः सादृश्य पृथक् पदार्थ क्यों माना जाए ?

यदि समानधर्मों को बोध का विषय ग्रहण किया गया, तो इनके समान धर्मों की समानता का ग्रहण कैसे होगा ? गवय के बोध्य धर्मों में ऐसी कोई संसूचक स्थिति नहीं है, जो बता सके कि वह गाय के समान है। इसीलिए समानता के ग्रहण के लिए पुष्ट आधार एवं यथार्थवादी विषयगत दृष्टि के समाधान के लिए सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना होगा।

सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ, प्राभाकर एवं माध्व मत में समान रूप से ग्रहण करने पर प्राभाकर मत में सादृश्य एक ही है माध्व में सादृश्य अनेक हैं। यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समान है, तो वह किसी तीसरी वस्तु से भिन्न भी है।[1] अत उसे एक न मानकर अनेक को ग्रहण करना उचित है।

पदार्थसंग्रहकार[2] के अनुसार सादृश्य भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। जब मुक्त जीव सारूप्यमुक्ति—अर्थात् ईश्वर के सादृश्य—को प्राप्त करते हैं, तो वह नित्य-सादृश्य है। तथा जब गौ एव गवयादि सादृश्यों का ग्रहण होता है, तब वह सादृश्य अनित्य है।

(१०) अभाव—उत्तरकालीन नैयायिकों के समान मध्व ने भी अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार किया है। जब एक व्यक्ति को देखते हैं, तब न केवल वह व्यक्ति प्रत्यक्ष है, अपितु उसमें अन्य व्यक्ति का अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। वेदान्त के अद्वैत-मतवादी एवं प्राभाकर-मीमांसकों का कथन है कि वस्तु का यह तो स्वभाव ही है कि 'वह वही है अन्य कुछ नहीं।' यदि दूसरा तत्व पहले में, अपने अभाव के ग्रहण में महत्वपूर्ण नहीं है, तब 'पहला व्यक्ति पहला ही है' तथा 'वह दूसरा नहीं है' में दूसरा अनुभव क्यों होता है, जो 'दूसरी वस्तु' से सम्बद्ध है। बव्यनैयायिकों के समान निषेध कभी भी विधि के समकक्ष नहीं होता। इस अनुभव के लिए अभाव का पृथक् पदाथ के रूप में ग्रहण आवश्यक है।

एक स्वतंत्र प्रमेय के रूप में अभाव की स्थिति है। तथा भावरूपाज्ञान, मिथ्यात्व भेद एवं कारण-कार्य प्रसंग में यह इन सभी के मूल में स्थित है। 'पृथ्वी में घट नही है।' इस ज्ञान का प्रथम रूप निषेध ही है। अतः निषेध या अभाव भाव से भिन्न रूप में ज्ञात होता है।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव ये चार प्रकार के अभाव मध्व-मत ने स्वीकार किए हैं। उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का न होना प्रागभाव

१. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ ९.
२. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४६.

उदाहरण के लिए किसी मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा से जिस शक्ति का आधान होता है, वह आधेय शक्ति है। प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा ही मूर्ति में एक नई शक्ति आती है।

सहजशक्ति[1]—वस्तुओं में रहने वाली कार्य-शक्ति को सहज-शक्ति कहा गया है। यह शक्ति प्रत्येक कार्य के कारण में स्वभावतः रहती है। यह अभिव्यक्त भले ही न हो, किन्तु कारण में रहती है। वह कभी नष्ट नहीं होती। सहज-शक्ति को एक ऐसा विशेष तत्व कहा गया है जो अतीन्द्रिय तथा कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम है।[2] आश्रय के आधार पर वह भी नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की है।

पदशक्ति—मीमांसक एवं वैयाकरण पद में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को पद शक्ति मानते हैं। शब्द और उसके उद्देश्य, अर्थ के सम्बन्ध को पदशक्ति कहा गया है। इसके अभाव में पद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ हैं।

(६) सादृश्य[3]—पृथक् पदार्थ के रूप में 'सादृश्य' को स्वीकार करने में द्वैत मत पर प्राभाकर मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दो वस्तु की समानता संवेद्य है। इस समानता का ज्ञान तब तक ग्रहीत नहीं होता जब तक सादृश्य नामक पृथक् [illegible] स्वीकार न किया जाए।

इस पदार्थ को पृथक् रूप से स्वीकार करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में कहा जाता है कि दूसरे अर्थ में दिखाई देने वाली समानता, समान गुणों का दूसरे आधार [illegible] पुनरीक्षण मात्र है। जब यह कहा जाता है कि 'गवय गो सदृश है।' तो इसका [illegible] है कि गो एवं गवय के समान धर्मों को, गो से भिन्न आश्रय गवय में, दूसरी [illegible] देख लिया गया है, अतः सादृश्य को अलग से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता ? सादृश्य का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

किन्तु मध्व का इसके विरोध में कथन है कि किसी वस्तु का गुण उस वस्तु [illegible] करके नहीं ज्ञात होता। गवय में जो सादृश्य दृष्टिगोचर है, क्या वह गाय [illegible] कोई विशेषता है ? अथवा गवय की ? पहला पक्ष सर्वथा अग्राह्य है, इसलिए [illegible] ही महान् तार्किक हो वह एक का गुण दूसरे में प्रमाणित नहीं कर [illegible]।[4] यदि गवय में गाय के गुण मान लिए गए तब, गवय गाय के समान न [illegible] गाय ही हो जावेगा। यदि इसका संबंध केवल गवय से है, तब 'गो के सादृश्य' का क्या अर्थ ? अतः सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथमतः सादृश्य के ग्रहण के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि गो एवं

---

१. 'कार्यमात्रानुकूला स्वभावरूपा सहजशक्तिः। पदा० सं०, पृ० ३३.

२. 'कार्योत्पत्त्यनुकूलोऽतीन्द्रियकारणधर्मविशेषः। मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४.

३. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४२.

४. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १७.

गवय के सादृश्य में बोध के विषय समान धर्म हो सकते हैं। अतः सादृश्य पृथक् पदार्थ क्यों माना जाए ?

यदि समानधर्मों को बोध का विषय ग्रहण किया गया, तो इनके समान धर्मों की समानता का ग्रहण कैसे होगा ? गवय के बोध्य धर्मों में ऐसी कोई संसूचक स्थिति नहीं है, जो बता सके कि वह गाय के समान है। इसीलिए समानता के ग्रहण के लिए पुष्ट आधार एवं यथार्थवादी विषयगत दृष्टि के समाधान के लिए सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना होगा।

सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ, प्राभाकर एवं माध्व मत में समान रूप से ग्रहण करने पर प्राभाकर मत में सादृश्य एक ही है माध्व में सादृश्य अनेक हैं। यदि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समान है, तो वह किसी तीसरी वस्तु से भिन्न भी है।[1] अतः उसे एक न मानकर अनेक को ग्रहण करना उचित है।

पदार्थसंग्रहकार[2] के अनुसार सादृश्य भी नित्यानित्यरूप द्विविध है। जब मुक्त जीव सारूप्यमुक्ति—अर्थात् ईश्वर के सादृश्य—को प्राप्त करते हैं, तो वह नित्य-सादृश्य है। तथा जब गौ एवं गवयादि सादृश्यों का ग्रहण होता है, तब वह सादृश्य अनित्य है।

(१०) अभाव—उत्तरकालीन नैयायिकों के समान मध्व ने भी अभाव को एक स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार किया है। जब एक व्यक्ति को देखते हैं, तब न केवल वह व्यक्ति प्रत्यक्ष है, अपितु उसमें अन्य व्यक्ति का अभाव भी प्रत्यक्ष ही है। वेदान्त के अद्वैत-मतवादी एवं प्राभाकर-मीमांसकों का कथन है कि वस्तु का यह तो स्वभाव ही है कि 'वह वही है अन्य कुछ नहीं।' यदि दूसरा तत्व पहले में, अपने अभाव के ग्रहण में महत्वपूर्ण नहीं है, तब 'पहला व्यक्ति पहला ही है' तथा 'वह दूसरा नहीं है' में दूसरा अनुभव क्यों होता है, जो 'दूसरी वस्तु' से सम्बद्ध है। नव्यनैयायिकों के समान निषेध कभी भी विधि के समकक्ष नहीं होता। इस अनुभव के लिए अभाव का पृथक् पदार्थ के रूप में ग्रहण आवश्यक है।

एक स्वतंत्र प्रमेय के रूप में अभाव की स्थिति है। तथा भावरूपाज्ञान, मिथ्यात्व भेद एवं कारण-कार्य प्रसंग में यह इन सभी के मूल में स्थित है। 'पृथ्वी में घट नहीं है।' इस ज्ञान का प्रथम रूप निषेध ही है। अतः निषेध या अभाव भाव से भिन्न रूप में ज्ञान होता है।

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव से चार प्रकार के अभाव मध्व-मत ने स्वीकार किए हैं। उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का न होना प्रागभाव

---

१. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १.

२. पद्मानाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४६.

उदाहरण के लिए किसी मूर्ति मे प्राण-प्रतिष्ठा से जिस शक्ति का आधान होता है, यह आधेय शक्ति है। प्राण-प्रतिष्ठा के द्वारा ही मूर्ति में एक नई शक्ति आती है।

सहजशक्ति[1]—वस्तुओ में रहने वाली कार्य-शक्ति को सहज-शक्ति कहा गया है। यह शक्ति प्रत्येक कार्य के कारण में स्वभावतः रहती है। यह अभिव्यक्त भले ही न हो, किन्तु कारण मे रहती है। वह कभी नष्ट नही होती। सहज-शक्ति को एक ऐसा विशेष तत्व कहा गया है जो अतीन्द्रिय तथा कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम है।[2] आश्रय के आधार पर वह भी नित्य एवं अनित्य दो प्रकार की है।

पदशक्ति—मीमांसक एव वैयाकरण पद में अर्थ व्यक्त करने की शक्ति को पद शक्ति मानते है। शब्द और उसके उद्देश्य, अर्थ के सम्बन्ध को पदशक्ति कहा गया है। इसके अभाव मे पद अर्थ व्यक्त करने में असमर्थ है।

(६) सादृश्य[3]—पृथक् पदार्थ के रूप मे 'सादृश्य' को स्वीकार करने से द्वैत मत पर प्राभाकर मत का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दो वस्तु को समानता सवेद्य है। उस समानता का ज्ञान तब तक ग्रहीत नही होता जब तक सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ स्वीकार न किया जाए।

इस पदार्थ को पृथक् रूप से स्वीकार करते हुए पूर्व पक्ष के रूप में कहा जा सकता है कि दूसरे अर्थ मे दिखाई देने वाली समानता, समान गुणो का दूसरे आधार पर पुनरीक्षण मात्र है। जब यह कहा जाता है कि 'गवय गो सदृश है।' तो इसका अभिप्राय है कि गो एव गवय के समान धर्मो को, गो से भिन्न आश्रय गवय मे, दूसरी बार देख लिया गया है, अतः सादृश्य को अलग से पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? सादृश्य का ग्रहण तो प्रत्यक्ष से ही हो जाता है।

किन्तु मध्व का इसके विरोध मे कथन है कि किसी वस्तु का गुण उस वस्तु से पृथक् करके नही ज्ञात होता। गवय मे जो सादृश्य दृष्टिगोचर है, क्या वह गाय की ही कोई विशेषता है ? अथवा गवय की ? पहला पक्ष सर्वथा अग्राह्य है, इसलिए कि कितना ही महान् तार्किक हो वह एक का गुण दूसरे में प्रमाणित नही कर सकता।[4] यदि गवय मे गाय के गुण मान लिए गए तब, गवय गाय के समान न होकर गाय ही हो जावेगा। यदि इसका संबध केवल गवय से है, तब 'गो के सादृश्य' का क्या अर्थ ? अतः सादृश्य नामक पृथक् पदार्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथमतः सादृश्य के ग्रहण के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि गो एव

---

१. कार्यमात्रानुकूला स्वभावरूपा सहजशक्तिः। पदा० सं०, पृ० ३३.

२. 'कार्योत्पत्त्यनुकूलोऽतीन्द्रियकारणधर्मविशेषः। मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १४.

३. पद्मनाभ—पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ४२.

४. मध्वसिद्धान्तसार, पृष्ठ १७.

चतुर्थ अध्याय

भेद का स्वरूप एवं पंच भेद

पंच-भेद द्वैत-मत के चिन्तन की आधार-भित्ति है। यही पांच प्रकार के पारस्परिक भेद, अद्वैत-मत से न केवल अन्तर प्रमाणित करते हैं, अपितु उसे, वेदान्त के ही अन्तर्गत, पूर्णरूपेण दूसरी कोटि में भी स्थापित करते हैं। शंकर के परवर्ती सभी वैष्णव विचारक, मुक्ति के साधन की दृष्टि से, भक्ति को ज्ञान से अधिक महत्व प्रदान करते हैं। यदि पंचभेद की स्थिति द्वैत-वेदान्त में, स्वीकृत न की गई तो, भक्ति की भी क्या उपयोगिता रह जावेगी। भक्ति आराधक एवं आराध्य के सम्बन्ध पर आश्रित है। स्वतंत्र एवं अस्वतंत्र तत्व का वर्गीकरण भी मध्व तभी ग्रहण कर सकते हैं, जब वे पंच-भेद की स्थिति को स्वीकार कर लें। भेद की स्थिति के अभाव में मध्व-मत का अस्तित्व ही नहीं रहता। यही कारण है कि मध्व सम्प्रदाय के विचारकों ने अत्यन्त विस्तार पूर्वक भेद के स्वरूप का विवेचन एवं परमत का खण्डन किया है।

भेद के स्वरूप-निर्धारण में, दार्शनिकों में परस्पर गम्भीर मतभेद प्राप्त होते हैं। भेद की परिभाषा को व्याख्यान में भले ही अत्यन्त कष्ट-साध्यता हो, तो भी उसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। भेद सर्वजन संवेद्य है। उसकी स्थिति सुस्पष्ट एवं शुद्ध-प्रत्यक्ष पर आधारित है। यदि कोई विचारक किसी एक प्रकार से भेद के स्वरूपाकलन में असमर्थ है, तो वह किसी अन्य प्रकार का उपयोग, उसके ज्ञान के लिए कर सकता है। किसी विशेष प्रक्रिया के उपयुक्त न हो पाने के कारण भेद की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया जाए, यह न्यायसं .त नहीं होगा। प्रक्रिया की असाध्यता के कारण वस्तु का ही परित्याग कर देना अधिक अहितकर है।[1] अतः यदि किसी एक विधि से अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है, तो दूसरी विधि का प्रयोग करना चाहिए। स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने वाले भेद को किसी विशेष रूप में ही सिद्ध अथवा असिद्ध होना चाहिए अन्यथा नहीं, इस प्रकार विचार करके, त्याज्य नहीं मान लेना चाहिए।[2] इस प्रकार की उद्दिष्ट अर्थ से निवृत्ति चिन्तक

---

१. जयतीर्थ—'न हि प्रक्रिया परिक्षयो वस्तुपरिक्षयाद्गरीयान।'

मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका, पृष्ठ २.

२. 'किञ्च स्पष्टदृष्टं भेद दर्शनं प्रकारान्तरं कल्पयिष्यति अस्मिन्नेव वा प्रकारे कमप्यवान्तरविशेषं कल्पयति न तु निवर्तते।' विष्णु तत्व निर्णय टीका, पृष्ठ, ५२.

है। वस्तु के विनाश के उपरान्त उत्पन्न अभाव प्रध्वंसाभाव है। प्रागभाव अनादि एवं सान्त है। प्रध्वंसाभाव सादि एवं अनन्त है। दो वस्तु मे एक-दूसरे का अभाव अन्योन्याभाव है। उदाहरणतः राम मे कृष्ण का अभाव है, एव कृष्ण में राम का। इस प्रकार दोनो मे एक-दूसरे का अभाव होने के कारण अन्योन्याभाव है। अन्योन्याभाव वस्तु का स्वरूप है।

जो वस्तु किसी भी प्रमाण के द्वारा ज्ञेय न हो उसका अभाव अत्यन्ताभाव है।[1] 'शश-शृंग, गगन-कुसुम आदि का अभाव इस अत्यन्ताभाव का उदाहरण है। अतः भूत, भविष्य एव वर्तमान सभी कालो मे जिसका अभाव हो वह अत्यन्ताभाव का उदाहरण है।

मध्व का उक्त पदार्थ-विवेचन उसके चिन्तन की मूल यथार्थ-परक दृष्टि का परिचायक है। उसने अन्य दर्शन-सम्प्रदायो से भी तत्वों के ग्रहण मे किसी प्रकार संकोच नही किया है। पदार्थों के स्वरूप एव वर्गीकरण सम्बन्धी उल्लेख मध्व-साहित्य में कम, किन्तु उसके परवर्ती तदनुयायी लेखको मे अधिक मात्रा मे स्पष्ट एव विकसित रूप मे प्राप्य हैं। अन्य दर्शनो की तुलना मे मध्व ने सर्वाधिक सख्या मे पदार्थ माने है।

---

१. पद्मनाभ—'अप्रामाणिकप्रतियोगिकाभावो अत्यन्ताभावाः।' पदार्थसंग्रह, पृष्ठ ५३.

मतानुयायी भी कह सकते हैं कि, 'अद्वैत, अभेद, के निराकरण से द्वैत की सिद्धि स्वतः हो जावेगी।'[१]

भारतीय-दर्शन में भेद की स्थिति को वास्तव मानने वाले मतों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। वर्ग, भेद में अभेद अथवा अभेद में भेद मानता है। दूसरा, भेद की ही सम्पूर्ण सत्ता स्वीकार करता है। भेदाभेद मानने वाले मत भास्कर एवं जैनों का त्रिदण्डि समुदाय है। कारण और कार्य दोनों जिस प्रकार परस्पर भिन्न और अभिन्न पाए जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी वस्तु में भेदाभेद दोनों की ही उपलब्धि होती है। दूसरे वर्ग के विचारक अभेद से भिन्न प्रसंगों में भेद की वास्तविक सत्ता मानते हैं। भेद की सत्ता को पृथक्तः मानने वाले दार्शनिकों के चार प्रमुख वर्ग हैं।

(१) भेद वस्तु का स्वरूप है।

(२) भेद वस्तुओं का अन्योन्याभाव है।

(३) दो वस्तुओं में वैधर्म्य भेद है

(४) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने के कारण भेद पृथक् द्रव्य है।

पहला मत सांख्य-योग दर्शन में मान्य है। दूसरा न्याय, तीसरा कुमारिल तथा चौथा वैशेषिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध है।[२] प्रभाकर के अनुसार भेद अपने आश्रय का स्वरूप-मात्र ही है। इस प्रकार सांख्यादि के समान ही उसकी धारणा है। कुमारिल का मत, भेद की सत्ता मानने की दृष्टि से, प्रभाकर के समान ही है। वे दोनों, 'किस प्रमाण से भेद का ग्रहण होता है?' इस प्रश्न में परस्पर भिन्न हैं। प्रभाकर के अनुसार आश्रय के प्रत्यक्ष से ही भेद का भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है। कुमारिल अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा भेद का ग्रहण स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भेद दो वस्तुओं में वैधर्म्य है। वैशेषिक भेद को पृथक् द्रव्य के रूप में इसलिये ग्रहण करते हैं कि, वे ज्ञान के विषय को किसी न किसी प्रकार का द्रव्य मानते हैं।

भेदाभेद मत के अतिरिक्त भेद के सम्बन्ध में भारतीय विचार-क्रम में उक्त चार मत प्राप्त हैं। इन सभी का संक्षिप्त संकेत किया गया। मध्व का दृष्टिकोण भेद की सत्ता मानने वाले विचारकों के प्रथम-वर्ग के अन्तर्गत है। वह इसे वस्तु का स्वरूप ही मानते हैं। अद्वैत-सम्प्रदाय के विचारकों ने इन सभी भेद को ग्रहण करने वाले आचार्यों के मत का विस्तार-पूर्वक खण्डन किया है। उन विचारकों ने इन मतों में तार्किक असंगति सूचित करते हुए उनकी सत्ता को ही निरस्त करने का प्रयास किया

---

१. डा० के० नारायण, क्रिटीक आफ मध्व रेफ़ूटेशन आव वेदान्त, पृष्ठ १७७.

२. मधुसूदन, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३०.

की प्रकृति के अनुकूल नहीं मानी जा सकती। दर्शन में यह स्वस्थ परम्परा नहीं है।

भेद की सत्ता स्वतः सिद्ध है। किसी भी वस्तु का ज्ञान दूसरी वस्तु से भिन्न रूप में ही होता है।[1] उदाहरण के लिए कोई भी बोध अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न वस्तु के रूप में होता है। इसलिए भेद की सत्यता अथवा स्थिति के विषय मे किसी प्रकार के संदेह की सम्भावना नहीं है। किसी भी वस्तु के विषय में—'इस वस्तु की अन्य वस्तुओं से भिन्नता या समानता है।' इस बोध से वस्तु की प्रतीति के साथ ही भेद का भी आकलन हो जाता है। अस्तु, वस्तुगत प्रतीति भेदगत प्रतीति के प्रामाण्य का प्रतिपादन करती है।

शंकर-मत मे ज्ञान का स्वरूप मध्व के समान विविक्त या विशिष्ट नहीं है। ज्ञान का मूल-आधार चेतना है। यह चैतन्य निर्विशेष एवं अखण्ड है। उसका व्याख्यान भी नही किया जा सकता। मध्व का ज्ञान का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न प्रकार का है। वह सविशेष, विषयरूप एवं व्याख्येय है। दोनों मतों मे परस्पर अत्यन्त विरोध है। मध्व की ज्ञान-विषयक उक्त धारणा के ही कारण भेद का वस्तु के स्वरूप के रूप मे ग्रहण अनिवार्य हो गया। इसी को न मानने के कारण शंकर ने केवल एक ही तत्व को पारमार्थिक प्रतिपादित किया है। द्वितीय का वहां कोई स्थान नहीं है। अद्वय तत्व ही वहां ग्राह्य है। मध्वानुयायी इसके सर्वथा विपरीत भेद की वास्तविक सत्ता मानते हुए, जगत् की सत्ता को किसी भी तर्क के द्वारा निराकृत करने योग्य नहीं मानते। जगत्, जीव एवं ईश्वर सभी तत्व, सत्ता की दृष्टि से, सत्य हैं। सम्भवतः इसी पारस्परिक अन्तर को सूचित करने के लिए दोनों मतों को द्वैत और अद्वैत कहा गया है।

मध्व-मत तथा अन्य मतों की दार्शनिक मान्यताओं के अन्तर को जानने के लिए भेद और अभेद सम्बन्धी विवेचन आवश्यक है। अभेद-प्रतीति के लिये भी भेद-स्वरूप व्याख्यान अनिवार्य है। बिना भेद-ज्ञान के अभेद-ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? मधुसूदन ने भी अपने व्याख्यान के प्रारम्भ में ही कहा कि, 'भेद के मिथ्यात्व को प्रमाणित करने पर ही अभेद का सत्यत्व सिद्ध होगा।[2] यही तथ्य प्रकारान्तर से द्वैत-

---

१. H. N. Raghavendrachar—"A Particular thing is Particular because it is different from other things of the World. So there is difference in a particular thing from other thing." P. 185. The Dvaita Philosophy. and its place in Vedanta.

२. मधुसूदन, अद्वैत, ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ २.

से भेद पृथक्-पृथक् रहेगा। अतः 'क' में असंख्य भेदों की स्थिति माननी होगी। किन्तु मध्व-विचारक केवल भेद को एक ही मानते हैं।'

'श्री हर्ष का कथन है कि यदि भेद वस्तु का स्वरूप है तो वस्तु के ज्ञान प्राप्त करने का अभिप्राय उसको सम्पूर्णतः अन्य वस्तुओं से भिन्न जान लेना है। ऐसी स्थिति में अन्य सभी वस्तु से विविक्त-रूप में ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण वस्तु से सम्बन्धित सन्देह नहीं रहना चाहिए, भ्रम भी नहीं रहना चाहिए। अर्थात् सन्देह अथवा भ्रम-रूपी कोई भी मनःस्थिति के प्राप्त होने की सम्भावना तक नहीं रहेगी। यह सब इसलिए होगा कि वस्तु का स्वरूप अन्यतो-व्यावृत्त ही ज्ञात होता है। अतः अन्यपरक सन्देह अथवा भ्रम का प्रसंग ही नहीं होना चाहिए। किन्तु सन्देह अथवा भ्रम वस्तुतः अनुभवगम्य हैं। भ्रम एवं सन्देह की इस प्रकार की अनुभवगम्य स्थिति के उपरान्त, भेद का वस्तु के स्वरूप में होने का समाधान, कैसे होगा?[1]

यदि यह माना जावे कि घट में रहने वाला भेद उसी में रहता है। उससे भिन्न अन्य वस्तुओं में भी भेद की स्वरूपतः ही स्थिति है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि भेद के अतिरिक्त वस्तुओं की कोई वैयक्तिक सत्ता नहीं है। यदि भेद की ही सर्वसत्ता मान ली गई तो घट-पट आदि व्यवहार करने की स्थिति भी नहीं रहेगी। भेद का व्यवहार न करके घट-पट आदि का व्यवहार अनुभवगम्य है। अतः वस्तु का स्वरूप भेद को कैसे माना जा सकता है?'[2]

'भेद ग्रहण में प्रतियोगी का ग्रहण भी अनिवार्य है। घट के भेद के आकलन के लिए पट की उपस्थिति भी आवश्यक है। अतः भेद में प्रतियोगी की स्थिति है। अतः घट के स्वरूप के रूप में भेद मान लेने पर भेद में ही स्थित पट को भी घट के स्वरूप में मानना होगा। अर्थात् आश्रय में पट रहेगा। क्योंकि भेद बिना प्रतियोगी के अपूर्ण रहता है।[3]

'भेद से भिन्न वस्तु की कोई सत्ता नहीं है, अर्थात घट-पट भेद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। भेद ही वस्तु का स्वरूप, मध्व-मत ने, प्रतिपादित किया है। किन्तु ज्ञान के क्रम पर विचार करने से ज्ञात होता है कि, घट के ज्ञान के उपरान्त पट का ज्ञान होता है, तथा ये दोनों ज्ञान एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतः घट की पट-भेद से भिन्न कुछ-न-कुछ स्थिति अवश्य है। अर्थात् भेद के अतिरिक्त भी घट का अपना स्वरूप है। अतः भेद को घट का स्वरूप मानना अनुचित है।[4]

---

१. श्री हर्ष—'यदि स्वरूपं भेदं स्यात्तदा धर्मिणी दृष्टे स्वरूपं दृष्टमिति क्वचिन्न संदेहः स्यात्।' खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ २१०.
२. अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३३.
३. श्रीहर्ष—खण्डन खण्डखाद्य, पृष्ठ ११२.
४. चित्सुख—तत्व-प्रदीपिका, पृष्ठ १६८.

है। भेद की प्रतीति आभास के कारण ही है। शंकरानुवर्ती लेखक, अपने मत के समर्थन की अपेक्षा, परमत खण्डन मे ही अधिक व्यापृत है। भेद को परमत कृत परिभाषा एव स्वरूप-विवेचन ही उनके विरोध के आधार है।

ज्ञान के ग्रहण की मध्व-सम्मत मान्यता विषय को अन्य विषयो से भिन्न रूप मे ही ग्रहण करती है इसलिए परिगणित पदार्थों के अतिरिक्त नवीन पदार्थ के रूप मे भेद का ग्रहण नही हो सकता, और न स्वतन्त्र गुण के रूप मे। वह तो वस्तु का स्वरूप ही है।[1] वस्तु के सविशेष रूप से वह अभिन्न है।[2] अतः वह वस्तु का स्वरूप ही है। यही मध्व का स्वरूप भेदवाद है। यह भेद स्वरूप से भिन्न कोई अन्य तत्त्व नही है। न ही यह 'वस्तु' का गुण है। सामान्यतः भेद को सजातीय, विजातीय एव स्वगतभेद के रूप मे त्रिविध माना गया है। समान एव असमान वस्तु से भेद के ग्रहण करने की स्थिति को तो मध्व स्वीकार करते है, किन्तु स्वगत भेद स्वीकार्य नही है।

द्वैत मत के भेद के उक्त स्वरूप के ग्रहण के मूल मे उनकी विशेष नामक मान्यता है। यह विशेष ही वस्तु की प्रतीति का आधार है। यह विशेष केवल 'विशेषण' के समान व्यावृत्तिकारक मात्र नही है, अपितु अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि की अभेद प्रतिपत्ति एव वस्तु के असख्य प्रकार की प्रतीतिगोचरता का आधार भी यही तत्व है। भेद का ग्रहण भी इसी तत्व के सहारे ही होता है। वस्तु का विशेष उसे अन्य से भिन्न प्रमाणित करता है। अतः भेद का वस्तु का स्वरूपमात्र होना इसी विशेष नामक पदार्थ के द्वारा ग्राह्य है।

विशेष पदार्थ की मान्यता मध्व की अपनी देन है। उसी पर मध्व की भेद-मीमासा आधारित है। इसीलिए मध्व के उपरान्त अद्वैत-मत के विचारको ने बहुत विस्तार से मध्व की स्वरूपभेद की मान्यता का खण्डन किया। मध्व के पूर्व तक न्याय एव मीमांसा के भेद-स्वरूप विवेचन का विरोध ही चित्सुख आदि आचार्य करते रहे।[3] जैसे ही इस नए मत ने भेद की प्रबल स्थापना करके श्रुति वाक्यो का सहयोग लेकर पचभेद प्रमाणित किया, वैसे ही इसके बाद के अद्वैत-मत के आचार्यो ने विस्तार से इसी मत का खण्डन किया। उनके असख्य तर्कों मे से कतिपय निम्नलिखित हैं।

'यदि वस्तु के स्वरूप से भेद को अभिन्न माना गया, तो एक ही व्यक्ति मे असख्य भेद रहेंगे। उदाहरण के लिए 'क' नामक व्यक्ति में 'ख' 'ग' 'घ' आदि अनेक

---

१. व्यासतीर्थ—'भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः। न्यायामृत, पृष्ठ ५५८.

२. वस्तुनस्तु अभिन्नमते भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्नः।' न्यायामृत, पृष्ठ ५६२.

३. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ ५८.

अभिन्न हैं। इसलिए एक का ही स्थित हो पाना सम्भव होगा। ऐसी दशा में स्थिति वस्तु की ही होगी। यदि वस्तु ही न रही, तो वस्तु के अभाव में भेद का भी अभाव मानना होगा। जो वस्तु जिससे अभिन्न है, वह उसके अभाव में स्वयं भी नहीं रह सकेगी। अतः भेद को वस्तु-स्वरूप नहीं माना जा सकता।[1]

भेद को यदि धर्मिस्वरूप कहा गया तो भी वस्तु का बोध नहीं हो पावेगा। भेद का स्वरूप विदारक होना है। अन्य से पृथकता प्रतिपादित करना ही उसका उद्देश्य है। वस्तु में अन्य अनेक वस्तुओं की विदारकता देखते हुए निष्कर्ष ग्रहण करना होगा कि भेद भी अनेक हैं। यदि भेद वस्तु का स्वरूप है तथा विदारक होने के कारण वह अनेक है, तो उससे अभिन्न वस्तु में भी अनेकत्व होगा। यदि वस्तु के स्वरूप-बोध के पूर्व ही उसका एकत्व नष्ट हो गया, तब उसका बहुत्व अथवा अनेकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि बहुत्व, एकत्व के उपरान्त ही, सम्भव है। इस प्रकार वस्तु का स्वरूप शून्य होगा।[2]

अद्वैत-वेदान्त के उपर्युक्त तर्कों के आधार पर भेद के स्वरूप-निर्धारण के प्रयत्नों को सफलता नहीं मिल सकी। भेद को अविद्याजनित मानने के कारण उसका प्रबलविरोध इस मत के विद्वानों द्वारा किया गया। भेदाभेदवादी विचारकों, भर्तृप्रपंच, भास्कराचार्य, रामानुज एवं निम्बार्क आदि, के द्वारा भेद के स्वरूप के विषय में एक भिन्न दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया। इनके अनुसार वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों ही रहते हैं। कारण की दृष्टि से विचार करने पर मृत्तिका से निर्मित सम्पूर्ण पदार्थों में अभिन्नता है। कार्य की दृष्टि से घट, दीप आदि में परस्पर भिन्नता है। इस प्रकार वस्तु में भिन्न और अभिन्न दोनों ही स्थितियाँ पाई जाती हैं। भेद की वास्तविकता अभेद से किसी भी प्रकार से हीन नहीं है।

भेदाभेद का यह व्याख्यान बौद्धों के शून्यवाद एवं वेदान्त के अद्वैतवाद के अनुकूल नहीं था। परिणामतः इन दोनों वर्ग के विचारकों द्वारा इसका विरोध किया गया। उक्त मत में वस्तुओं में भेद और अभेद उनके वैशिष्ट्य के कारण है। वस्तुओं की वे विशेषताएँ कौन-सी हैं, जो इन वस्तुओं के भेद एवं अभेद को प्रमाणित करती हैं? क्या वे भिन्न हैं, अथवा अभिन्न? यदि वस्तु से ये विशेषताएँ अभिन्न हैं, तब अभिन्न होने के कारण या तो भिन्नता ही रहेगी अथवा अभिन्नता। भिन्नता और अभिन्नता की

---

१. सुरेश्वर—'अभेदे तु एकमेव, तच्च वस्त्वेव। न भेद एव। वस्त्वभावे तस्याप्यभावात्।' इष्टसिद्धि, पृष्ठ ५६.

२. आनन्दबोध—'विदारणात्मनो भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे न किंचनैकं वस्तु स्यात्। एवं च शून्यतैव तात्विकी विश्वस्यापद्येत।' न्याय-मकरन्द, पृष्ठ २२.

'माध्व-मत के अनुसार घट और पट को यदि प्रत्यक्षतः जानना है, तो जब यह घट-ज्ञान प्राप्त हो रहा है, तब 'घट' का प्रतियोगी पट होगा। भेद घट का स्वरूप है। भेद का ग्रहण प्रतियोगी के बिना सम्भव नही है। अर्थात् 'घट' ज्ञान के हेतु पट का प्रतियोगी के रूप मे उपयोग होगा। इसी भांति पट के ज्ञान में घट प्रतियोगी होगा। अतः घट-पट इन दोनो के ज्ञान मे अन्योन्याश्रयता नामक दोष है। एक के ज्ञान के लिए दूसरे की अपेक्षा है, दूसरे के ज्ञान के लिए पहले की। इन दोनो को अपने ज्ञान के लिये अन्योन्याश्रय ग्रहण करना पड़ेगा।'

'नृसिंह शर्मा के अनुसार, किसी भी वस्तु के भेद के ज्ञान को प्राप्त करने मे वस्तु-ज्ञान विशेष्य होता है, तथा भेद-ज्ञान विशेषण। उदाहरण के लिए घट के भेद के ग्रहण मे घट-ज्ञान विशेष्य है, तथा भेद-ज्ञान विशेषण। द्वैत-मत के अनुसार यदि भेद वस्तु का स्वरूप है, तब विशेषण एवं विशेष्य को एक ही तत्व मानना कैसे सम्भव होगा? क्योंकि विशेषण एवं विशेष्य दो पृथक् तत्व है। रक्त-वर्ण एवं गौ दोनो का पृथग्बोध प्राप्त होता है। इसलिए विशेषण-विशेष्य के पृथक् ज्ञान का समाधान, भेद को वस्तु का स्वरूप मान लेने पर कैसे दिया जा सकेगा?[1]

'भेद को यदि वस्तु का स्वरूप माना गया, तब वस्तु से सम्बन्धित भ्रमात्मक एवं संदिग्ध ज्ञान का समाधान कैसे होगा? भ्रम-पूर्ण ज्ञान अनुभव का विषय तो है ही। व्यक्ति को होने वाले भ्रान्त एवं संदिग्ध-ज्ञान की सत्ता निर्विवाद है। इन प्रसगो मे वस्तु भिन्न ज्ञात होती है। भिन्न ज्ञात होने पर भी, वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं है। भेद के वस्तु-स्वरूप मान लेने पर भेद-बोध होने पर वस्तु-बोध मानना चाहिए। भ्रम, सन्दिग्ध ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान के अवसरों मे भेद-बोध तो होता है, पर वस्तु का वास्तविक बोध नही होता, अतः यही निष्कर्ष ग्रहण करना होगा कि भेद वस्तु का स्वरूप नही है।'

सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार 'प्रत्येक सापेक्ष पदार्थ मिथ्या है। भेद भी सापेक्ष है अतः वह भी मिथ्या है।'

भेद का व्याख्यान दो ही प्रकार से किया जा सकता है। वह धर्मि-स्वरूप हो अथवा धर्म-स्वरूप। यदि भेद को वस्तु का धर्म कहा जाय तब अन्योन्याश्रय एवं अनवस्था दोष होंगे। यदि उसे धर्मि से सर्वथा भिन्न मानें तो भी वही दोष होंगे।[2]

भेद और वस्तु मे अभेद मानने पर भेद की स्वयं की स्थिति ही संदिग्ध हो उठेगी। यदि वस्तु और भेद में अभेद है, तब अभेद के कारण एक ही तत्व रहेगा। वह तत्व वस्तु ही होगा। वस्तु न रह कर केवल भेद रहे यह सम्भव नही है। दोनों

१. तत्वप्रदीपिका, पृष्ठ १६६.
२. डा० के० नारायण, एन आउट लाइन ऑफ मध्व फिलासफी, पृष्ठ ६७.

अनिर्वचनीय मानते हैं। मध्व मत के विद्वानों ने इस मत के तर्कों का खण्डन किया है।

अद्वैत-मत में स्वरूपभेद के विरोध में तर्क प्रस्तुत करने का कारण मूलाधार के रूप में अबाध रूप से सिद्ध एक निरपेक्ष तत्व की सत्ता है। सापेक्षता का पर्यवसान द्वैत में होता है। द्वैतात्मक प्रतीति भ्रान्तिजन्य है। प्रतीयमान भेद ब्रह्म पर नानात्मकता के आरोप के कारण है।[1]

मध्वमतानुयायियों के अनुसार, सापेक्ष वस्तुओं का निरपेक्ष वस्तुओं से सम्बन्धित न हो पाना, महत्वहीन तर्क है। जिस तत्व को, अद्वैत-विचारक परिस्थति विशेष में सापेक्ष एवं अन्य परिस्थिति में निरपेक्ष निरूपित करते हैं, वह भी भेद का आश्रय लेकर ही प्रतीति का विषय बनता है। इस तथ्य को अभाव के उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अभाव, निरपेक्ष रूप से विचार करने पर, किसी भी वस्तु से सम्बद्ध नहीं है, किन्तु जब अभाव के साथ किसी वस्तु विशेष की सापेक्षता जुड़ जाती है, जैसे घट का अभाव, तब घट की सत्ता का प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव घट से सम्बद्ध ही ज्ञात होता है। अर्थात् एक ही तत्व निरपेक्ष एवं सापेक्ष हो सकता है। ब्रह्म भी निरपेक्ष एवं प्रकृति-जीव की अभिव्यक्ति के आश्रय के रूप में सापेक्ष, दोनों ही प्रकार का है। यह सापेक्षतादि का बोध भेद के ही कारण है।[2]

अद्वैत-मतानुयायी स्वयं स्वीकार करते हैं कि एक निरपेक्ष वस्तु सापेक्ष रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य भी जीव तथा ब्रह्म इन दोनों की अपेक्षा रखता है। वस्तुओं में जाति की मान्यता भी शांकर-वेदान्त के विचारक ग्रहण करते हैं। यह सभी बिना भेद की सत्ता माने बिना सम्भव नहीं है।

प्रत्येक वस्तु को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो उसे किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा रखते हुए जाना जाए, दूसरे सभी से निरपेक्ष रूप में देखा जाये। एक घट को अन्य पट आदि वस्तु से निरपेक्ष रूप में देखा जा सकता है। साथ ही उसे पट की अपेक्षा में अर्थात् पट से भिन्नादि रूप में देखा जा सकता है। इन दोनों प्रकार के बोध में जिस वस्तु का बोध हम प्राप्त कर रहे हैं, वह घट ही है। एक निरपेक्ष बोध है, दूसरा सापेक्ष। इसलिए यह सर्वथा तर्क-विरुद्ध कथन होगा कि, कोई वस्तु निरपेक्ष और सापेक्ष एक साथ नहीं हो सकती।

मध्व-मत के इस कथन के विरोध में कहा जा सकता है कि, 'उक्त तर्क स्वीकार कर लेने पर भाव और अभाव को एक साथ मानना होगा। ऐसी मान्यता तर्कासिद्ध होगी। द्वैत-विचारकों का कथन है कि, भाव और अभाव की एकत्र स्थिति में विरोध के दर्शन करने वाले चिन्तक भाव और अभाव के एक ही आश्रय को नहीं

---

१. श्रीहर्ष—खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ १२८.

२. व्यासतीर्थ—न्यायामृत, पृष्ठ ५५१.

एक मात्र वहां स्थिति सम्भव नहीं होगी। भिन्न मानना भी अनुभवगम्य नहीं है। विशेषण विशेष्य से भिन्न रूप में ज्ञात नहीं होते। न तो विशेषण वस्तु से पूर्णतः भिन्न है, और न अभिन्न, अतः इन दो विकल्पों के अस्वीकृत हो जाने पर विशेषण और विशेष्य का परस्पर भिन्नाभिन्न मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रहता। विशेषण जो वस्तु के भेदाभेद के ससूचक हैं, स्वयं भी वस्तु से, विशेष्य से, भिन्नाभिन्न रूप से सम्बद्ध है इस प्रकार भेदाभेद को सिद्ध करनेवाले विशेषण, स्वय की सम्बद्धता के लिए भी, भिन्नाभिन्नता पर आधारित हैं। यह दशा अनवस्था दोष को ही प्रमाणित करेगी। अद्वैत-विचारक अनवस्था दोष के कारण ही भेदाभेदविषयक सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते।[1]

मध्व-मत में वस्तु का स्वरूपभूत भेद वस्तुतः सत्य है।[2] किही भी दो वस्तुओं मे पारस्परिक-भिन्नता होने पर दोनों का एक दूसरे से भिन्न होना स्वरूप ही है। मध्व ज्ञान का स्वरूप भिन्न एव विशेषयुक्त मानते है। जो वस्तु विशेषणों से सम्बद्ध होगी, वह विशेषणों के ही कारण अन्य सभी वस्तुओं से भिन्न होगी। इस ज्ञान के विशिष्ट एव भिन्न स्वरूप के समानान्तर ही मध्व की भेद-सम्बन्धी मान्यता है। भेद न तो पृथक् रूप से ग्रहीत कोई विशेषण है, और न स्वतन्त्र पदार्थ। भेद वस्तु का स्वरूप ही है। वस्तु के सविशेषरूप को ही भेद का अपर पर्याय कहा जा सकता है।[3] वस्तु विशेषणयुक्त एव भावात्मक है। वह भेद अभिन्न है, अतः भेद भी भावात्मक है। वस्तु की निश्चित भावात्मक स्थिति, उसकी अन्यत्र स्थिति की सम्भावना को निषिद्ध करती हुई, भेद-प्रतिपत्ति है। इस प्रकार भेद को *अन्योन्याभाव* के रूप मे भी व्याख्यात किया जा सकता है।[4] भेद का *अन्योन्याभाव*-रूप निरूपण, उसके भावात्मक रूप को प्रमाणित करने के हेतु सहायक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अन्योन्याभाव मे दो वस्तुओं की भिन्न सत्ता की उपस्थिति अनिवार्य है। बिना भेद-ग्रह के अन्योन्याभाव के प्रसग की भी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसीलिए मध्वमतानुसार भेद वस्तु-स्वरूप है। वह सत् है। वस्तु से भिन्न जगत् की अन्य सम्पूर्ण वस्तुओं की सत्या के समान सत्या में है।

भेद की यही मान्यता मध्व मत को स्वीकार्य है। इसी को स्वरूपभेद कहा गया है। भेद वस्तु के स्वरूप से अभिन्न है, स्वरूप ही है। यह विचार अद्वैत-वेदान्त के समर्थकों के विचार से सर्वथा भिन्न है। अद्वैत-विचारक भेद को मिथ्या एव

---

१. कास्मीरक सदानन्द—अद्वैत—ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३७.

२. व्यासतीर्थ—'सत्यम् भेदस्तु वस्तूना स्वरूपम् नात्र संशयः।' न्यायामृत, पृष्ठ ५५८.

३. वही —'वस्तुतस्तु धर्मिस्वरूपे भेदो वस्तुना सविशेषाभिन्न.।' पृष्ठ ५६२.

४. वही —पृष्ठ ५५१.

का अपना स्वरूप ही है। वस्तु के विशेष रूप से यह भिन्न नहीं है।[1]

भ्रम और सन्देह के आधार पर भी स्वरूप भेद के विचार का प्रतिरोध किया गया था। भेद को वस्तु के प्रत्यक्ष के साथ प्रत्यक्ष मान लेने पर भी भ्रम और सन्देह के प्रसंगों में भेद का ग्रहण नहीं हो पाता। यह बोध का अभाव सादृश्यादि दोषों के कारण है। द्वैत-मत के अनुसार एक वस्तु असंख्य प्रकार के विशेषणाधायक भेदों से युक्त है। उनमें से कोई भी एक सादृश्य, दूरत्वादि दोषों से दुष्ट हो सकता है। उन्हीं दोषों के कारण भेद के ग्रहण न होने पर भ्रम एवं सन्देह के प्रसंगों की स्थिति है। उदाहरण के लिए सीपी जगत् के अन्य पदार्थों, चांदी सोने आदि, से सर्वथा भिन्न है। यह सभी भेद के आश्रय सीपी के प्रतियोगी हैं। सीपी के ज्ञान के साथ ही, स्वर्णादि से उसके भेद को भी ग्रहण कर लिया जाता है। रजत के साथ सीपी की समानता के कारण ज्ञान का विषय संदिग्ध हो जाता है कि यह रजत है अथवा सीपी। वस्तुतः सीपी के ज्ञान के साथ ही उसे रजत से भी भिन्नत्वेन प्रतीत होना चाहिए था, किन्तु सादृश्य नामक दोष के कारण सीपी के ज्ञान में सन्देह होने लगा। अतः यहां दोष के कारण प्रतियोगी का ज्ञान बिल्कुल भी नहीं हो सकता। भेद के ही सम्यक्तया ग्रहण न होने पर वस्तु का भी सम्यक् बोध नहीं होगा। इसलिए भ्रम या सन्देह के आधार पर स्वरूप भेद के प्रति अस्वीकृति असंगत है।

'स्वरूप-भेद के मान लेने पर गुण और गुणी के सम्बन्ध का व्याख्यान भी नहीं हो सकेगा।' इस तर्क के विरुद्ध भी द्वैत-विचारकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। ज्ञान का स्वरूप सविशेष होने के कारण मध्वमत में गुण एवं गुणी के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में सावधानी से विचार किया गया है। द्रव्य और गुण का सम्बन्ध स्पष्ट करना अत्यन्त दुरूह विषय है। द्वैत-मत में यह कार्य विशेष नामक तत्व से सम्पन्न किया गया है।[2] गुण द्रव्य तथा वस्तु और भेद आदि के सम्बन्धों का व्याख्यान इसी आधार पर किया जा सकता है।

मुख्यतः न्यायसुधा एवं न्यायामृत में तथा अन्य कतिपय ग्रन्थों में मध्व-विचारकों ने बहुत विस्तार से विरोधियों के द्वारा प्रस्तावित तर्कों का दृढ़ता एवं विद्वत्तापूर्ण उक्तियों के द्वारा खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त भी वेदांत में स्वीकृत 'अभेद' का खण्डन भी इन विचारकों ने अत्यन्त प्रखरता से किया है। 'अभेद' खण्डन के प्रयासों का पर्यवसान अन्ततः भेद-सिद्धि में ही होता है।

'जीव और जगत् की ब्रह्म से एकता वास्तविक है अथवा अवास्तविक एवं

---

१. व्यासतीर्थ—'न स्वरूपमात्रं भेदः किन्तु अन्योन्याभावः स च वस्तुना सविशेषाभिन्नः।' पृष्ठ ५५२.

२. जयतीर्थ—न्यायसुधा, पृष्ठ १०६.

मानते हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता का भाव स्वतः प्रमाणित करके अन्य सभी भिन्न वस्तुओं का अभाव भी वहा प्रमाणित करती है।[1]

भाव और अभाव का एक ही स्थान पर रहना, मध्व-मत मे स्वीकृत 'विशेष' नामक तत्व के कारण सम्भव है। इस प्रकार के अन्य सभी अव्याख्येय प्रसंगो का समाधान 'विशेष' के द्वारा ही किया गया है। उदाहरण के लिए भेद और अभेद, द्रव्य गुण आदि का सम्बन्ध इसी तत्व के द्वारा ग्रहीत हो सकता है।[2]

अद्वैत विचारकों का कथन है कि, भेद मे प्रतियोगी की उपस्थिति अनिवार्य है। यदि भेद वस्तु-स्वरूप हुआ तो वस्तु मे उसके प्रतियोगी की स्थिति भी ग्रहण करनी होगी। इस तर्क के विरुद्ध व्यासतीर्थ का उत्तर है कि, प्रतियोगी को भेद के स्वरूप से अनिवार्यतः सम्बद्ध मानने की भ्रान्ति के कारण ही उक्त तर्क उपस्थित किया गया है। भेद का द्रव्य मान लेने के उपरान्त ही प्रतियोगी तथा भेद के आश्रय की एकता मानी जा सकेगी। मध्व मत ने स्वरूप भेद का प्रतिपादन नहीं किया है। भेद के बोध के प्रसग मे प्रतियोगी केवल ससूचनात्मक है। वह अनिवार्यतः भेदाश्रय का भाव नही है। प्रतियोगी का केवल यही उपयोग है कि वह धर्मी को स्वतः से भिन्न सूचित कर दे। घट-ज्ञान के प्रसग मे पट का कार्य पट से भिन्न घट की सूचना मात्र देना है। ऐसी दशा मे पट कभी भी भेद अथवा भेद के आश्रय का अवयव नहीं बना है। भेद के ज्ञान मे प्रतियोगी के उपयोग को ध्यान मे रखने पर उक्त तर्क व्यर्थ प्रमाणित हो जाता है।

'भेद के विदारणात्मक होने के कारण वस्तु का स्वरूप-भेद के अतिरिक्त कुछ भी नही रहेगा।' नृसिंह शर्मा आदि के इस कथन के विरुद्ध अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए व्यासतीर्थ ने कहा कि 'यह तर्क भी भेद के वास्तविक स्वरूप के आकलन मे भ्रम के कारण है। 'भिन्नता के बोध में भेद उपादान एवं निमित्त कारण है' यह भ्रान्ति ही पूर्वोक्त विरोधी विचार का आधार है। इसी के कारण अनवस्थादि दोषों का ग्रहण, स्वरूप भेद में, इन विचारको ने माना है। भेद विदारणात्मक नहीं है, अर्थात् भेद का कारण नही है, जैसा कि उक्त विद्वानो ने आरोपित किया। भेद स्वयं विदारण क्रिया है। यह स्वयं कारण की अपेक्षा कार्य ही है।[3] मध्वमतानुयायियों के अनुसार भेद वस्तुतः वस्तुओं का पारस्परिक निषेध है। यह अन्योन्याभाव वस्तुओं

१. डा० के० नारायण—क्रिटिक आव मध्व रेफूटेशन आव वेदान्त, पृष्ठ १८८.
२. जयतीर्थ—'परस्परविरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रावस्थानघटनायामपि विशेषस्याङ्गीकारात्।' न्यायसुधा, पृष्ठ, १०६.
३. व्यासतीर्थ—'वस्तुतस्तु भेदो न विदारकः किन्तु विदारणम्।' न्यायामृत, पृष्ठ ५५४.

मत का विरोध, प्रत्यक्ष-विरुद्ध होने पर भी, पारमार्थिव दृष्टि से उपस्थित किया जा सकता है।

मधुसूदन के भेद सम्बन्धी तर्क अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अद्वैत-मत के दृष्टिकोण को समझने के लिए उससे पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। उससे भेद सम्बन्धी अद्वैत के विरोध के उक्त द्विविध आधार स्पष्ट हो सकते हैं।

मधुसूदन के अनुसार भेद एक सापेक्ष मान्यता है।[1] उसका निरपेक्ष तत्व से सम्बद्ध होना असम्भव है। उसकी सापेक्ष रूप-प्राप्ति भ्रम के कारण है। निरपेक्षमात्र होना उस तत्व का स्वभाव है। मध्व का वस्तु को निरपेक्ष एवं सापेक्ष उभय-विधि मानना असंगत है। उभय-विध मानने पर वास्तविकता के मूलाधार अविरोध का अतिक्रमण होता है। इसके अतिरिक्त यह भी मानना होगा कि यदि एक ही वस्तु में सापेक्षता निरपेक्षता एक साथ रह सकती हैं, तो भाव और अभाव जैसी परस्पर विरुद्ध स्थितयाँ भी एक ही वस्तु में है। 'प्रत्येक वस्तु में स्वरूपतः भाव तथा अन्य वस्तुओं के संदर्भ में अभाव प्राप्त होता है।' व्यासतीर्थ का यह तर्क भी उचित नहीं है। अद्वैत-विचारक स्वीकृति और निषेध की एकत्र स्थिति का विरोध इसलिये करता है कि निषेध उस तत्व का है जो प्रतियोगी के रूप में स्थित है। भाव और अभाव की एकत्र स्थिति को तो अद्वैतेतर विद्वानों ने भी माना है। निरपेक्षता के उदाहरण में सापेक्षता प्रतियोगिनी है। उसका निषेध यहां किया गया है। विरोधी तत्व होने के कारण ही वह प्रतियोगिनी थी। उसकी यहां स्थिति कैसे हो सकती है? सापेक्षता भ्रम-जन्य है। इसलिए निरपेक्ष धर्मी में सापेक्षता का रहना सर्वथा असम्भव है। भेद भी सापेक्ष है, अतः वह भी निरपेक्ष धर्मि से सम्बद्ध नहीं रह सकती।

प्रतियोगी भेद-ग्रहण में अनिवार्य है। यदि भेद वस्तु का स्वरूप है, तो प्रतियोगी को भी वस्तु का स्वरूप मानना होगा। मधुसूदन ने इस तर्क को और अधिक स्पष्ट करते हुए व्यक्त किया कि प्रतियोगी को केवल संसूचनात्मक मानना मध्व-सम्मत भेद के स्वरूप को ग्रहण करने के बाद सम्भव नहीं होगा। यदि भेद वास्तव एवं वस्तु-रूप है तो भेद-ज्ञान से सर्वथा सम्बद्ध प्रतियोगी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह भी भेद-ज्ञान के साथ अनिवार्यतः सम्बद्ध है। भेद के प्रत्यक्ष में धर्मि एवं प्रतियोगी की समानाधिकरण रूप से सम्बद्ध प्रतीति होती है।[2] उदाहरण के लिए—'जब यह कहा जाता है कि 'घट पट नहीं है', तब तुरन्त ही दो विचार उदित होते हैं। घट तथा पट एक उद्देश्य के रूप में, तदुपरान्त घट की प्रतीति। यह दोनों

---

१. मधुसूदन—'प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्वविषयत्वेन विरोधित्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्।' पृष्ठ ५८८.

२. वही—अद्वैत ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ७९५.

मिथ्या ? यदि यह ऐक्य वास्तव में है, तब शंकर मत के अद्वय-तत्व की स्थिति कैसे सम्भव हो पायेगी ? ऐक्य के लिए इन तत्वो का होना आवश्यक है, तभी तो ऐक्य होगा। इन तत्वो की भिन्न स्थिति के अभाव मे ऐक्य की सम्भावना ही कहां है ? यदि इस एकत्व को अविद्याकृत, मिथ्या अथवा आरोपित स्वीकार किया जावे, तब तो यही निष्कर्ष प्रकारान्तर से ग्रहण करना होगा, कि भेद सत्य है। यदि पूर्वपक्षी विद्वान् यह कहें, कि जीव-ब्रह्म के ऐक्य के मिथ्यात्व से उनका अभिप्राव केवल 'ऐक्य' के के आरोपितत्व से है, तो व्यासतीर्थ इसे भेदवाद की समर्थक स्थिति ही मानते हैं।[1] आरोप के प्रसंग में आरोप-विषय और आरोप्यमाण इन दोनो वस्तुए की सत्ता का निषेध किसी भी प्रकार से अभीप्सित नही है। वहां केवल एक वस्तु मे दूसरी का आरोप, दोष विशेष (सादृश्यादि) के कारण होता है किन्तु उन दोनो की सत्ता को किसी भी रूप मे अस्वीकृत नहीं किया गया है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म के एकत्व की विवेचना में यदि एकत्व ब्रह्म पर आरोपित है, तो ब्रह्म से भिन्न तत्व की सत्ता इस आरोपण से स्वतः सिद्ध हो गई। अतः एकत्व को न तो वास्तविक माना जा सकता है, न अवास्तविक। इससे भिन्न तत्वों की द्वैत-परक, भेदात्मक मान्यता सर्व-जन-सवेद्य है। किसी भी विषय के प्रामाणिक बोध का आधार अनुभव ही है। यह अनुभव इन तत्वो की भेदात्मक स्थिति का ही स्पष्टतया प्रतिपादन करता है। शंकर एवं मध्व मत के विद्वानो के परस्पर विवाद की अत्यन्त विस्तृत एव दीर्घ-कालीन परम्परा है। जयतीर्थ एव व्यासतीर्थ आदि प्रमुख टीकाकारो ने मध्व का अनुसरण करते हुए तर्क की प्रबल क्षमता का प्रदर्शन किया है। इस विवाद मे द्वैत-सम्प्रदाय के आचार्यो को तुलनात्मक दृष्टि मे अधिक महत्व नही दिया जा सकता। शंकर-मत के विद्वानो का विरोध भेद की प्रत्येक दशा में निवृत्ति से नही है। व्यावहारिक दशा मे तो भेद को वह भी स्वीकार करते हैं। भेद का निषेध केवल पारमार्थिक स्तर पर ही है। अद्वय ब्रह्म को ही आत्यन्तिक स्थिति मानने के कारण परमार्थतः भेद का ग्रहण असम्भव है। इस प्रकार इस मत के विचारक भेद का विरोध पारमार्थिक दशा मे ही करते हैं, व्यावहारिक दशा मे नही। अतः विरोधक स्वर उतना तीव्र नही है।[2]

व्यावहारिक दशा मे भी इनका जो विरोध है, वह मध्व स्वीकृत भेद की मान्यता के ग्रहण मे स्वरूप सम्बन्धी विवेचन के कारण है। शंकर मतानुयायियों का कथन है कि भेद को प्रत्यक्ष सिद्ध मान लेने के उपरांत भी उसकी सत्ता निसदिग्ध नहीं रहती। प्रत्यक्ष भी व्यावहारिक अवस्था मे ही ज्ञान का उपकरण मात्र है। उसे पारमार्थिक रूप से निषिद्ध कर देने मे कोई बाधा नही है। अतः भेद-सम्बन्धी अद्वैत-

१. व्यासतीर्थ—न्यायामृत, पृष्ठ ५९०.
२. मधुसूदन—अद्वैतब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ५८७.

गए आक्षेपों की अपेक्षा उन्होंने अभेद के स्वरूप के खण्डन का ही प्रयास अधिक किया है। डा० दासगुप्ता ने भी, भेद-सम्बन्धी विवाद में इस मत की, तार्किक-प्रतिपादन की दृष्टि से दुर्बलता स्वीकार की है।[1]

भेद की सत्ता स्वतः सिद्ध होते हुए भी माध्व-चिन्तकों ने जिस प्रबल एवं अतिवादी आग्रह के साथ उसका स्वरूप विवेचन किया, उससे स्वरूप की तात्विक व्याख्या में अनेक असंगतियां आ गईं। उन्हीं असंगतियों में से कुछ को मधुसूदन ने विरोध का आधार बनाया है। उनके अतिरिक्त प्राप्त होने वाला विवेचन प्रायः शाब्दी-क्रीड़ा है। वस्तु और भेद में तादात्म्य मानना, द्वैत-विचारकों की अद्वय-तत्व की निर्लेप धारणा के विरुद्ध सीमान्तवर्ती प्रतिक्रिया थी। एक बार भेद के स्वरूप को इस रूप में प्रतिपादित कर लेने के उपरान्त, उस व्याख्या से पीछे हटना सम्भव नहीं था ; परिणामतः परवर्ती विद्वान लेखकों ने स्वमतमण्डन में उतना आयास नही किया जितना प्रयास कि परमतखंडन मे किया।

मध्व प्रत्यक्ष एव श्रुति का आश्रय लेकर ईश्वर, जीव एवं जड़ तत्व के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित पांच प्रकार के भेद मानते हैं।

१. ईश्वर का जीव से भेद।

२. ईश्वर का जड़ पदार्थ से भेद।

३. जीव का जीव से।

४. जीव का जड़ पदार्थ से।

५. जड़ पदार्थ का जड़ पदार्थ से भेद।

मध्व मूलतः स्वतंत्र और अस्वतंत्र तत्व ही मानते हैं। वे परस्पर भिन्न हैं। स्वतंत्र ईश्वर है, अन्य सभी परतंत्र है, किन्तु भेद की स्थिति को महत्व देने की अभिलाषा के कारण उन्होंने न केवल भेद को ही स्वीकार किया अपितु जीव से जीव, एवं जड़ से जड़ पदार्थ के भेदों को अपनी दार्शनिक मान्यता के अन्तर्गत स्थान दिया।

मध्व-विरोधी विचारकों का कथन है, कि वेदान्त-सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र में जड़ एवं ब्रह्म के अन्तर को भी प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु जीव से ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन उसमें नहीं प्राप्त होता। अनुव्याख्यान के प्रारम्भिक पृष्ठों में ही मध्व ने इस सन्दर्भ में विचार किया है। पहले सूत्र मे ब्रह्म की जिज्ञासा का उल्लेख है। जिज्ञासा एक क्रिया है। उसके लिए कर्त्ता और विषय का होना आवश्यक है जिज्ञासु एवं जिज्ञास्य के अभाव में जिज्ञासा का भी अभाव होगा। इनके रहने पर ही जिज्ञासा रहेगी। वेदान्त-सूत्र के अनुसार जिज्ञासु जीव है, जिज्ञास्य ब्रह्म।

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ १७९.

प्रतीतियां निषेध से सम्बद्ध हैं, यह भी अनुभव-सिद्ध है। ऐसी दशा में यदि स्वरूप भेद को स्वीकार कर लिया गया, तो प्रतियोगी को भी उससे सम्बद्ध मानना ही होगा, अन्यथा उक्त मान्यता अनुभव-विरुद्ध होगी।

अद्वैत-मतानुयायी भी व्यावहारिक अवस्था मे धार्मिक एवं प्रतियोगी का एकत्रावस्थान नहीं मानते, किन्तु भेद की वास्तविकता को इतना अधिक महत्व देने पर तथा उसे धर्मि के स्वरूप से निकटतम रूप में सम्बद्ध कर देने पर तो उक्त निष्कर्ष हो माध्व विचारको को ग्रहण करना होगा। भेद के सम्बन्ध मे व्याप्त इस ऊहापोह के समाधान का एक ही मार्ग है कि भेद को मिथ्या मान लिया जाए।

पारमार्थिक दृष्टि से किसी भी सम्बन्ध की कोई सत्ता ही नही है। वे सभी मानस-प्रसूत मात्र हैं। भेद भी मानस-सृष्टि ही है, अतः परमार्थतः उसका ग्रहण सम्भव नही है माध्व-विचारक भी भेद को वस्तु का एक पक्ष ही मानते हैं। उनके अनुसार से विचार करने पर भी भेद की सत्ता मानस (Conceptual) है। साथ ही निष्कर्ष के रूप में उनको भी यही मानना होगा, कि यह मानवीय ज्ञान पर आश्रित है। यदि वे अपने तर्क के क्रम मे और आगे बढते, तो वे भी सम्भवतः इसी निष्कर्ष पहुंचते।[१]

मध्व-विचारक भेद को विदारण (कार्य) मानते हैं, विदारणात्मक (कारण) नहीं। यह स्वीकार करने पर भी मध्व अपने द्वारा स्वीकृत भेद की स्थिति बचा नही सकते। अन्ततोगत्वा भेद का आश्रय शून्य के रूप मे ही अवशिष्ट रहेगा। यदि भेद विदारण है, तो विभाग विभजनीय तत्व पर आश्रित है। विभाग के लिए कम से कम दो भागो की स्थिति आवश्यक है। ये दो भाग विदारण होने के कारण पुनः विभिन्न ही हैं। भिन्न होने के लिए भी पुनः दो भागों की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार वस्तु को भेद-विदारण मानने पर विभाजन का यह क्रम कहाँ तक चलेगा? इस प्रकार का भेद ग्रहण वस्तु-रूप-निर्धारण में अनवस्था प्रसग का सूचक होगा। यदि वैशेषिक और न्याय-सम्मत परमाणु तक 'विदारण' की सगति सिद्ध करते हुए पहुंचे भी, तो परमाणु भी विदारण होने के कारण अवयवों से युक्त माना जावेगा। 'घट' के बोध मे घट तो दूर उसके सूक्ष्मतम अवयव एक परमाणु का भी रूप ज्ञात नहीं हो पा रहा है। ऐसी दशा में स्वरूप भेद की मान्यता या तो अनवस्था प्रसंग तक पहुंचा देगी अथवा वस्तु के स्वरूप के विषय में शून्यता का ही बोध करावेगी।[२]

मधुसूदन, श्री हर्ष तथा नृसिंह शर्मा आदि विद्वानो के प्रबल खण्डन के सम्मुख द्वैत-विचारक भेद के स्वरूप की सबल स्थापना नहीं कर सके। अपने मत पर लगाए

---

१. डा० के० नारायण, क्रिटिक आव मध्व रेफूटेशन आव वेदान्त, पृष्ठ १६४.
२. मधुसूदन—अद्वैत सिद्धि, पृष्ठ ७६५-६६.

इसी भाँति जीव एवं जड़ का अन्तर भी स्पष्ट है। जीव चेतन तत्व है। उसमें जड़ पदार्थ के भोग करने की क्षमता है। ईश्वर से नियंत्रित यह जड़ तत्व के सहयोग से ही नाना प्रकार के कर्मों का सम्पादन करता है। जीव और जड़ के भेद को अध्यास कहना द्वैत-मत के विचारकों को मान्य नहीं है। वे इन तत्वों की पृथक्-सत्ता मानते हैं, एव इनमें भेद भी स्वीकार करते हैं।

मनुष्यों की क्षमताओं में अन्तर देखते हुए, उनमें मूल रूप से पारस्परिक अन्तर ग्रहण करना चाहिए। क्या किसी व्यक्ति में प्रतिभा का बाहुल्य एवं दूसरे में मूर्खता उनके अन्तर को स्पष्ट नहीं करती? क्या यह केवल आभास मात्र है? इस भेद को महत्व देने के कारण मध्व ने ऐसे वर्ग के जीवों की भी स्थिति स्वीकार की है, जो कभी भी मोक्ष नहीं पा सकते। ब्रह्म ही परस्पर भिन्न प्राणियों के कर्मों का प्रेरक है,[1] इत्यादि मध्व-सम्मत कथन इस मत में जीव से जीव को पृथक् प्रमाणित करते हैं।

जड़ पदार्थों में भी परस्पर भिन्नता है। यह भिन्नता कार्य-जात को देखने से ज्ञात होती है। घट की विलक्षणता पट की विलक्षणता से भिन्न है।[2] इसमें यदि मूलतः भिन्नता न होती, तो भिन्न कार्य के रूप में इनकी प्रतीति का प्रसंग भी न होता।

इन सम्पूर्ण भेद-प्रकारों के मूल में विशेष नामक तत्व है। यही विशेष इन तत्वों के भेद को प्रतिपन्न कराता है। पंचभेद के समर्थन में जयतीर्थ ने वादावली, व्यासतीर्थ ने भेदाज्जीवन आदि ग्रन्थों में विस्तार से तर्क प्रस्तुत किये हैं। यही इनके मत की मूल मान्यता है। द्वैत की स्थिति के लिए जिन तत्वों की अपेक्षा है, एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के व्याख्यान की आवश्यकता है, उन सभी का समाधान पंचभेद के द्वारा हुआ है। तभी मध्व प्रपंच को पांच भेदों की प्रकृष्टता ही मानते है।

भेद के स्वरूप-विवेचन एवं पंच भेदों के स्थिरीकरण में मध्व ने जिस प्रकार के प्रयास किए है, वे बहुत तर्क-संगत नहीं हैं। पाँच प्रकार के भेदों को मानना उनकी अतिवादी दृष्टि का प्रमाण है। यदि जीव एवं जीव, जड़ एवं जड़ में भी भेद मानना मध्व को अभीष्ट है तो जड़ एवं जीव के विविध-प्रकारों पर आधारित असंख्य प्रकार के भेद भी उनको स्वीकार करने होंगे। या तो वह इस प्रकार के अवान्तर भेदों के साधन के लिए प्रयत्नाश्रित ही नहीं होना चाहिये। यदि वे यत्न करते है, तो उनको फिर सभी प्रकार के अवान्तर भेदों की स्थापना एवं उनकी स्वीकृति देनी चाहिये। निष्कर्ष के रूप में मध्व की दुर्बलता भले ही ग्रहण की जाए, किन्तु यही पंच-भेद मध्व मत का मूल आधार है। उसी पर उनके दर्शन का समग्र प्रासाद निर्मित है।

१. मध्व—'भिन्नकर्माशयप्राणिनां प्रेरकम्।' द्वादशस्तोत्र, ८।३.

२. मध्व—'न च घटाद्वैलक्षण्यमेव पटाद्वैलक्षण्यम्' विष्णुतत्वनिर्णय, पृष्ठ ६-७.

किया गया है। धार्मिक मत-मतान्तरों में भी आचार की दृष्टि से कोई नियामक तत्त्व प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति है। उक्त कारणों से ईश्वर-तत्व के स्वरूप ने भारतीय-दर्शन में प्राप्त किया। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस तत्व की प्रारम्भिक मान्यता के स्वरूप का आपेक्षाकृत स्पष्ट एव सुस्थिर प्रतिपाद है।[1] नासदीय सूक्त में तत्व की अद्वय स्थिति की ओर संकेत है।[2] अग्नि, मातरिश्वा, वरुण आदि उसी प्रभुता-सम्पन्न तत्व के ही रूप हैं। वह एक तत्व है, किन्तु विद्वज्जन उसे अनेक संज्ञाओं से अभिहित करते हैं।[3] मनुष्यों में उसी की वाणी है, पक्षियों के कलरव में भी वही है, प्रचण्ड गर्जन में उसी का आक्रोश अभिव्यक्त है, नभोमण्डल में चन्द्र सूर्य एवं तारागणों की स्थिरता का आधार वही है।[4]

'उपनिषद्' में ब्रह्म-तत्व को अविकृत करके अत्यन्त विशद विचार प्राप्त होते है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार मूल तत्व को अन्वेषण करने में ऋषिगणों ने तीन प्रकार की पद्धतियों का उपयोग किया है। आधिभौतिक आधिदैविक एवं आध्यात्मिक। भौतिक जगत् के कारणों की छानबीन करती हुई विवेचिका दृष्टि विलक्षणनित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ है। यह आधिभौतिक पद्धति है। आधिदैविक पद्धति के अनुसार नाना रूप एवं स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्म तत्व को खोज निकाला है। आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्यकलापों के अवलोकन करने से उनके मूलतत्व का निरूपण किया जाता है।[5]

उपनिषद् में ब्रह्म का विशद वर्णन प्राप्य है। उसमें वे सभी विशेषताएं हैं, जिन्हें मध्व ने परवर्तीकाल में अपने दर्शन में विस्तार से प्रतिपादित किया है। प्रस्थान-त्रयी में उपनिषद् भी ग्रहीत है। इनका व्याख्यान भी वेदान्त मत के विचारकों ने अपने समर्थन में किया है। द्वैतमत के अनुयायी सभी श्रुतियों को सगुण-ब्रह्म परक स्वीकार करते हैं; जबकि अद्वैत वेदान्ती निर्गुण परक ही। ईश्वर अथवा ब्रह्म के स्वरूप के विषय में, अत्यन्त विस्तार एवं सुस्पष्टता के साथ वर्णन, उपनिषद् साहित्य में प्राप्त होता है।

---

१. ऋग्वेद १०।९०.

२. वही, १०।१२९.

३. 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥' वही १।१६४।४६.

४. वही, १०।१२१।५.

५. आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीयदर्शन, पृष्ठ ७७.

पंचम अध्याय

ईश्वर तत्व

कुतूहल या आश्चर्यमूलक सृष्टि के कारण की जिज्ञासा, भय एवं त्रास में से त्राण पाने की तथा स्थायी सुख प्राप्त करने की अभिलाषा महत् आलम्बन के प्रति आकृष्ट होने की सहजवृत्ति और उसका आलम्बन लेकर आध्यात्मिक प्रगति करने की भावना, महत् एवं अगम्य को समर्पित करने की आतुरता, उनके साथ अभेद या साम्य साधने की वृत्ति ये तथा इनके जैसे दूसरे अनेक निमित्त चेतन या जीव में क्रमशः या एक साथ उदयमान होते हैं। इसके परिणामस्वरूप ईश्वर की मान्यता अस्तित्व में आती है।[1]

ऋग्वेद में शक्ति के रूप में प्रथमतः जगत् को आकाश अंतरिक्ष एवं पृथिवी लोक में विभक्त करके भिन्न अनेक देवताओं को प्रतिष्ठित किया गया; इसके उपरान्त विकास के क्रम में इन बहुदेवताओं के अधिपति की कल्पना की। इसके भी अवान्तर-काल में सर्वेश्वरवाद को ग्रहण किया गया। यह सर्वेश्वरवाद पुरुषसूक्त में प्राप्य है।[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय उक्त क्रम से असहमति व्यक्त करते हुए, यास्कीय कथन के आधार पर ऋग्वैदिक देवतागण एक ही देवता की विभिन्न शक्तियों के परि-चायक हैं, यह मान्यता स्थापित करते हैं।[3] उनके अनुसार यही कारण-सत्ता कार्यवर्ग में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न आकारों में परिलक्षित होती है।

बहुदेववाद, एकदेववाद, सर्वेश्वरवाद अथवा ऋग्वेद के मन्त्रों का ब्रह्म-परक विवेचन इनमें से किसी विचार के स्वरूप को ग्रहण किया जावे, किन्तु मनुष्य से अधिक शक्तिशाली तत्व की स्वीकृति इन मन्त्रों में प्रतिपाद्य है, यह सभी स्वीकार करते हैं। अपने से श्रेष्ठतत्व की स्थापना, उसके प्रति स्वीकारोक्ति तथा श्रद्धापूर्ण समर्पण की भावना ईश्वर तत्व की संस्थिति के मूल में है। वैदिक-साहित्य की इन प्रारम्भिक रच-नाओं में आचार-व्यवहार के नियामक के रूप में भी इन देव शक्तियों का उल्लेख

१. पं० सुखलाल संघवी—भारतीय तत्व विद्या, पृ०
२. मैकडोनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ
३. आचार्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, पृ०

किया है ।[1]

योग में चौबीस अथवा पच्चीस तत्व ग्रहीत हैं। उसमें स्वतंत्र पुरुष विशेष ईश्वर का भी स्थान है। पंतजल-सूत्र के पहले हिरण्यगर्भ एवं स्वयम्भु से प्रचलित योग मार्ग का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] उसमें भी ईश्वर तत्व की मान्यता थी। किन्तु सन्दर्भो की अनुपस्थिति में वे उसे उपास्य के अतिरिक्त जगत् स्रष्टा के रूप में भी मानते थे या नहीं, यह निर्धारण कठिन है। पतंजलसूत्र के अनुसार ईश्वर साक्षी उपास्य है।[3] किन्तु इसके भाष्यकार इसे उद्धारक के रूप में भी मानते हैं। ईश्वर का प्रयोजन भूतानुग्रह है। ऐसा संकल्प वह सत्वगुण के प्रकर्ष के कारण करता है।[4] फिर भी व्यास ने सृष्टा एवं संहर्ता का विशद विवेचन नहीं किया।

पूर्वमीमांसा यज्ञादि कर्मकाण्ड पर आधारित मत है। वैदिक मंत्र, समुचित विधि-प्रक्रिया, होता, पुरोहित आदि का मुख्य स्थान कर्मकाण्ड में होता है। विधि-पूर्वक यज्ञ करनेवाले को फल प्राप्त होता है। फलेच्छु पुरुषों के कर्तृत्व की इसमें प्रमुखतया स्थिति है। इस प्रकार का कर्तृत्व जीवों में है। अतः ईश्वरकर्तृत्व का विचार भी यहां, अनिवार्यतः उपयोगी न होने के कारण, ग्रहण नहीं किया गया। वैदिकश्रुति में ही महती शक्ति है। उसके निर्देश से किया गया कृत्य फलवान् होता है। अतः इस परम्परा में मंत्र, देवता, विधिवत् कर्म और सामग्रीजन्य-शक्ति, ये ही ईश्वर के कर्तृत्व के स्थान ले लेते हैं।[5]

सांख्य-परम्परा भी ईश्वर को नहीं मानती। सांख्य में सृष्टि कर्त्ता के रूप में ईश्वर न होकर प्रकृति है। प्रकृति स्वतंत्र है। वह सृष्टि एवं संहार में किसी दूसरे के अधीन नहीं है। पुरुषार्थ प्रकृति के ही हैं, चेतन के नहीं। प्रकृति का व्यापार चेतन के लिए ही हैं किन्तु चेतन तत्व में न कर्तृत्व है न भोक्तृत्व, अतः सारा अधिकार प्रकृति के हाथ में ही है। जीवों की स्थिति भी किसी के अधीन नहीं है, परिणामतः ईश्वर की आवश्यकता इस मत ने अनुभूत नहीं की। कतिपय विद्वान ईश्वर को मानते हुए भी मुक्ति के प्रति उसकी दुर्बलता स्वीकार करते हैं। अन्ततः सांख्य में

---

१. उदयन ५ १.
२. ओरिजन एण्ड डेवलपमेन्ट आफ सांख्य सिस्टम आव थाट, पृष्ठ ४९.
३. योगसूत्र १।२३-२६.
४. 'तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ।'
'प्रकृष्टसत्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः ।'
योगभाष्य, १।२४-२५.
५. शावरभाष्य, २।१।५.

सिन्धु घाटी की सभ्यता मे पशुपति के पूजक वर्ग के चिन्ह प्राप्त होते हैं।[१] ईश्वर के रूप मे महेश्वर, रुद्र एव शिव का नामोल्लेख अद्यावधि प्राप्य है। अनेक प्रकार के माहेश्वर सम्प्रदायो का वर्णन भारतीय साहित्य मे मिलता है। ये सभी अचेतन तथा जीव का बाहुल्य ग्रहण करते है। तथा मानते है कि वह जगत् का कारण होने पर भी कर्म निरपेक्ष है।[२] अन्य विचारक इसकी पूर्ण स्वतन्त्र कारण के रूप मे कल्पना न करके जीव कर्म सापेक्ष कर्त्ता के रूप मे प्रतिपादित करते हैं।[३]

न्यायवैशेषिक विचारधारा मे भी चेतन की बहुलता विवक्षित है। कणाद के सूत्रो मे यद्यपि ईश्वर के स्वरूप की स्पष्ट व्याख्या नही है, किन्तु उस पर लिखे गए प्राचीनतम उपलब्ध, प्रशस्तपाद भाष्य मे महेश्वर का, सृष्टि के कर्त्ता एवं सहर्ता के के रूप मे विस्तृत वर्णन है। साथ ही उसे प्राणियो के शुभाशुभ कर्मानुसार सर्वजन-सहार करनेवाले निरूपित किया है।[४] वैशेषिक में प्रशस्तपाद के द्वारा ही ईश्वर तत्व की प्रतिष्ठा हुई।

न्याय के सूत्रकार अक्षपाद ने सक्षेप मे ईश्वर सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन किया है।[५] उसने, भाष्यकार वात्स्यायन, उद्योतकर एव वाचस्पति मिश्र ने तत्तत्प्रसगो मे, ईश्वर तत्त्व का सुविस्तृत रूप मे वर्णन किया है। वह केवल कर्ता एव नियन्ता ही नही अपितु सृष्टा भी है। वह जीव-कर्मों से निरपेक्ष है। ईश्वर की सिद्धि कुछ विद्वान् अनुमान से, कुछ आगम से करते है।[६]

न्यायवैशेषिक परम्परा मे ईश्वर की स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप मे बहुत अधिक समर्थ स्थापना हुई है। उदयन ने, न्यायकुसुमांजलि मे अनीश्वरवादियो का प्रबल युक्तियो से खण्डन करके, ईश्वर की सिद्धि एव स्वरूप-विवेचन विस्तार से

१. श्री टी० एन० रामचन्द्रन्—प्रेसीडेन्शियल एड्रेस डिलीवर्ड एट इण्डियन कांग्रेस आगरा, पृष्ठ ५।१०.

२ माधवाचार्य—'अनिरपेक्षः परमेश्वर. कारणमिति।
सर्वदर्शन नकुलीश पाशुपत मत, पृष्ठ ६५.

३. माधवाचार्य—शैवदर्शन, पृष्ठ ६६.

४. प्रशस्तपाद भाष्य—सृष्टि सहारप्रक्रिया।

५. 'ईश्वर. कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।
'न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः।
तत्कारितत्वादहेतु।' न्यायसूत्र, ४।१।१९-२१.

६. उदयन—'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।'
न्यायकुसुमाजलि, ५।१.

किया गया। किन्तु वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। शुद्ध उसके परे है।

शंकर के पूर्ववर्ती भाष्यकारों में अधिकांश प्रकृति के साथ ब्रह्म को एवं उसके परिणमन को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार की परम्पराओं में से एक का अनुसरण भास्कर करते हैं। वे ब्रह्म को परिणामी मानकर उसी में सर्वशक्ति स्वीकार करते हैं। वे एक शक्ति से भोग्य, दूसरी से भोक्ता की सृष्टि होना मानते हैं। वह सृष्टि का स्रष्टा, संहारक, पालक आदि है। भास्कर द्वारा ईश्वर की स्थापना का आधार आगम ही है। ब्रह्म-रूप ईश्वर के एक होने पर भी उसके परिणाम—जीव एवं जगत्—अनेक हो सकते हैं। भोग्य और भोक्तृ दोनों ही शक्तियां भास्कर ने ईश्वर या ब्रह्म में ही मानी हैं।[1] इस प्रकार भास्कर भेदाभेदवादी हैं।

रामानुज के अनुसार परमब्रह्म तत्व नारायण सर्वव्यापी है। समस्त मंगल-गुणों का आश्रय भी वही है। मूलतः वह कूटस्थ है, किन्तु अपनी शक्तियों से अव्यक्त कारणरूप चिदचिच्छरीर को कार्यरूप बनाता है। शरीररूपेणावस्थित प्रकृति और जीवतत्व नारायण के ही रूप हैं। वे उसकी शक्ति से संचालित होते हैं। प्राणिकर्मसापेक्ष सृष्टि-रचना ईश्वर करता है। नारायण को ही रामानुज ने उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म बतलाया है, जो चेतन और अचेतन का निमित्त एवं उपादान कारण है।[2]

निम्बार्क, विष्णु को ही ब्रह्म तत्व के रूप में स्थापना करके उसी को, ईश्वर मानते हैं। यह द्वैताद्वैतवाद के समर्थक आचार्य हैं। परब्रह्म विष्णु ही वास्तविक चराचर जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण हैं। उपनिषद् तथा अन्य श्रुति-वाक्यों से ईश्वर की प्रतिष्ठा इस मत में प्राप्य है। सृष्टि प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रखती है।[3] सम्पूर्ण शास्त्रों का आधार भी वही है।

विज्ञान भिक्षु ने भी ब्रह्म को ही ईश्वर माना है। योग के प्रभाव के कारण माना कि ब्रह्म सत्वरूप शुद्ध-प्रकृति का अवलम्बन करके, सदा वर्तमान प्रकृति एवं जीव-तत्व की सृष्टि करके, उनको विकसित करता है। प्रकृति-पुरुष के वास्तविक होने पर भी उनका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। उपादान, निमत्त कारण को न मानकर विज्ञान भिक्षु ने ईश्वर को अधिष्ठानभूत कारण कहा है। यह भिन्न प्रकार का कारण है। शंकर का इन्होंने दृढ़ता से खण्डन किया है। वे सृष्टि को प्राणिकर्मसापेक्ष मानते हैं।[4]

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ३, पृष्ठ ६.
२. वही, पृष्ठ १५६.
३. निम्बार्क—'तस्मात्सर्वज्ञः सर्वाचिन्त्यशक्तिविश्वजन्मादिहेतुर्वेदिकप्रमाणगम्यः सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा-विषयस्तत्रैव सर्वशास्त्रं समन्वेतीत्यौपनिषदानां सिद्धान्तः।' ब्रह्म सूत्र भाष्य, १।१।४.
४. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी भाग ३, पृष्ठ ४४५

ईश्वर का स्थान कुछ विचारकों के अनुसार है ही नहीं, कुछ के अनुसार यदि है भी तो न के बराबर।[1]

बौद्ध अथवा जैन विचारसरणि जीव या चित् तत्व में सहज-सद्गुण का विकास मानती है। अचेतन तत्व उसका उपकारक है; किन्तु विकास जीव का ही वैशिष्ट्य है। जो साधक पूर्ण यत्न करके विकसित सिद्धि को प्राप्त करते हैं वे मुक्त हो जाते है। ये ही मुक्त पुरुष सम्यक-सम्बुद्ध, अर्हत् हैं। दूसरे अपूर्ण साधक इनकी साधना करके, बाद में स्वयं के वेन्द्र भी वही हो जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर नामक कोई सृष्टिकर्ता एवं संहर्ता तत्व नहीं है। यदि उपास्य की दृष्टि से किसी को ईश्वर कहा जा सकता है, तो वे ही मुक्त, सिद्ध एवं बुद्ध आत्माएं है।

मीमांसक, सांख्य, जैन एवं बौद्ध-अनुयायी जगत् की परिवर्तनशीलता पर विश्वास करते है। जगत् किसी समय उत्पन्न हुआ, यह उनको अभिप्रेत नहीं है। परिणामतः विश्व के निर्माण में वे ईश्वर के कर्तृत्व को स्वीकार नहीं कर पाते। कर्म करने एवं फल-भोगने का सामर्थ्य स्वयं में है। अतः नियामक तत्व के रूप में अन्य किसी की अपेक्षा इन मतों में नहीं है। कृत-कर्म ही विश्व के वैचित्र्य का सर्जक है।[2]

मध्व के अतिरिक्त वेदान्त के विविध-मत मूल में एक ही तत्व को सामान्यतः स्वीकार करते है किन्तु वह तत्व प्रकृति आदि न होकर ब्रह्म-तत्व है। इस एक तत्व के शोध का प्रयास वैदिक काल से ही चलता आ रहा है। ब्रह्म-सूत्र के भाष्यों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। एक के प्रतिनिधि शंकर है और दूसरे भास्कर से लेकर चैतन्य तक के सभी चिन्तक।[3]

शंकर केवलाद्वैती है। उनको ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की पारमार्थिक सत्ता इष्ट नहीं है।[4] जब ब्रह्म को ही ईश्वर कहना है, तब जीव और ईश्वर दोनों ही ब्रह्म हैं, यह भी ग्रहण करना होगा। इसके लिये शंकर ने माया एवं अविद्या के द्वारा इस स्थिति का समाधान किया है। माया उपाधि से उपहित ब्रह्म, ईश्वर तथा अविद्या उपाधि से उपहित ब्रह्म जीव है। वही उपहित ब्रह्म जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। ब्रह्म ही इस प्रकार कर्तृत्व का आधार, शंकर द्वारा, निरूपित

१. विज्ञानभिक्षु—'सांख्यशास्त्रस्य तु पुरुषार्थतत्साधनप्रकृतिपुरुष-विवेकावेव मुख्यो विषय इतीश्वरप्रतिषेधांशबाधेऽपि नाप्रामाण्यम्, यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति न्यायात्। अतः सावकाशतया, सांख्यमेवेश्वरप्रतिषेधांशे दुर्बलमिति।'
सांख्य प्रवचन भाष्य भूमिका।

२. 'कर्मजं लोकवैचित्र्यम्।' अभिधर्मकोष ४।१.

३. पं० सुखलाल संघवी—भारतीय तत्वविद्या, पृष्ठ १२२.

४. डा० एस० एन० दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग २.

यदि ईश्वर की मान्यता का दर्शन में महत्व स्थापित करना है, तो उसका मनुष्य से सीधा सम्बन्ध रखना अनिवार्य होगा। इसीलिए मध्व ने ईश्वर को सर्वगुण सम्पन्न माना है।

प्राय: परिभाषाएं दो प्रकार की पाई जाती हैं। स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। पंचपादिकाकार आदि अद्वैतमतानुयायी विद्वान् तटस्थ लक्षण के रूप में ब्रह्म-तत्व का व्याख्यान करते हैं। किन्तु मध्व-अनुयायियों का कथन है, कि लक्षण का अर्थ वस्तु का वैशिष्ट्य प्रतिपादन होता है,[१] भले ही वह लक्षण तटस्थ कहा जाए अथवा स्वरूप। परिभाषा के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण अद्वैत मत में ग्राह्य नहीं है।[२] मध्व ऐसा करके ईश्वर की जीव और जड़ से पृथक् तत्व के रूप में प्रतिपादित करने की सुविधा ग्रहण कर लेते हैं।[3] ब्रह्म शब्द के जाति, जीव, कमलासन ब्रह्मा आदि अनेक रूढ अर्थ हैं। बृह-धातु से निष्पन्न उक्त पद का अर्थ, व्यासतीर्थ ने, व्युत्पत्तिलभ्य रूप में ही किया है। इसका जीव अर्थ लेने में 'बृंहणशील' अर्थ में बाधकता प्राप्त होती है, इसलिए श्रुति में कहा गया विष्णु अर्थ ही अभिप्रेत है।[४] रूढ़िगत अर्थ ग्रहण करते समय सामान्यरूढ़ि और विद्वद्रूढ़ि' में अन्तर मानकर विद्वानों के द्वारा स्वीकृत ब्रह्म पद के विष्णु अर्थ का ग्रहण इस मत में किया गया है।[५] उक्त सूत्र के ही व्याख्यान में रामानुज के अनुसार सूत्र में कही गई विशेषता के ब्रह्म में होने पर भी श्रुति प्रतिपाद्य 'सत्यंज्ञानमनंतम्' आदि वाक्य, उसको जीव से

---

१. व्यासतीर्थ— 'प्रसिद्धस्यासाधारणधर्मीय लक्षणत्वेन—।'
तात्पर्यचन्द्रिका, पृष्ठ १४०.

२. वही— 'स्वरूपं वा तटस्थं वा लक्षणं भेदकं मतम्।
सजातीयाद्विजातीयात्तच्चाद्वैतिमते कथम् ?" पृष्ठ १४३.

३. "Madhva is explaining this sutra (जन्माद्यस्य यत:) as difinition (लक्षण) of Bramha intended to differentiate him from beings of his class i. e. the soul (Jiva) and inanimate objects, which belongs to a different class."
Dr. S. N. Dasgupta—A History of Indian philosophy, vol. Iv. P. 119.

४. जयतीर्थ— 'ब्रह्मशब्दस्य जीवरूढत्वेऽपि वाघ सद्भावात् तद्ब्रह्मइति श्रुत्युक्तं ब्रह्म विष्णुरेव ' तत्व-प्रकाशिका, पृष्ठ १४०.

५. व्यासतीर्थ—'विदुषां ब्रह्मशब्देन विष्णुव्यक्तिप्रतीतेः।' तात्पर्यचन्द्रिका, पृष्ठ १२४.

वल्लभाचार्य ने ब्रह्मरूप ईश्वर को जगत का कारण कहा है। ईश्वर जगत् का समवायि कारण है। ब्रह्म की स्थापना प्रमुखरूप से आगम से ही की गई है। सृष्टि प्राणिकर्मसापेक्ष है। इसके उपरान्त भी ईश्वर की लीला को वल्लभ ने स्वतंत्र माना है।[1]

शैवाचार्य श्रीकण्ठ ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूप कहते है। वह शिवरूप है, वही ईश्वर-रूप भी है निमित्त एव उपादान दोनों प्रकार मे जगत् का कारण ईश्वर ही है।[2] सूक्ष्म चित् एवं अचित् शक्तिरूप ब्रह्म कारण-ब्रह्म है। स्थूल चिदचिद्रूप जगत् कार्य रूप है। रामानुज यह दोनों लगभग एक ही प्रकार के परिणाम को मानने वाले है।

शंकरादि ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यकारों की एक वृत्ति समान रूप से है, कि मूल रूप मे ब्रह्म को स्थापित करके उसी को उपादाननिमित्तादि कारणो के नाम से अभिहित किया गया है। किन्तु जगत् की सृष्टि के लिये सांख्य-सम्मत प्रकृति की प्रक्रिया का आश्रय किसी न किसी प्रकार से उनको अवश्य ग्रहण करना पड़ा। यदि इस तत्व को पृथक् कर दिया जाय तो कोई भी ब्रह्मकारणवाद स्थिर नही रह पावेगा।[3]

मध्व तथा अन्य शकरोत्तर विचारको में वैष्णव-आन्दोलन का बहुत अधिक प्रभाव हुआ। शकर का निरकुश, निर्द्वन्द्व, निराकार, निर्गुण ब्रह्म का साधक से कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध न होने के कारण आस्था और श्रद्धा का प्रयोग तदीयाराधन मे नहीं हो सकता था। साथ ही व्यक्ति को जब तक उस परम-अर्थ से अपने वैयक्तिक-सम्बन्ध की प्रतीति न हो, तब तक जीव की तत्व के प्रति प्रवृत्ति की सम्भावना ही नही रहेगी। भले ही तार्किक सगति की दृष्टि से अद्वैत-मत अधिक रुचिकर लगे, किन्तु व्यावहारिक उपयोग को स्मरण रखे बिना, मानवीय और नैतिक मूल्यों के प्रति सहज आस्था की सस्थापना ही नहीं हो सकती। ईश्वर का व्यावहारिक जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करके विलियम जेम्स ने सत्य का प्रतिपादही किया है।[4]

---

१. वल्लभ—'तद्ब्रह्मैव समवायिकारणम्। समन्वयात्, सम्यगनुवृत्तत्वात्।

अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात्। नामरूपयोः कार्यरूपत्वात्।'
अणुभाष्य १।१।३.

२. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ५, पृष्ठ ७६.

३. प० सुखलाल सघवी—*भारतीय तत्व विद्या*, पृष्ठ १३५.

४. "The pragnatic conception of God in Willian James philosophy has an inkling truth when it relates him essentilly with the practical life of man."

Dr A. K. Narain, An out line of madhva philosphy. P. 107.

की 'द्वैत वेदान्त सम्प्रदाय' यह साम्प्रदायिक संज्ञा है ।[1]

अन्य तत्वों के सम्बन्ध के सन्दर्भ में ब्रह्म की क्रियात्मकता की कोई सीमा भी है अथवा नहीं ? इस शंका का समाधान मध्व के अनुसार है कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का कुलाल मात्र नहीं है अपितु प्रकृति आदि को सत्ता प्रदान करने वाला तत्व भी यही है ।[2] जगत् को ईश्वर की सृष्टि कहने का अभिप्राय उसकी उक्त प्रकार की अधीनता ही है । अन्यथा अन्य प्रकार की सृष्टिगत आधारता, ईश्वर की सृष्टिनिर्माण की क्षमता के सीमित और असीमित होने का, कोई समुचित समाधान नहीं दे पायेगी । ईश्वर की कृपा एवं इच्छा पर सृष्टि-प्रसरण आधारित है । [3] यद्यपि उसकी अपनी सत्ता भी है। वह सत्ता उतनी ही सत् है, जितनी जीव या ईश्वर की । ईश्वर और जगत् तथा जीव में सत्ता की दृष्टि से समानता होने पर भी, स्वाधीनता और पराधीनता के आधार पर अन्तर है । अतः पराधीनता के कारण ही सृष्टि ब्रह्म की इच्छा पर आधारित है ।

अद्वैत के ब्रह्म से भिन्न ईश्वर की तात्विक मान्यता के मध्वादि आचार्यों के, ग्रहण के मूल में भक्ति की सैद्धान्तिक ग्राह्यता भी थी । यदि ईश्वर व्यक्ति से किसी प्रकार से सम्बद्ध नहीं है, तो उसके प्रति अनुराग होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा । डा० राधाकृष्णन् भी इसी तथ्य को प्रसंगान्तर में स्थापित करते हैं, कि शंकर का निर्लिप्त परमब्रह्म कभी आराधना को आकर्षित नहीं कर सकता । जो धर्म एवं दर्शन के उद्देश्य को 'ईश्वर का ज्ञान—तात्विकता का ज्ञान' मानते हैं ; उनके लिये शंकर का मत विद्वत्तापूर्ण भ्रम है ।[4] वैष्णव मत के अनुवर्ती चिन्तन में अन्य तथ्यों पर मतभेद हो भी सकता है, पर वे सभी समान रूप से भक्ति के उद्देश्य के रूप में ईश्वर को मानते हैं ।

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ २३१.

२. मध्व—'प्रकृत्यादिसत्ताप्रदत्वं स्वीकृतमीश्वरस्य ।' ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।५.

३. वही—'भाग० तात्पर्यनिर्णय, २।१०।१२.

4. Dr. S. Radhakrishnan—"The absolute of Shankar rigid, motionless and totally lacking in initiative or influence cannot call forth our worship. Like the Taj Mahal which is unconcious of the admiration it arouses the absolute remains indifferent to the fear and love of its worshipers and for all those who regard the goal of religion as the goal of Philosophy to know God is to know the real Shankara's view seems to be a finished example of learned error.
Indian Philosophy, Vol. II. P. 659.

पृथक् प्रमाणित करते है। वे सभी उसकी पारमार्थिक विशेषताए हैं।[१] जो उसमे रहती हैं। मध्व तथा उसके अनुयायी ब्रह्म की यह परिभाषा न मानकर अनन्तगुण-युक्तता को ही लक्षण मानते है।[२] इसी कारण वह स्वतंत्र भी है। ब्रह्म को स्वतंत्र के रूप में मान लेने के उपरान्त 'जगत्' भी पृथक् रूप मे मानना होगा तथा जगत् और ईश्वर इन दोनों के सम्बन्ध की सत्ता भी 'वास्तविक' रूप मे सत् माननी होगी। अद्वैत का निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म के जगदाधारत्व को प्रमाणित नही कर सकेगा। न ही चिदचिद्विशिष्ट रामानुज सम्मत ब्रह्म ही, क्योकि एक तो निर्गुण है, दूसरा स्वयं अचिद् से सम्पृक्त है; अत; आधार और आधेय की पृथक् प्रतिपत्ति की उसमें स्थिति नही है।[3] ब्रह्म-सूत्र के प्रथम सूत्र के व्याख्यान के प्रसग मे मध्व ने ईश्वर सम्बन्धी विवेचन को भी स्थान दिया है। मध्व के अनुसार सूत्रकार मे जिस ब्रह्म जिज्ञासा को प्राथमिक उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया है वह बिना ईश्वर की कृपा के सम्भव नही है। वही ईश्वर सभी प्रकार की मनोवृत्तियो का प्रेरक है।[४] परब्रह्म ही विष्णु हैं।[५] इस प्रकार एक तत्व की सत्ता पहले से मध्व मानकर चलते हैं।

तत्व-विवेचन के द्वारा यह स्पष्ट है कि मध्व स्वतंत्र और अस्वतंत्र दो प्रकार के तत्व मानते हैं। स्वतत्र तत्व के रूप मे ईश्वर (विष्णु) की मान्यता इस मत मे है। उक्त तत्व सभी सत् शक्तियो से परिपूर्ण, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य, असाधारण चित् तथा किसी के द्वारा नियमित न होने वाला है।[६] ईश्वर को ही सर्वप्रकारेण स्वतत्र तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। स्वतंत्र अभिधान करने का अभिप्राय यह भी है, कि अन्य तत्व परतत्र के रूप मे हैं। इसी मूल-दृष्टि के कारण उस दर्शन

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ १२४.

२. जयतीर्थ—'अनन्तगुणसत्त्वमेव ब्रह्मणो लक्षणम्।' न्यायसुधा, पृष्ठ १०१.

3. H. N. Raghvendrachar—"Bramha as the ground of the world is ever distinguished from the dependent world. This means that the independent, the dependent and distinction between the two are equally realy."
The Dvaita philosophy and its place in the Vedant P. 201.

४. मध्व—'स हि सर्वमनोवृत्तिप्रेरकः समुदाहृतः।' ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१.

५. वही—'परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादात् इति वा भवेद्।' १।१।१.

६. मध्व—'सर्वत्राखिलसच्छक्तिः स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः।
नित्यातादृशचिच्चेत्ययन्ता इष्टो नो रमापतिः॥ तत्वोद्योत, पृष्ठ ६६.

लोक-मर्यादा का अनुरोधी है एवं वह अपने ऐश्वर्य के विरोधी संकल्प को नहीं करता।[1] जयतीर्थ के अनुसार इस प्रकार के आचरण से उसकी महिमावृद्धि ही होती है।[2] प्राकृतिक नियम से आवद्धता ईश्वर ने क्यों स्वीकार की? इस प्रश्न के समाधान में मध्व का कथन है, कि ईश्वर ने स्वेच्छा से ये मर्यादायें स्वीकार कर लीं हैं।[3] ईश्वर में प्राप्त अणुत्व महत्व आदि सभी का यौगपद्य एकत्र संस्थान सम्भव है। यह विरुद्ध भी नहीं हैं। इस प्रकार के सम्पूर्ण अन्तर्विरोध ईश्वर के द्वारा ही समाहित होते हैं। ईश्वर अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध कामना ही क्यों करेगा? साथ ही उसमें ऐसी किसी मान्यता की कल्पना का भी प्रसंग नहीं होगा, जो ईश्वर विरुद्ध तो न हो पर उसकी सत्ता ही न हो, अन्यथा 'शषविषाणादि' की ईश्वर में संस्थिति माननी होगी। इसलिए ईश्वर ऐसी किसी बात की कल्पना ही नहीं करेगा जो उसकी विघातक हो।[4] परिणामतः ईश्वर में प्राप्त या दृश्यमान विरोध उसकी स्वतः की इच्छा से ही है। इसीलिए उस पर आश्रित रहनेवाले तत्व जीव और प्रकृति अपनी सत्ता प्राप्त किए हैं क्योंकि वह वैसा ही चाहता है। यही उनकी पराधीनता है।

ब्रह्म अथवा ईश्वर के स्वरूप में ही कुछ ऐसी विशेषता है, कि जीव उसके प्रति आकृष्ट होकर जिज्ञासा करता है। ईश्वर अनन्त गुणों का आकार होने के कारण पूर्ण और जीव अल्प है, इसलिए उसके मंत्र में ईशसम्बन्धिनी जिज्ञासा होती है।[5] जीव की यह अल्पज्ञता स्वतः सिद्ध है। इस जिज्ञासा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं।

---

१. 'भगवदैश्वर्यमपि लोकमर्यादानुरोधीत्यंगीकारात्। नहीश्वरोऽपि स्वस्यैश्वर्यविरोधिभूतमर्थं संकल्पकरोति। तस्य पेक्षावत्वात्। मध्वाव्बकण्टकोद्धार, पृष्ठ ५८.

२. 'निरपेक्षतया स्रष्ट्रत्वस्य उभयपक्षसाम्येन महिमोत्कर्षसाम्येऽपि, साधनसत्ताभ्युपगमे एकाकिनः सकाशात्सोपस्करस्याविक्योत्कर्षलाभात्।' तत्व-प्रदीप, २।१।१९.

३. मध्व—'न युक्तमीशितुः किंचिदीशित्वविरोधि यत्।
ईश्वरस्याविरोधेन योजयित्वाखिलाः प्रमा॥' अनुव्याख्यान, पृष्ठ ३६.

४. जयतीर्थ—'यत्क्वचिद्विरुद्धमिव प्रतीयमानमपि ईश्वरे तदितरत्र वा प्रमाणसिद्धम् ईश्वरैश्वर्यविरोधी च न भवति, यथाणुत्वमहत्वयौगपद्यादि तत्सर्वं ईश्वरबलेन घटत इत्यंगीकार्यम्। न तु निराकार्यम्। यत्पुनरप्रमितं तदीश्वरैश्वर्याविरुद्धमपि न कल्पनीयम्। शशविषाणकल्पनीयमेव। कल्पकविघातकत्वात्। किन्तु तस्य प्रमाणस्य यथायोगमाभासत्वं वर्णनीयम्।' न्यायसुधा, पृष्ठ ५११.

५. मध्व—'ब्रह्मशब्देन पूर्णगुणत्वेनानुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेदः।
न्यायविवरण, १।१।१.

ईश्वर जगत् के प्रति निमित्त कारण है। ईश्वर की कार्यरूप जगत् के प्रति कारणता ठीक उसी प्रकार है, जैसे पिता की पुत्र के प्रति रहती है। जिस प्रकार एक पुत्र अपने पिता से अपनी सत्ता का ग्रहण करता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् अन्ततः ईश्वर पर आश्रित है। इसीलिये ईश्वर सृष्टि की निर्मिति, संस्थिति एवं ध्वस मे कारण है। इसी पराधीनता को लक्ष्य करके ईश्वर को कारण कहा गया है। मध्व मत मे ईश्वर केवल निमित्त कारण है। भास्कराचार्य आदि विद्वानो की मान्यता के समान वह उपादान कारण नही है; जयतीर्थ के अनुसार उपादान कारणत्व परिणामवाद से सम्बद्ध है।[1] उपादान कारण सर्वदा परिणामि कारण होता है और कार्य उसका परिणमन है। यह परिवर्तन दो रूपों में है। गुणों में परिवर्तन होना अथवा गुणी मे, अतः यदि ईश्वर को उपादान कारण मान लिया गया तो उसे परिणमनशील भी मानना होगा; किन्तु यह निश्चय श्रुतिविरुद्ध है, क्योंकि श्रुति मे ईश्वर को अविकार्य कहा गया है। किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन दूसरे तत्व के ही अधीन होता है। इसके अतिरिक्त कारण (उपादान) के गुण कार्य में संक्रमित होते हैं। ब्रह्म के चैतन्य आदि गुणो की स्थिति जगत् में भी होनी चाहिए। किन्तु जगत् की जड़ता यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है, कि ब्रह्म (ईश्वर) को केवल निमित्त कारण माना जा सकता है, उपादान नहीं। उक्त तथ्य स्वीकार कर लेने के बाद मध्व का कथन ग्राह्य हो जाता है, कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति, संहारादि के नियमन मे समर्थ है।[2] ईश्वर का जगत् में परिवर्तन पिता के पुत्र के रूपमें परिवर्तित होने के समान है।[3]

ईश्वर में विरुद्ध गुणो की स्थिति के प्रश्न को लेकर भी द्वैतवादियों पर आक्षेप किया जाता है। क्या ईश्वर के स्वरूप में अनेक विरोधी तत्व रह सकते हैं? इसीलिए मध्व ने ईश्वर के विषय मे विचार उपस्थित किया, कि, क्या ईश्वर वह सभी कर सकता है, जो वह चाहता है? अथवा कुछ ऐसे भी कार्य हैं जो उसकी क्षमता से बाहर हैं? क्या उससे भिन्न अन्य वास्तविक तत्व (जीव एवं जगत्) क्या उसी से प्रादुर्भूत हुए हैं? अथवा उससे भिन्न वैयक्तिक अस्तित्व रखते हैं, यदि ऐसा है, तो उनकी निर्मिति मे ईश्वर कारण नही है। वह उनकी स्थिति को रोक नही सकता, इसलिए उसकी शक्ति, इस अर्थ मे, सीमित है। मध्वादि के अनुसार वह यदि इच्छा करे तो अनुकूल प्रतिकूल एवं अन्यथा करने में समर्थ है। उसने विपरीत कार्य की इच्छा ही नही की, इसलिए प्रोक्त तत्व ऐसी स्थिति मे है। विजयीन्द्र तीर्थ के अनुसार ईश्वर

---

१. जयतीर्थ—'परिणामि कारणं हि उपादानमुच्यते।' न्यायसुधा, पृष्ठ १६४.

२. मध्व—'सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाबन्धमोक्षाः यतः।'
ब्रह्मसूत्रभाष्य, पृष्ठ ६.

३. जयतीर्थ—तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ८.

हैं। ब्रह्म के विशेषण अनेक हैं तथा वे परस्पर अविभाज्य हैं।[1] जैसी न्याय की मान्यता ईश्वर में छः गुणों की है, वैसी मध्व की नहीं। मध्व के अनुसार ईश्वर तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण है।[2] जयतीर्थ के अनुसार षाड्गुण्य का सिद्धान्त तो अनन्तगुण का उपलक्षण मात्र है। उन्हीं में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् भी ईश्वर के गुणों को स्वाभाविक मानता है। वे उसके आगन्तुक अथवा आकस्मिक धर्म नहीं हैं।'[4]

सगुण मानने पर भी द्वैत-मत भौतिक अवयवों से ईश्वर का आकार बनता है, इस मत को मानने के पक्ष में नहीं है, किन्तु यहां केवल भौतिक शरीर का अभाव ही अभिप्रेत है, न कि अशरीरी होना। स्त्री एवं पुरुषादि रूप में वह देहवान् नहीं है, अपितु चैतन्यात्मकता एवं आनन्द से ही उसका आकार निर्मित है।[5] अशरीरी न मानकर तथा सामान्य देहादि से भिन्न आकार मानकर जो विरोधाभास उत्पन्न हो गया, उसे अनेक श्रुतियों के आधार पर मध्व ने समाहित किया है।[6]

अनेक विशेषताओं के कारण ही ईश्वर जीव से भिन्न है। जीव में अज्ञता, पराधीनता, छिन्नभिन्नता, भौतिक शरीर का होना, देहत्याग, अनीशता, दुःखपूर्णता आदि विशेषताएं हैं, जो ईश्वर में नहीं हैं। इन्हीं के कारण जीव हीन है।[7] जीव

---

१. मध्व— तानि सर्वाण्यन्योन्यानन्यरूपाणि।' गीताभाष्य, २।१२.

२. 'मय्यनन्तगुणेऽनन्ते·····।' भागवत ६ ४।४८.

३. जयतीर्थ—'षाड्गुण्यमित्युपलक्षणं षाड्गुण्ये सर्वगुणान्तर्भावो वा।' गीताभाष्य टीका, २।७२.

४. ६।८ श्वेता० उपनिषद्।

५. मध्व—'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा।
स्त्रीपुंल्लिगाभियोगात्मा देहो विष्णोर्न जायते॥ वाराहसंहिता।
किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखं नित्यं स्वकां तनुम्। वि० तत्व निर्णय, पृ० ५५.

६. 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दैरेव भण्यते।
ज्ञापनार्थाय लोकस्य यथा राजेव देवराट्॥ इति पद्ये
लोकविलक्षणेप्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगो युज्यते।' तत्वप्रदीप, ३।२।३४.

७. 'मध्व—तस्यापि शरीरश्रवणात्' आनन्दरूपममृतम्'। मुण्डको० २।२।२७.
सुवर्णज्योतिः (तैत्तिरीय) 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' छान्दो० ८।१।१.
इत्यादिषु। यदि रूपं न स्यात् आनन्दमित्येव स्यात् नत्वानन्दरूपमिति।
कथं सुवर्णरूपत्वं स्यादस्य रूपस्य? सहस्रशीर्षा पुरुष' रुक्मवर्ण कर्ता
'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् सर्वतः पाणिपादं तत् विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतो मुखम्' इत्यादि वचनात् विश्वरूपाध्यायोक्तश्च रूपवानवसीयते। भाग ता० पृष्ठ ५.

ईश्वर ही जगत् को सत्ता, प्रवृत्ति और प्रमिति प्रदान करता है।[1] यह राजादि के समान नियामक न होकर जगत् को सत्ता प्रदान करने वाला तत्व है।[2] यह जगत में है, तथा उससे परे भी है, क्योंकि यह उसका निमित्त कारण है। संसार के बुरे तत्व उसकी पूर्णता के संकेत लिए ही हैं। राजस और तामस के कारण ही सत्व की सत्ता होती है। सभी जीवों का भी आधार यही है। वही संपूर्ण वेद एवं शास्त्रों का अर्थ है। उपनिषद् के सभी तदीय प्रतिपादक हैं।[3] अतः ईश्वर में ही सभी प्रकार के तत्वों की आश्रयता है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म का स्वरूप निर्विरोध नहीं है, क्योंकि निर्विशेष कहा जा सकने वाला कोई तत्व प्रमाण प्रतिपन्न नहीं है। यदि कहा जाए कि ब्रह्म निर्विशेष है, तो यह भी तो ब्रह्म का ही विशेषण हो गया तो, वह स्वयं में भेदक-तत्व हो गया, अर्थात् निर्विशेषत्व उस तत्व को उन अन्य तत्वों से पृथक करता है जिनमें विशेषत्व है। अतः व्यावर्तक होने के कारण निर्विशेषत्व स्वयं एक विशेषण हो गया।[4] निर्विशेष शब्द की स्वतः ही कोई प्रामाणिकता नहीं है। केवल अशेष और विशेष यही दो पद प्रयुक्त हो सकते हैं। साथ ही उपर्युक्त युक्ति भी निर्विशेष पद की असारता प्रमाणित करती है।[5] अतः सविशेष ब्रह्म का ग्रहण अनुभव सिद्ध भी है, युक्तिसंगत भी।

ब्रह्म के वैशिष्ट्य प्रतिपादक विशेषण अलौकिक ही हैं, किन्तु जिन शब्दों से हम उनको व्यक्त करते हैं, वे लौकिक हैं।[6] ये पद केवल उस ओर संकेत मात्र कर पाते

---

१. एच० एन० राघवेन्द्राचार—द्वैत फिलासफी एंड इट्स प्लेस इन द वेदान्त, पृष्ठ २०२.

२. मध्व—'आधारः सर्वभूतानां येन विष्णुः प्रसादितः।'
(सर्वमूलान्तर्गत) कृष्णामृतमहार्णव, पृष्ठ ७५०.

३. वही—'स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च।
स एव सर्वशब्दार्थ इत्याहोपनिषत्परा॥'
(सर्वमूलान्तर्गत) ऋग्भाष्य, अध्याय १, पृष्ठ ३१७.

४. मध्व—'न च निर्विशेष नाम किंचिदस्ति। निर्विशेषत्वोक्तोरेव व्याहतत्वात्।
निर्विशेषत्वेन विशिष्टं न वेत्युक्ते यद्यविशिष्टं तर्हि न विशेषनिराकरणम्।
विशेषवत्त्वमेव भवति। यदि तेन विशिष्ट स एव विशेष इति व्याहतिः।'
कर्मनिर्णय, पृष्ठ २५०.

५. मध्व—'न च निर्विशेषत्वे किन्चिन्मानम्। अशेषविशेषवचनानुभवयुक्ति-विरोधश्च।' वही, पृष्ठ २५१.

६. 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दैरेव भण्यते।' ज्ञापनार्थमलोकस्य यथा राजेव देवराट्॥ इतिपद्ये लोकविसदृशोऽप्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगो युज्यते।' तत्वप्रदीप ३।२।३४.

हैं। ब्रह्म के विशेषण अनेक हैं तथा वे परस्पर अविभाज्य हैं।[१] जैसी न्याय की मान्यता ईश्वर में छः गुणों की है, वैसी मध्व की नहीं। मध्व के अनुसार ईश्वर तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण है।[२] जयतीर्थ के अनुसार षाड्गुण्य का सिद्धान्त तो अनन्तगुण का उपलक्षण मात्र है। उन्हीं में सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।[3] श्वेताश्वतर उपनिषद् भी ईश्वर के गुणों को स्वाभाविक मानता है। वे उसके आगन्तुक अथवा आकस्मिक धर्म नहीं हैं।'[४]

सगुण मानने पर भी द्वैत-मत भौतिक अवयवों से ईश्वर का आकार बनता है, इस मत को मानने के पक्ष में नहीं है, किन्तु यहां केवल भौतिक शरीर का अभाव ही अभिप्रेत है, न कि अशरीरी होना। स्त्री एवं पुरुषादि रूप में वह देहवान् नहीं है, अपितु चैतन्यात्मकता एवं आनन्द से ही उसका आकार निर्मित है।[५] अशरीरी न मानकर तथा सामान्य देहादि से भिन्न आकार मानकर जो, विरोधाभास उत्पन्न हो गया, उसे अनेक श्रुतियों के आधार पर मध्व ने समाहित किया है।[६]

अनेक विशेषताओं के कारण ही ईश्वर जीव से भिन्न है। जीव में अज्ञता, पराधीनता, छिन्नभिन्नता, भौतिक शरीर का होना, देहत्याग, अनीशता, दुःखपूर्णता आदि विशेषताएं हैं, जो ईश्वर में नहीं हैं। इन्हीं के कारण जीव हीन है।[७] जीव

१. मध्व— तानि सर्वाण्यन्योन्यानन्यरूपाणि।' गीताभाष्य, २।१२.

२. 'मय्यनन्तगुणेऽनन्ते'''—।' भागवत् ६ ४।४८.

३. जयतीर्थ—'षाड्गुण्यमित्युपलक्षणं षाड्गुण्ये सर्वगुणान्तर्भावो वा।' गीताभाष्य टीका, २।७२.

४. ६।८ श्वेता० उपनिषद्।

५. मध्व—'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा।
स्त्रीपुंल्लिंगाभियोगात्मा देहो विष्णोर्न जायते॥ वाराहसंहिता।
किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखं नित्यं स्वकां तनुम्। वि० तत्व निर्णय, पृ० ५५.

६. 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दैरेव भण्यते।
ज्ञापनार्थाय लोकस्य यथा राजेव देवराट्॥ इति पद्ये
लोकविलक्षणेऽप्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगो युज्यते।' तत्वप्रदीप, ३।२।३४.

७. 'मध्व—तस्यापि शरीरश्रवणात्' आनन्दरूपममृतम्'। मुण्डको० २।२।२७.
सुवर्णज्योतिः (तैत्तिरीय) 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' छान्दो० ८।१।१.
इत्यादिषु। यदि रूपं न स्यात् आनन्दमित्येव स्यात् नत्वानन्दरूपमिति।
कथं सुवर्णरूपत्वं स्यादस्य रूपस्य? सहस्त्रशीर्षा पुरुष' रुक्मवर्ण कर्ता
'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् सर्वतः पाणिपादं तत् विश्वतश्चक्षुरुत
विश्वतो मुखम्' इत्यादि वचनात् विश्वरूपाध्यायोक्तश्च रूपवानवसीयते। भाग ता० पृष्ठ ५.

ईश्वर ही जगत् को सत्ता, प्रवृत्ति और प्रमिति प्रदान करता है।[1] यह राजादि के समान नियामक न होकर जगत् को सत्ता प्रदान करने वाला तत्व है।[2] यह जगत् में है, तथा उससे परे भी है, क्योंकि यह उसका निमित्त कारण है। संसार के बुरे तत्व उसकी पूर्णता के संकेत लिए ही हैं। राजस और तामस के कारण ही सत्व की सत्ता होती है। सभी जीवों का भी आधार यही है। वही संपूर्ण वेद एवं शास्त्रों का अर्थ है। उपनिषद् के सभी तदीय प्रतिपादक हैं।[3] अतः ईश्वर में ही सभी प्रकार के तत्वों की आश्रयता है।

ईश्वर अथवा ब्रह्म का स्वरूप निर्विरोध नहीं है, क्योंकि निर्विशेष कहा जा सकने वाला कोई तत्व प्रमाण प्रतिपन्न नहीं है। यदि कहा जाए कि ब्रह्म निर्विशेष है, तो यह भी तो ब्रह्म का ही विशेषण हो गया तो, वह स्वयं में भेदक-तत्व हो गया, अर्थात् निर्विशेषत्व उस तत्व को उन अन्य तत्वों से पृथक करता है जिनमें विशेषत्व है। अतः व्यावर्तक होने के कारण निर्विशेषत्व स्वयं एक विशेषण हो गया।[4] निर्विशेष शब्द की स्वतः ही कोई प्रामाणिकता नहीं है। केवल अशेष और विशेष यही दो पद प्रयुक्त हो सकते हैं। साथ ही उपर्युक्त युक्ति भी निर्विशेष पद की असारता प्रमाणित करती है।[5] अतः सविशेष ब्रह्म का ग्रहण अनुभव सिद्ध भी है, युक्तिसंगत भी।

ब्रह्म के वैशिष्ट्य प्रतिपादक विशेषण अलौकिक ही हैं, किन्तु जिन शब्दों से हम उनको व्यक्त करते हैं, वे लौकिक हैं।[6] ये पद केवल उस ओर संकेत मात्र कर पाते

---

१. एच० एन० राघवेन्द्राचार—द्वैत फिलासफी एंड इट्स प्लेस इन द वेदान्त, पृष्ठ २०२.

२. मध्व—'आधारः सर्वभूतानां येन विष्णुः प्रसादितः।'
(सर्वमूलान्तर्गत) कृष्णामृतमहार्णव, पृष्ठ ७५०.

३. वही—'स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च।
स एव सर्वशब्दार्थ इत्याहोपनिषत्परा॥'
(सर्वमूलान्तर्गत) ऋग्भाष्य, अध्याय १, पृष्ठ ३१७.

४. मध्व—'न च निर्विशेषं नाम किंचिदस्ति। निर्विशेषत्वोक्तोरेव व्याहतत्वात्। निर्विशेषत्वेन विशिष्टं न वेत्युक्ते यद्यविशिष्टं तर्हि न विशेषनिराकरणम्। विशेषवत्त्वमेव भवति। यदि तेन विशिष्टं स एव विशेष इति व्याहृतिः।'
कर्मनिर्णय, पृष्ठ २५०.

५. मध्व—'न च निर्विशेषत्वे किञ्चिन्मानम्। अशेषविशेषवचनानुभवयुक्ति-विरोधश्च।' वही, पृष्ठ २५१.

६. 'अलौकिकोऽपि ज्ञानादिस्तच्छब्दैरेव भण्यते।' ज्ञापनार्थंयलोकस्य यथा राजेव देव-राट्॥ इतिपद्ये लोकविलक्षणेप्यानन्दादौ तत्पदप्रयोगो युज्यते।' तत्वप्रदीप ३।२।३४.

निमन्त्रण, ज्ञान, तिरोधान, बन्ध एवं मोक्ष हैं। ये शक्तियां पौराणिक साहित्य में त्रिदेव में मानी गई हैं। मध्व इनको एक ही देव विष्णु से सम्बद्ध मानते हैं। डा० राधाकृष्णन् के अनुसार इन आठ शक्तियों में 'सृष्टि' की क्षमता, मध्व सम्मत, ब्रह्म की परिभाषा का, मुख्य आधार बन सकती है।[१] भिन्न-भिन्न प्रसंगों में स्थित विष्णु ही उन-उन शक्तियों को जाग्रत करके, एक ही महाशक्ति से सभी कुछ सम्बद्ध कर लेता है।[२] अन्य देवों में विद्यमान शक्तियां भी उन देवों की न होकर नारायण की हैं।[3] ये सभी देव आंशिक शक्तियों के स्वामी हैं, और नारायण महास्वामी है। जिस प्रकार छोटे-छोटे अनेक शासक अपने अपने भाग पर अधिकार करते हुए भी एक विराट् शासन के आधीन रहते हैं, वैसे ही ये देव नारायण के आधीन हैं।[४] अद्वैत-वेदान्त में विश्व, तैजस और प्राज्ञ आदि संज्ञाएं चित् तत्व के अज्ञानावच्छिन्न रूप की ही मानी गई हैं। जबकि मध्व सभी गुणों के आकार ईश्वर के ही विविध नाम तैजसादि मानते हैं। उनके अनुसार यह कोई माया अथवा अविद्याकृत अवस्था नहीं है।[५] कर्मों के आशय प्राणियों का प्रेरक तत्व यही है।[६] श्रेष्ठ-शक्ति एवं परम गुणों से पूर्ण, सभी प्रकार की पीड़ा का हर्त्ता, अविनश्वर कमलापति विष्णु सार्वाधिक पूज्य है।[७] इस प्रकार के ईश्वर से श्रेष्ठ और कोई वस्तु नहीं है। जिससे अधिक स्थिति की कल्पना ही न की जा सके वही ईश्वर है।[८] देशकाल और गुण तीनों दृष्टियों से उसकी असीमता आवश्यक है। केवल ईश्वर-तत्व ही उक्त विशेषताओं से युक्त है। लक्ष्मी, जिसका द्वैत-मत में महत्वपूर्ण स्थान है, वह देश और

---

1. Dr. S. Radhakrishnan—"Madhva believes that the characteristic mentioned, creative activity is an essential defining quality of Bramha." (Bramha Sutra, P. 237).
२. मध्व—'तत्र तत्र स्थितो विष्णुः तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन्।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमंजसा ॥' ब्रह्मसूत्रभाष्य २।३।११.
३. वही—'नैव राजन् रवेः शक्तिः शक्तिर्नारायणस्य-सा। मध्व द्वारा उद्धृत.
४. मध्व—'खंडाधीशाः सार्वभौमस्य तद्वत्,
ब्रह्मेशाद्याः कुर्वतो तेऽनुशास्तिम्।' भा० ता० १०।७४.
५. मध्व—'सविश्वतैजसप्राज्ञांतुरीयात्मान्तरात्मनाम्।
परमात्मज्ञानात्मयुजां मद्रूपाणां च वाचकः ॥ (सर्वमूलान्तर्गत) तन्त्रसार १।४.
६. वही—'भिन्नकर्माशयप्राणिसम्प्रेरकं तन्न किन्ते मण्डनम्।' द्वादशस्तोत्रम् ८।३.
७. वही—'निजपूर्णसुखामितबोधतनुः परशक्तिरनंतगुणः परमः।
अजरामरणः सकलार्तिहरः कमलापतिरीड्यतमोऽवतु नः ॥ ४।१ ॥'
८. 'इत इदमधिकं इतोऽपीदमिति सर्वाधिकत्वेन ततोऽधिकाभावेनावशेषितत्वे।'
भाग० ता० नि०, पृष्ठ ७१.

की इन सम्पूर्ण अपूर्णताओं से भिन्न ईश्वर पूर्णता से युक्त है। वह सभी प्रकार के दोष से रहित, सम्पूर्णतः निर्दुष्ट है। आनन्द ही उसके हाथ-पैर, मुखादि अवयव हैं। सभी प्रकार के स्वगत भेदों से रहित काल, देश की दृष्टि से न तो इसका आदि है न अंत, न वृद्धि, न क्षय, इस विष्णु के समान न तो पहले कभी कुछ हुआ है, न होने की संभावना है। वह सर्वज्ञ है, सम्पूर्ण शक्ति से सम्पन्न है, चैतन्य, सुख और वीर्य का आगम है अव्यय तथा पूर्ण है।[1] ईश्वर के इस प्रकार के स्वरूप के कारण ही मध्व अवतारो को किसी विशेष महत्व देने के पक्ष मे नही है। साथ ही वे ईश्वर को स्वाभाविक मानते है, न कि अविद्याजन्य जैसा कि अद्वैत-वेदान्त का अभिप्राय है।

सभी तत्वो में जो भी शक्ति दिखाई देती है वह ईश्वर की ही है। जितनी मात्रा मे उन वस्तुओ मे स्वातन्त्र्य प्राप्य है वह भी ईश्वर के द्वारा ही दिया हुआ है। परतंत्र तत्व उस स्वातन्त्र्य को अपना मान लेते हैं, किन्तु जैसे ही वह स्वातन्त्र्य समाप्त हुआ, उनको अपनी परतन्त्रता का बोध होता है।[2] ईश्वर ही जीव को उसके वास्तविक रूप का बोध भक्ति से प्रसन्न होने पर कराते है। जब मुक्ति ईश्वर के अधीन है तब बन्ध भी तदधीन होना चाहिए। मध्व यही मानते है।[3] इस बन्ध-मोक्ष को जिसके प्रति वश्यता है, स्वभावतः वह तत्व स्वतन्त्र रूप मे परिगणित किया जाना चाहिए। वह केवल परमोक्ष के लिये ही प्रवृत्त होता है।[4]

ईश्वर की आठ प्रकार की शक्तियाँ मानी गई है। वे सृष्टि, स्थिति, प्रलय,

---

१. मध्व—'अज्ञत्वं पारवश्यत्व वेधभेदादिकं तथा।
तथा प्राकृतदेहत्व देहत्यागादिकं तथा।
अनीशत्व च दुःखित्व साम्यमन्यैश्च हीनताम् ॥ महाभारत, तात्पर्य निर्णय १।३.

२. वही १।१०-१२.

३. "सर्ववस्तुषु या शक्तिः सा मदीयैव नान्यथा।
मयैव दत्त स्वातन्त्र्य केवलेष्वपि वस्तुषु॥
तावन्मात्रेण मोमुग्धाः स्वातन्त्र्यं मन्यते निजम्।
स्वातन्त्र्यापहृते पश्चाज्जानन्ति परतन्त्रताम् ॥' विष्णुरहस्य, १०।२२-२३.

४. मध्व—'स्वरूपभूत ज्ञान तु सदा जीवस्य विष्णुना।
नियतं, प्राकृतं ज्ञानं भक्त्या तेनैव दीयते॥
ततो विमुक्तिदाद्विष्णोर्मुक्तिर्यदभ्युपेयते।
बन्धोऽपि तत एव स्यादस्मादेकस्तयो' प्रभुः ॥ भागवत ता०, पृष्ठ ७४.

५. वही—'मोक्षदो हि स्वतन्त्रः स्यात् परतंत्रः स्वय मृगी।
वर्तमानः कथं शक्तः परमोक्षाय केवलम् ॥ अनु० व्या०, पृष्ठ ३३.

ब्रह्म ज्ञेय है अथवा नहीं इस विषय पर भी, द्वैत एवं अद्वैत मत में, मत विभिन्नता है। दोनों ही मत ईश्वर को स्वयंप्रकाश मानते हैं। किन्तु मध्व उसे, भले ही पूर्ण में न सही अल्पमात्रा में ही, ज्ञेय मानते हैं। जीव ब्रह्म के सम्पूर्ण गुणवान् स्वरूप को देखने में असमर्थ है। बहुत कम भाग ही वह देख पाता है, जितना कि उसको ईश्वर के द्वारा दिखाया गया है। जिस प्रकार से मेरु पर्वत को देखते हुए भी दर्शक देख नहीं पाते अर्थात पर्वत-दृष्टिगोचर तो है, किन्तु सर्वांशतः नहीं; ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म भी दृश्य अथवा ज्ञेय है, किन्तु सर्वांशतः नहीं।[१] ईश्वर ईक्षणीय होने के कारण वाच्य ही है, अनिर्वाच्य नहीं, जैसाकि अद्वैत का मत है। ईश्वर की यह ज्ञेयता श्रुति के द्वारा ही है। तर्क केवल उसके गुण एवं सत्ता का अनुमान मात्र करा सकता है। उसके स्वरूप के विषय में और अधिक ज्ञान तर्क अथवा बुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है क्योंकि जीव में जो भी बुद्धि है उसकी भी एक सीमा है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह सर्वथा अज्ञेय है। मध्व तथा उसके अनुवर्ती, उसे बहुत स्पष्टता के साथ, ज्ञान का विषय मानते हैं। इनके विपरीत मानने का अर्थ श्रुति की अग्राह्यता स्वीकार करना होगा। ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रारम्भ में ही मध्व ने कहा है[२] कि—'अनन्तगुणयुक्त, सर्वदोषविनिर्मुक्त, ज्ञेय एवं प्राप्य, नारायण की वन्दना करके मैं सूत्र का व्याख्यान करता हूँ।' इस प्रकार मध्व-मत में ईश्वर को ज्ञेय माना गया है।

प्रलयावस्था में ईश्वर अपनी आनन्दावस्था में रहता है जबकि सम्पूर्णसृष्टि संहार की स्थिति में रहती है। इसके उपरान्त वही भिन्न स्थितियों में से संसार को उत्पन्न करता है। दैवी अभिव्यक्ति का एक क्रम-वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं संकर्षण का चतुर्व्यूह है। इसके उपरांत ईश्वर दश, द्वादश अथवा असंख्य अवतारों के रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। पंचरात्र-साहित्य में ईश्वर की इस वैयक्तिक अभिव्यक्ति को शुद्ध-सृष्टि कहा गया है।[3] सामान्य रूप से स्वीकृत अवतारों की संख्या दश से अधिक भी मान ली गई है। हंस, दत्त, हरि आदि की गणना उक्त सूची में नहीं की गई है। शंकर एवं रामानुज दोनों ही आचार्य कृष्णद्वैपायन व्यास को पूर्णावतार मानने के पक्ष में नहीं हैं, जबकि सुदर्शनसूरि आदि परवर्ती रामानुज-टीकाकार मध्व के इस मत को मानने लगे, कि व्यास विष्णु के अवतार थे। रामानुज के ही अनुवर्ती वेदांतदेशिक ने व्यास को प्रारब्ध कर्म के आधीन सामान्य जीव माना।[४] मध्व अवतार में हीनता और उच्चता का कोई क्रम नहीं मानते। अवतारों

१. मध्व—ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३.
२. वही, १।१।१.
३. मध्व—महाभारत ता० निर्णय १।१०.
४. वेदान्तदेशिक—रामा० गी० भा० टीका, ४।६.

काल की दृष्टि से असीम होते हुए भी गुण की दृष्टि से सीमित है। जीव तो काल, देशादि सभी से सीमित है।[1] विष्णु ही पूर्णतः जिज्ञासा करने योग्य है। वही सबका कर्त्ता है। विष्णु को एक-मात्र उसकी सर्वगुणवत्ता के कारण कहा गया है।[2] संसार की सभी वस्तु से अधिक पूज्य होने के कारण यह पूज्यतम है; अतः अन्य किसी प्रकार चिन्ता में न पड़ते हुए, ईश में मन का सन्निधान करना ही श्रेयस्कर है।[3] जगत् में जो कुछ भी दिखाई अथवा सुनाई देता है, उसके भीतर बाहर सभी स्थानों पर ईश्वर व्याप्त होकर स्थित है।[4] ईश्वर ही जगद्गुरु है। परम तथा पूर्ण रूपेण शक्ति-सम्पन्न है। उसी के आधीन सभी देव, जीव एवं अन्य सभी तत्त्व हैं।[5] ब्रह्मसूत्र में प्रकाशित, तत्त्व ईश्वर ही है।

जीव के सुख और दुःख से भी ईश्वर का सीधा सम्बन्ध है। जीव की बन्धावस्था उसके 'स्वस्वरूपबोध' का अभाव है। यह अज्ञान ईश्वर की माया शक्ति के कारण है। जयतीर्थ के अनुसार अविद्या एक प्रकार का आवरण है, जो जीव के आनन्द और ज्ञान को आवृत्त कर लेता है।[6] जीव के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की मान्यता अन्य वेदान्तमत (अद्वैत) में प्रचलित है। मध्व इसके विपरीत स्वीकार करते हैं, कि जीव ईश्वर के स्वरूप को जानने में असमर्थ है। ईश्वर स्वयं ही अपने आपको स्पष्ट करता है। यह विचार मध्व ने कठोपनिषद् से लिया है, जिसमें कहा गया है, कि जिसको यह (आत्मा-ईश्वर) वरण करता है, उसी के द्वारा वह लभ्य है। उसी के प्रति आत्मा अपने स्वरूप को स्पष्ट कर देती है।[7] आत्मरूप परिचायिका क्रिया ब्रह्मगत है न कि जीवगत। इसी से यह तथ्य भी सगत हो जाता है, कि ईश्वर अपने भक्त को अपने गुणों के विषय में ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। और इसके द्वारा वह उसकी दैवी-शक्ति प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है।

---

१. राघवेन्द्रयति—गीताभाष्यविवृत्ति २।१८.

२. मध्व—अणुभाष्य, पृष्ठ १५८ (सर्वमूल).

३. मध्व—'न ततोऽस्त्यपरं जगतीड्यतमं परमात्परतः पुरुषोत्तमतः।
तदलं बहुलोकविचिन्तनया प्रवणं कुरु मानसमीशपदे ॥' ३।२
द्वादशस्तोत्रम्।

४. वादिराजतीर्थ—'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणस्थितः ॥
युक्तिमल्लिका—गुणसौरभ, पृ० ५ ४.

५. मध्व—मध्व तन्त्रसार १।७४.

६. तत्त्वप्रकाशिका, पृष्ठ १२०.

७. 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।'
कठोपनिषद् २।२३.

प्रथम पक्ष का समाधान, व्यासतीर्थ सम्मत है, कि श्रुति एवं अनुमान दोनों के द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है, कि ब्रह्म की विशेषताएं वास्तव हैं न कि भ्रान्ति-जन्य। इसी को अनेक आधारों पर मध्व मत के विचारकों ने व्याख्यात किया है।

शांकर वेदान्त में ब्रह्म की निर्गुणता का प्रतिपादन ही, मुख्य रूप से, श्रुति के विवेचन का आधार रहा है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में अनेक स्थान पर शंकर ने ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि—'वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव चित्, एक एवं असंग है।[1] शंकर तथा परवर्ती अद्वैत समर्थक शुद्ध-चैतन्य से परिपूर्ण रूप में ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। शंकर सगुण ब्रह्म को सर्वथा त्याज्य नहीं मानते अपितु उसकी व्यावहारिक सत्ता को उन्होंने स्वीकार किया है। साथ ही यह भी कि उपनिषद् में जहां-जहां सगुण ब्रह्म का निर्देश है वहाँ उपासना के निमित्त ही उसका वर्णन है।[2] क्योंकि निर्गुण ब्रह्म उपासना का आधार नहीं हो सकता। साथ ही ब्रह्मसूत्र एवं श्रुति दोनों में ही ब्रह्म को निमित्त एवं उपादान कारण माना गया है। यह कारणता निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के साथ सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अद्वैत मत में व्यावहारिक सत्ता की मान्यता स्वीकार की गई। इसी अवस्था में स्वीकृत ब्रह्म सगुण है तथा वही सम्पूर्ण जगत का शासक, उद्भावक, तथा अविद्याग्रस्त जीवों की उपासना का आधार है।[3] शंकर ने ईश्वर और ब्रह्म दोनों पदों का प्रयोग आत्मतत्व के ही निमित्त किया है। किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने ईश्वर पद का प्रयोग सगुण ब्रह्म के ही अर्थ में किया है। जो पारमार्थिक दृष्टि से अविद्याकृत है। किन्तु क्या सगुण और निर्गुण रूप द्विविध ब्रह्म एक ही मत में ग्राह्य हो सकते हैं? क्या वे दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं? शंकर ने स्वयं इस प्रकार का प्रश्न उत्थापित करके समाधान किया है, कि इन दो रूपों में कोई भी अन्तर्विरोध नहीं है। जिस प्रकार से जीवात्मा की स्थिति है, ठीक उसी प्रकार से ब्रह्म की भी स्थिति है। पारमार्थतः दोनों का आधार एक ही चैतन्य तत्व है।[4] दोनों ही घट से आवृत आकाश एवं मठ से आवृत आकाश के समान अविद्याकृत या मायिक हैं अन्यथा पूर्णाकाश की दृष्टि

---

१. शंकर—'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावे कूटस्थनित्ये एकस्मिन् असंगे।' ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।१।२.

२. वही—'स्वमहिमप्रतिष्ठस्याप्याधारविशेषोपदेश उपासनार्थो भविष्यति, सर्वगतत्वात् ब्रह्मणो व्योमवत्सर्वान्तरतोपपत्तेः।' १। ।३.

३. वही—'तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मणः उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः।' १।१।२.

४. शंकर ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृष्ठ २०१.

के आकार के विषय मे शकर उसको मायिक तथा भौतिक देहादि युक्त मानते हैं। रामानुज के अनुसार मध्व भी आकार को दिव्य एवं अप्राकृत कहते हैं।[1] मध्व एवं वेदांतदेशिक ने पंचरात्रसंहिता के समान उद्धरणो को अपने समर्थन मे उद्धृत किया है।[2] रामानुज ने इन अवतारो के विग्रह को आत्यन्तिक नही माना, जबकि मध्व ईश्वर के इन अवतारों के आकार को शाश्वत और नित्य मानते हैं।[3]

ईश्वर के स्वरूप को अनिर्वचनीय कहना द्वैत-मत के अनुसार अनुचित है। अनिर्वचनीयता स्वयं मे अप्रामाणिक है। ब्रह्म की अनिवर्चनीयता क्या प्रत्यक्ष है? मिथ्या शब्द तो अभाव का ही वाचक है, अतः उसके आधार पर भी अनिर्वच्यता असाध्य है। सत् से भिन्न असत् से सर्वथा पृथक् 'सदसद्विलक्षण' कोई स्थिति नही होती। 'असद्' नही है, यदि ऐसा वाक्य प्रयोग किया जाय, तब दो निषेधो के प्रयोग से प्रकृत-अर्थ (ब्रह्म) अतिशयता के साथ ज्ञात होगा कि 'सद्' ही होता है। 'सद-सद्विलक्षणत्व' की स्थिति ऐसी अवस्था मे भी कहाँ रही?[4]

अद्वैत और द्वैत मत का सर्वाधिक विवादास्पद प्रसंग ब्रह्म की सगुणता है। शकर ब्रह्म के निर्गुण रूप के पक्षपाती हैं। एव मध्व-दर्शन, जैसा कि प्रोक्त विवेचन से सिद्ध है, सगुण रूप ही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप, मानता है। मध्व की ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप की उक्त मान्यता यह भी प्रमाणित करती है, कि अद्वैत-सम्मत सगुण ब्रह्म की उपादेयता अर्थात् धर्म एव आचारगत मानवीय सतोषमात्र भी उसे अस्वीकार्य है।

व्यासतीर्थ के अनुसार ब्रह्म की सगुणता का निराकरण किस आधार पर किया जाता है? क्या यह, ब्रह्म मे गुणो की स्थिति को प्रतिपादित करनेवाले हेतु के अभाव मे, माना गया है? अथवा ब्रह्म मे गुणो के अभाव को सिद्ध करने वाले किसी स्थिर प्रमाण के कारण ग्रहण किया गया है?

---

१. 'दिव्यमप्राकृतम्।' रामानुज गीताभाष्य ४।६.
'अवतारविग्रहस्यापि अप्राकृतपरमपदनिलय विग्रहांशविशेषत्वम्।'
वेदान्तदेशिक रा० गी० भा० टीका, पृष्ठ १३.

२ 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा।' वाराह ३४।४०.

३. 'सर्वे शाश्वताश्च देहास्तस्य—।' भा० ता० नि०, पृष्ठ ५.

४. मध्व—'अनिर्वचनीयासिद्धेः। न हि तत्र प्रत्यक्षमस्ति। मिथ्याशब्दस्त्वभाव-वाच्य एव। तदन्यत्र प्रमाणाभावात्। न चान्यत्प्रमाणम्। प्रतिज्ञा व्याहतेः। न हि सदेतरासतश्चान्यत्सदसद्विलक्षणं प्रसिद्धम्। आसन्न भवति द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं गमयत इति सदेव भवति। कर्मनिर्णय, पृष्ठ २५० (सर्वमूल)

प्रकाशानन्द ईश्वर के लिए स्वतंत्र उपाधि को मानने के पक्ष में नहीं हैं। प्रकाशानन्द अविद्या के आश्रय के विषय में विवेचन करते हुए ईश्वरोपाधि के सर्वथा अभाव की स्थिति का दृढ़ता से पालन नहीं कर सके। वाचस्पति ने भी यही माना है, कि तत्वतः ब्रह्म का न तो ऐश्वर्य ही है और न सर्वज्ञता। वह तो अविद्या की उपाधिसे उपधान मात्र है।[१] सृष्टि-क्रम ब्रह्म पर भ्रान्तिपूर्ण अविद्या-जनित आक्षेप है, जो प्रत्येक जीवात्मा में परस्पर भिन्न है। श्रुति-ब्रह्मसूत्र आदि में उसे सर्वज्ञ एवं जगत् का उपादान कारण आदि कहने का अभिप्राय-ब्रह्म को जीव के अज्ञान के विषय के रूप में निरूपित करना मात्र है।[२] ब्रह्म की जगत् के प्रति कारणता भी अविद्या का ही परिणाम हैं। अविद्या भी भ्रम की निर्मिति में निमित्त कारण ही है, उपादान नहीं। अतः वाचस्पति सगुणता को तो मानते हैं, पर ईश्वर की अलग कोई उपाधि नहीं स्वीकार करते। माया आदि अविद्या के पर्याय हैं।[3] माया और मायावान का सम्बन्ध विषय-विषयी का सम्बन्ध है। प्रकाशानन्द के अनुसार भी सगुण ब्रह्म का ग्रहण जीव की कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[४]

मध्व और उनके अनुयायी शांकरमत के उक्त ईश्वर स्वरूप विवेचन से सहमत नहीं हैं। मध्व के अनुसार ब्रह्म को निर्गुण मानने पर श्रुति-विरोध, कर्म-निर्णय में अनेक उद्धरण द्वारा, प्रतिपादित किया गया है।[५] उसे श्रुतियों में सर्वज्ञ कहा गया है। तदर्थ कर्त्ता का होना आवश्यक है। कर्तृत्व ब्रह्म में तभी संभव है, जब उसे सगुण मान लिया जाए।[६] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आदि श्रुति-वाक्यों का व्याख्यान अद्वैत-मतानुयायी विद्वान् 'तद्विरोध्यर्थपरित्याग' अर्थात् असत् अज्ञान आदि, ब्रह्म-विरोधी 'अर्थों, का परित्याग ग्रहण करते हैं। ऐसा करने पर मुख्यार्थ प्राप्त ही नहीं हो पावेगा, अर्थात् पद से संकेतग्रहीत अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसीलिए

---

१. वाचस्पति मिश्र—न च तात्विकमैश्वर्यम् सर्वज्ञत्वंच ब्रह्मणः किन्त्वविद्योपाधिकमिति।' भामती, पृष्ठ ३०.

२. वही, पृष्ठ १६२.

३. वही, 'ब्रह्मणः तु इयमविद्याशक्तिर्मायादिशब्दवाच्या।' पृष्ठ १८७.

4. "The Saguna aspects of Bramha, according to him (prakhashananda), is only an imaginary creation of Jivas."
Dr. A. K. Narain—Critque of Madhva refutation of vedant.

५. मध्व—"तत्रैकाहुरगुणं ब्रह्मेति। न तद्युक्तम्। श्रुतियुक्तिविरोधात। तथाहि-श्रुतिः—सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः। यो नः पिता जनिता नो विधाता।" कर्मनिर्णय, पृष्ठ २४०.

६. मध्व—"बुद्धिपूर्वक सर्वकर्तृत्वात् सर्वज्ञत्वादयो गुणाः युक्ताः।' वही, पृष्ठ २५०.

से उनमें कोई अन्तर नही है।[1] शंकर के अनुसार भी ईश्वर विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार आदि का आधार है। कर्म के बन्ध से वह सर्वथा मुक्त है।[2] जीव का स्वरूप ईश्वर से भिन्न है वह जन्मादि से संयुक्त है। बन्ध और धर्मों से युक्त नही है। अत: ईश्वर एवं जीव दोनो परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों के इस विभेद का आधार क्या है? इनके भासमान रूप मे विरोध क्यों है? अद्वैत के अनुसार उपाधि के अन्तर के कारण ही यह भेद है कि ईश्वर शासक है और जीव शासित। शंकर के द्वारा प्रतिपादित उक्त उपाधि भेद परवर्ती विचारको के द्वारा भी स्वीकार कर लिया गया। उन विचारकों मे उपाधिगत भेद की मान्यता होने पर भी उन के स्वरूप एव चेतन तत्व से सम्बद्धता को लेकर पर्याप्त विवाद है।

विद्यारण्य ने अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्ति के आधार पर ईश्वरोपाधि एवं जीवोपाधि की भिन्नता को प्रमाणित किया है।[3] विक्षेपशक्ति की बहुलता से युक्त उपाधि माया से उपहित चित् तत्व को ईश्वर एवं आवरण शक्ति की बहुलता से युक्त अविद्या नामक उपाधि से उपहित चित् तत्व को जीव कहा है। ईश्वरोपाधि में सत्वगुण की अधिकता है, जीवोपाधि में तमोगुण की।

सर्वज्ञात्ममुनि के अनुसार मूलाविद्या में चित् का प्रतिबिम्ब ईश्वर है, एव अविद्या के कार्य अन्तःकरण मे प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव हैं। सम्भवतः सर्वज्ञात्ममुनि की मान्यता का आधार एक ओर जीव की संख्यागत बहुलता का समाधान हो। अर्थात् ईश्वर कारणोपाधि है एवं जीव कार्योपाधि है। अप्पय दीक्षित ने सर्वज्ञात्ममुनि के मत को संक्षेप मे इसी रूप में कहा है।[4] विवरणप्रस्थान के अन्तर्गत ब्रह्म अविद्या से उपहित चैतन्य है, जबकि जीव अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है। ईश्वर का विवरण-सम्मत स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है।[5] इस प्रकार शंकरोत्तर विचारको मे ईश्वरोपाधि एवं जीवोपाधि के स्वरूप के सम्बन्ध मे भले ही मत-भेद हो किन्तु ये दो पृथक् उपाधि होती हैं, एव इनके कारण ही जीव एवं ईश्वर की स्थिति है, इस तथ्य के प्रति सभी सहमत हैं।

किन्तु ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य की भामती टीका के निर्माता वाचस्पति एवं

---

१. शंकर 'निरतिशयोपाधिसम्पन्नस्येश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नान् जीवान्प्रशास्ति।'
पृष्ठ २६७, ब्रह्मसूत्र भाष्य।

२. भगवद्गीता भा० ४।१४.

३. विद्यारण्य—'मायाविद्ये विहायैव उपाधिपरजीवयोः।' पंचदशी १।४८.

४. अप्पय दीक्षित—'कार्योपाधिरयंजीवः कारणोपाधिरीश्वरः। प्रतिबिम्बोऽत्र संक्षेपशारीरककृत मये।।' सिद्धान्तलेश संग्रह १।३८.

५. तत्वदीपन २४०-४१.

वह वेदान्त जिज्ञासा का विषय है, जो भी जिज्ञासा का विषय होता है, वह उक्त धर्म से युक्त होता है।

ब्रह्म में असाधारण एवं प्रतिष्ठित गुण हैं, क्योंकि उनकी प्राप्ति के प्रति इच्छुक होने पर वह वैसा कर सकता है। जो प्राप्ति में समर्थ और इच्छुक होता है, वह इनको प्राप्त कर लेता है जैसे कि मनुष्य।

ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों एवं दुर्गुणों से रहित हैं। क्योंकि वह उनसे रहित होने को इच्छुक एवं सक्षम है। जो निरोध के लिए इच्छुक और सक्षम होता है, वह ऐसा कर लेता है, जैसे कि मनुष्य।

उक्त सभी अनुमान के प्रसंग ब्रह्म की सगुणता के लिए ही हैं। प्रथम अनुमान के प्रसंग का मूल आधार किसी भी तत्व का गुणों के बिना न रहना है। पदार्थ ज्ञान का विषय है। मध्व के अनुसार ज्ञान सर्वदा सविशेष होता है। अतः उनके लिए किसी अर्थ का गुण-विहीन रूप में ग्रहण कर पाना ही असम्भव है। इसी प्रकार अन्य सभी अनुमान अन्ततः ईश्वर तत्व की सगुणता का ही प्रतिपादन करते हैं।

मध्व-मत की एक और उल्लेखनीय साम्यता यह भी है, कि विशेषण और विशेष्य का तभी सम्बन्ध हो सकता है, जब वे एक ही वर्ग के एवं वास्तव हों। विशेषण, भले ही वह सत्तावान् हो, यदि वह अन्य अर्थ से सम्बद्ध है, तो वह अपने से भिन्न अर्थ के विशेषण के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए रज्जु में भ्रमवशात् सर्प के गुणों का आरोप हो गया। इस प्रसंग में सर्प के गुण रज्जु के गुणों से पृथक् हैं, वे रज्जु से कथमपि संवद्ध नहीं हो सकते। इसलिए ब्रह्म ज्ञान का विषय तभी हो सकता है, जब वह सविशेष हो। वे विशेषण रज्जु में सर्प के धर्मों की प्रतीति के समान मिथ्या नहीं होंगे।[1] यह सगुण-ब्रह्म का स्वरूप केवल व्यावहारिक स्तर का नहीं है, अपितु परमार्थतः है।

ईश्वर के अद्वैत-स्वरूप को स्वीकार न कर सकने के कारण ही मध्व ने उपाधियों की मान्यता को भी नहीं माना। 'उपाधिखण्डनम्' नामक ग्रंथ में मध्व ने इसका विस्तार से खण्डन किया है। उपाधि पहले से स्थित भेद की ज्ञापक मात्र है, कारक नहीं है।[2] इसी क्रम में अनेक अन्य तर्क उपस्थित किए गए हैं। माया एवं उपाधि, यदि निर्माण की क्षमता नहीं रखतीं, केवल सीमित करने की ही उनकी शक्ति है, तब ईश्वर के आभास की सृष्टि भी उनका कार्य नहीं हो सकता। मध्व के अनुसार ईश्वर की सर्वज्ञता एवं सर्वव्यापकता आदि में तथा उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं है। जबकि शंकर ईश्वर की सत्ता और उसके गुण दोनों को औपाधिक मानते हैं। यदि

१. डा० ए० के० नारायण—ए क्रिटीक आव मध्व रेफुटेशन आव वेदान्त, पृ० २२८
२. मध्व—'विद्यमानस्य भेदस्य ज्ञापको नैव कारकः। उपाधिखण्डन, पृ० ३.

सुरेश्वर ने कहा कि, 'यहा 'अखण्डब्रह्म' यह अर्थ, उससे विरुद्ध अर्थ के परित्याग के कारण ही है, न कि शब्द की सामर्थ्य से। (तद्विरोध्यर्थसंत्यागः सामर्थ्यात् न तु शब्दतः।) अतः श्रुति-वाक्यों का निर्गुण व्याख्यान, शब्द से अर्थ का व्याख्यान, न हो कर केवल व्याख्यान की सुविधा के लिए ही किया गया है। अतः उक्त वाक्यों का सगुण-ब्रह्म-परक व्याख्यान ही उपयुक्त है। सगुण-श्रुति, विशेष विधायक होने के कारण सामान्याभिधायक निर्गुण-श्रुति, की अपेक्षा, अर्थ-प्रत्यायन में अधिक सक्षम है।

साथ ही श्रुति में प्रतिपाद्य निर्गुण पद का भी निराकार या निर्विशेष अर्थ नही है। अपितु त्रिगुणातीत, निस्त्रैगुण्यता यही अर्थ है। इस प्रकार निर्गुण श्रुतियो का सम्यक् अर्थ जान लेने के उपरान्त, सगुण के प्रति उनकी बाधकता समाप्त हो जाती है।[1] क्योंकि ये त्रिगुण सत रज, तम, प्राकृत हैं, जबकि ब्रह्म प्रकृति के परे है।[2] अनन्तगुणक ब्रह्मादि कहने का भी यही अभिप्राय है, कि वह प्राकृत गुणों से रहित है। सगुण श्रुति-वाक्यो का ग्रहण इसलिए भी और आवश्यक है, कि वे तर्कतः स्वतः सिद्ध हैं, जबकि निर्गुणता प्रतिपादक श्रुति-वाक्य परस्पर विरुद्धाभिधान पर आधारित हैं।[3] परिणामतः सगुण श्रुतियों को निर्गुण का उपजीव्य मानना चाहिए। उपजीव्य-श्रुति के स्वतन्त्र होने से उनका महत्व है। विरोध होने पर उसी की मान्यता ग्राह्य होगी। कोई भी निर्गुण श्रुति ब्रह्म की सर्वज्ञता का निषेध नही करती, अतः सर्वज्ञता श्रुतिज्ञेय है यह कथन भी आधार हीन है, कि निर्गुण-श्रुति स्वरूपमात्रोपलब्धि तक ही सगुण का आश्रय ले सकती है। इस लिए परिस्थिति-विशेष मे किया गया गुण निषेध सर्वदा नही है।

व्यासतीर्थ ने ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन हेतु अनेक आधार अनुमान के रूप में प्रस्तुत किए हैं।

ब्रह्म की सत्ता बिना किसी निश्चित गुणो के सम्भव ही नही हैं। क्योंकि वह एक तत्व है। अर्थात् वह तत्व हैं, जो निषेध से सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्म मे अविरोधित्व नामक विशेषता है क्योकि वह भ्रम का आश्रय है शुक्ति के समान। ब्रह्म मे वेदान्त प्रतिपादित ज्ञान का विषय होने की विशेषता हैं, क्योंकि

---

१. वादिराजतीर्थ—'अतस्त्वन्निर्गुणत्वं नास्य तु स्याद्धि कदाचन।
तस्मात् त्रिगुणशून्यत्वान्निर्गुणोऽप्ययमेव हि।' ५७२॥
युक्तिमल्लिका, गुणसौरभ.

२. 'When the absolute is said to be Nirguna, it only means that it is trans-empirical-as gunas are products of prakrti and absolute is spuerior to it".
Indian philosophy Vol. II. P. 536. Dr. Radhakrishnan.

३. डा० बी० एन० के० शर्मा—द फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य पृष्ठ २३५.

वस्तु अथवा उसके गुणों के सम्बन्ध को विना किसी अन्य विषयगत वैशिष्ट्य के प्रतिपादन के जाना जा सकता है।[1] इसलिये यह कथन सर्वथा तर्कहीन है कि विचार सर्वदा विषयगत भाग से सम्बद्ध होते हैं। यद्यपि ब्रह्म वेदान्त जिज्ञासा का विषय है और अबाधित है, तो भी यह मानना असंगत होगा कि वह उन विशेषताओं से युक्त है।

अन्तिम अनुमानों में व्यासतीर्थ ने श्रेष्ठगुणों से ब्रह्म को युक्त एवं दुर्गुणों से रहित प्रतिपादित किया है। अद्वैत भी इन सबको स्वीकार करता है, केवल इस अन्तर के साथ कि जिस विषय के साथ इनकी सम्बद्धता प्रमाणित है, वह आत्यन्तिक एवं पारमार्थिक नहीं है। वाणी का प्रयोग केवल व्यावहारिक स्तर तक ही है, इसके आगे नहीं। सम्भवतः द्वैत मत के विचारक प्रमाणों की, ब्रह्म-ज्ञान में प्रवृत्ति से सम्बन्धित दुर्बलता को महत्व नहीं दे सके हैं।

मध्व की सगुण श्रुति की व्याख्या और उनके निर्गुण श्रुति वाक्यों के साथ सम्बन्ध के विषय में व्यक्त मध्व-मत की धारणा की समीक्षा करते हुए अद्वैत विचारकों ने[2] प्रतिपादित किया कि—सगुण और निर्गुण श्रुतियों के प्रतिपाद्य विषय में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। केवल विषय के अन्तर के कारण व्याख्यानगत अन्तर है। अन्ततः मध्व के पास कौन-सा प्रबल तर्क है, जिसके आधार पर वह सगुण प्रतिपादक श्रुतियों को ही मूलतः सत्य मानने में तत्पर हैं, निर्गुण श्रुतियों को नहीं? या कि सगुणश्रुति में प्रतिपादित तत्व ही आत्यन्तिक एवं पारमार्थिक है, निर्गुण श्रुति में प्रतिपादित तत्व की अपेक्षा?

सगुण-श्रुतियों में व्याख्यात चैतन्य तत्व के स्वरूप का निषेध निर्गुणतापरक श्रुति वाक्यों में किया गया है। इससे यह प्रमाणित होता है, कि सगुण-श्रुतिवाक्यों में प्रतिपादित स्वरूप अन्तिम नहीं है। उपनिषद् के जिन भागों में सगुण श्रुतियों का उल्लेख प्राप्त है, वे उपासना से संबंधित हैं। यहाँ पर ब्रह्म से सम्बन्धित जो वर्णन है, वह उपासना के विषय के रूप में ही है। किन्तु उन प्रसंगों में जहाँ ब्रह्म का पारमार्थिक विवेचन अभिप्रेत है, वहाँ उसके वास्तविक स्वरूप का बोध ही शिष्य को कराया गया है। श्रुतियों में अपर-ब्रह्म का उल्लेख इसीलिए किया गया है, ताकि उनका निर्गुण-श्रुति से विरोध सुगमता पूर्वक ग्रहण किया जा सके। वस्तुतः वेदान्त का आत्यन्तिक प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म ही है। सगुण-श्रुति को व्यर्थ कहना, अद्वैत वेदान्तियों का अभिप्राय नही है, अपितु केवल उनकी आध्यात्मिकता मात्र वहाँ व्याख्येय है।

श्री एच० एन० राघवेन्द्राचार के मध्व-प्रतिपादित स्वतंत्र-तत्व के स्वरूप को उद्दिष्ट करके व्यक्त किया कि—'मध्व का विवेचन द्वैत-परक न होकर अद्वैत-परक ही है

---

१. डा० ए० के० नारायण—क्रिटीक आव मध्व रेफुटेशन आव वेदान्त, पृ० २३७.

२. मधुसूदन—अद्वैतसिद्धि, पृ० ७१९.

ब्रह्म के सभी गुण औपाधिक है तो 'सत्ता' भी उसका गुण ही है, उसे भी औपाधिक मानना होगा।[1] औपाधिक तत्व आभासजन्य होते हैं, न कि वास्तव। अत. ब्रह्म भी वास्तव नही रह सकेगा।

किन्तु मध्वादि विद्वानो द्वारा किया गया उक्त खण्डन का विरोध मधुसूदन ने अपनी अद्वैत-सिद्धि मे बहुत विस्तार से किया है। मधुसूदन के अनुसार[2] व्यासतीर्थ अनुमान के द्वारा जो कुछ सिद्ध करना चाहते है, उसका पक्ष क्या है ? शुद्ध-ब्रह्म अथवा अज्ञानोपहित चैतन्य। यदि शुद्ध-ब्रह्म के अनुमान का विषय बनाया गया तो फिर वह शुद्ध नही होगा सीमित अथवा परिच्छिन्न हो जावेगा। इसलिए व्यासतीर्थ को यह मानना ही होगा, कि ब्रह्म, जो उनके अनुमान का विषय है, परिच्छिन्न ब्रह्म है, उसे अद्वैत मतानुयायी विद्वान पूर्ण ब्रह्म तक पहुचने के पूर्व की स्थिति के रूप मे ग्रहण करते हैं। अनुमान मे यह भी आवश्यक है, कि साध्य मे जो साधित किया जा रहा है उसे हेतु के साथ अन्यत्र सिद्ध रूप मे ग्रहण कर लिया जाना चाहिए। अनुमान मे उदाहरण यही कार्य सम्पन्न करता है। इस प्रकार की अनुमान सम्बन्धी मूल अनिवार्यता व्यासतीर्थ के सन्दर्भित अनुमान प्रसगो मे नही है। उसमे ब्रह्म की उस सत्ता को साध्य बनाया है, जो शुद्ध-ब्रह्म से सम्बद्ध है। यह विशेषता उदाहरण के रूप मे प्राप्त होने वाले अन्य तत्व घटादि मे नही है। क्योकि उनकी सत्ता केवल व्यावहारिक है। और इस दोष से व्यासतीर्थ को तभी मुक्ति मिल सकती है, जब वे ईश्वर की ही सत्ता को आधार बनाए न कि शुद्ध-ब्रह्म की सत्ता को।

दूसरे तर्क मे कहा गया है कि वह विरोधो से रहित एव ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है। ये सब विशेषताए मानसिक परिकल्पनाएँ मात्र है इनका ब्रह्म से कोई सम्बन्ध नही है। शुक्ति के उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जावेगा, कि जिस भाति मानसिक कल्पनाओ से साध्य के स्वरूप मे कोई अन्तर नही पड़ता। शुक्ति अपने ज्ञान के स्वरूप की विरोधिनी नही है। इससे उसके स्वरूप मे कोई अन्तर नही पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्म जिज्ञासा का विषय बनने से ब्रह्म की स्थिति मे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। मधुसूदन के अनुसार[3] यहाँ वस्तु के काल्पनिक बोध एव विषयगत निर्णय के अन्तर के ग्रहण करने मे भ्रम ही कार्य कर रहा है। एक वास्तविक व्यक्ति अपनी वास्तविक विशेषताओ के साथ काल्पनिक व्यक्ति काल्पनिक विशेषताओ से सर्वथा भिन्न है; एव वास्तविक व्यक्ति मे काल्पनिक व्यक्ति की विशेषताओ का विषय-निषेध प्रतिपादित नहीं करता। यही तो भ्रम का क्षेत्र है। एक वस्तु एव दूसरी भ्रमजन्य

---

१. व्यासतीर्थ—न्यायामृत, पृ० ४८९.

२. मधुसूदन—अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि, पृ० ७८९.

३. अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ७१८.

मध्व ने ईश्वर के जिस स्वरूप की स्थिति प्रतिपादित की है और उसके प्रतिपादन में जिन तर्कों का उपयोग किया है, वे तर्क पाश्चात्य दर्शन शास्त्रियों के द्वारा भी प्रयुक्त किए गए हैं। "ईश्वर को जगत् का कारण माना गया है। जड़ तत्व कार्य स्वरूप है। उसका कोई न कोई कारण होना चाहिए, जिसका कोई अन्य कारण न खोजना पड़े। ईश्वर ही ऐसा कारण हो सकता है कि उसके कारण के रूप में किसी कल्पना का स्थान नहीं है।[1] मध्व ने भी 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र के व्याख्यान में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। 'नैतिक नियम' को भी पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर सिद्धि का आधार माना गया है।" हम नैतिकता के नियम मानने को बाध्य हैं। साथ ही एक आदर्श की सृष्टि के लिए भी, जिसे जीवन में नहीं पाया जा सकता। इस जीवन के अतिरिक्त आगामी जीवन में भी उसे हम प्राप्त नहीं कर सकते।[2] उसे सुरक्षित रखने वाला पूर्ण तत्व मानना होगा अर्थात् ईश्वर की सत्ता स्वीकार करनी होगी।

1. Dr. Ewings—"The fundamental question of Philosophy, P. 23.
2. Ibid—'We are bound by the essential nature of morality to form an ideal of a supreme good which cannot be completely realized in this life. Further since we are dependent not only on our own efforts but on the co-operation of nature, we must suppose, if the ideal is to be capable of realisation at all, not only that we survive bodily death but that nature is controlled in such a way as to subserve the ideal in a future life or lives, as well as in this. This we can only concieve if we think of the world as controlled by a morally perfect being having adequate power and wisdom to adjust it to the supreme i. e. if we accept the belief of God."
Ibid—Page 236.

तथा वह शंकर और रामानुज के मत का समन्वयात्मक रूप है।[1] वे इस मत को द्वैत के रूप में अनूदित किये जाने के विरुद्ध हैं।[2] यह अद्वैत इसलिए ग्रहीत है कि मूलतः एक ही तत्व स्वतंत्र है, अन्य सभी परतंत्र। ऐसी दशा मे अन्ततोगत्वा एक ही तत्व की स्थिति रही, परिणामतः मध्व ने भी अद्वैत मे ही शरण ली। वही ईश्वर तत्व एक ऐसा आधार है जो इस मत की अद्वैतता प्रमाणित करता है।'

श्री राघवेन्द्राचार के उक्त मत का खण्डन करते हुए डा० ए० के० नारायण ने व्यक्त किया, कि इस मत को अद्वैत मत मानने के मूल मे द्विविध भ्रान्ति है। जिसके परिणामस्वरूप उन्होने अद्वैत मत तथा मध्व के स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र तत्व को समझने मे भ्रान्ति की है। अद्वैत मत मे 'अनेक का आधार, मूल तत्व एक है' इस कथन का अभिप्राय है कि सत्ता की दृष्टि से केवल एक ही तत्व परम है। अन्य सभी तत्व सत्ता की दृष्टि से अपेक्षाकृत हीन है। किन्तु मध्व मत मे जहां तक सत्ता का प्रश्न है ईश्वर से भिन्न जीव एवं जगत् तत्व किसी भी रूप मे हीन नही है। वे उतने ही सत्तावान् हैं जितना कि ब्रह्म।[3] डा० नारायण के मत से भी यह समाधान नहीं हो पाता कि मध्व-मत जीव और जगत् की परतंत्रता को ही सम्यक्तया व्याख्यात क्यों नही कर पाता? एक ओर कहा गया है कि वे ईश्वर के द्वारा ही ये सभी सत्तावान् हैं। कहा गया है कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति, संहार नियमनादि आठ प्रकार से इनका प्रभु है, क्या उसकी यह प्रभुता श्री राघवेन्द्राचार के मत का समर्थन नहीं करती? वास्तव में मध्व एक ओर इन तत्वो की, अस्तित्व की दृष्टि से, स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करना चाहते है, दूसरी ओर वे प्रत्येक प्रकार से परतन्त्र हैं। ऐसी अवस्था में दोनों विशेषताओं से इनका समन्वय कैसे किया जा सकेगा?

---

१. डा० एच० एन० राघवेन्द्राचार्य—द द्वैत फिलासफी एण्ड इट्स प्लेस इन वेदान्त, पृष्ठ १५.

2. "Having these ideas in mind, we may see how misleading it is to translate Dvaita Vedanta as Dualism. Dualism stands for the view which seeks to explain the world by the asumption of two radically independent and absolute elements We have seen how Aswatantra standpoint that Swatantra is one and that it is the source of the reality of Asvatantr', this Vedant infact is real example of monism. i. e. the sense of one in many and this stands for the idea of a Jugle principal as a ground of many." Ibid. P. 241.

३. डा० ए० के० नारायण—एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी, पृष्ठ १२४.

में ग्रहीत कराने वाले अनुभव-वाक्य हैं। यदि यह पूर्वपक्ष के रूप में कहा जाय कि 'ममशरीरम्' यह अनुभव भी तो प्राप्य है, जो संकेत करता है कि शरीर से भिन्न कोई 'मम' पद-वाच्य है; तो इसके उत्तर में चार्वाक विद्वानों का कथन है कि यहां 'राहो शिर:' के समान व्यपदेशिवद्भाव है। इनमें किसी प्रकार की भिन्नता नहीं है। ये सभी औपचारिक प्रयोग हैं, वस्तुत: शरीर ही आत्मा है।[1] चार भूतों—भूमि, जल, अग्नि तथा वायु—से ही चैतन्य उत्पन्न होता है।[2] जिस प्रकार से ताम्बूल और सुपारी आदि के संयोग से राग की उत्पत्ति होती है, वैसे ही चैतन्य भी इन्हीं जड़ वस्तुओं का विकार-मात्र है।[3] आत्मा के विषय में ही व्याख्यान करते हुए, चार्वाक मत के चार उपभेदों का उल्लेख वेदान्तसारकार सदानन्द ने भी किया है।[4] चार्वाक मत को बड़े विरोध का सामना करना पड़ा, क्योंकि यह भारतीय चिन्तन की सम्पूर्ण उपलब्धियों के विरोध में स्थित था। इसीलिए मध्व के जीव-सम्बन्धी विवेचन को चार्वाक द्वारा प्रभावित नहीं किया जा सका।

जैन—वेद-बाह्य दर्शन में जैन मत ही एक ऐसा मत है जिसमें जीव के विषय में, उसके मनोविज्ञान के विषय में, अपेक्षाकृत विस्तार से चर्चा की गई है। जैन-मत मूलत: दो तत्व मानता है। जीव एवं अजीव। अन्य आस्तिक बहुत्ववादी मतों में जिस तत्व को आत्मा अथवा पुरुष कहा गया है, जैन-दर्शन में उसे 'जीव' अभिधान किया गया है।[4] स्वरूप में समान होते हुए भी ये जीव संख्या की दृष्टि से अनेक हैं। जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त एवं बद्ध। बद्ध भी स्थावर और चल इन दो रूपों में विभक्त हैं।

'चेतना' जीव का मूलतत्व है। प्रत्येक जीव में चैतन्य होता है। कर्म के आधार पर जीवों में चैतन्य की स्थिति होती है। स्वभावत: जीव में अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य हैं। इसी को अनन्तचतुष्टय कहा गया है। बद्धावस्था में कर्म के कारण यह चतुष्टय अस्पष्ट रहता है। जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व वास्तविक रूप में है। इसकी गणना आस्तिकाय द्रव्यों में है। इनकी स्थिति प्रकाश के समान है। जहां पर दीपज्योति रहती है उस स्थान को वह प्रकाश से आपूरित कर

---

१. माधवाचार्य—'देहात्मवादे च स्थूलोऽहं कृशोऽहं कृष्णोऽस्मित्यादिसामानाधिकरण्योपपत्तिः। मम शरीरमिति व्यवहारो राहोः शिर इत्यादिवदौपचारिकः।' पृष्ठ ६.

२. वही—अत्र च वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिला:।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥३॥ पृष्ठ ७.

३. वही—जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम्॥ सर्वसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ २७।

४. सदानन्द— वेदान्तसार, पृष्ठ २६-२७.

षष्ठ अध्याय

जीव तत्त्व

चित्-तत्त्व से युक्त जीवात्मा की मान्यता अत्यन्त प्राचीनकाल से ही उपलब्ध है। उसे शरीरेन्द्रियबुद्धि आदि से अभिन्न एवं भिन्न भी माना गया है। परवर्तीकाल में चेतना के आश्रय इस तत्त्व का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त विशदता से प्राप्त होता है। उसके इन्द्रिय-विषयादि से सम्बन्ध की भी सूक्ष्म विवेचना नास्तिक मतों में जैन एवं आस्तिक मतों मे योग मे विस्तार पूर्वक की गई है। भारतीय-दर्शन मे धर्म-दृष्टि के समन्वय के विधान से युक्त होने के कारण, जीवन-स्वरूप की पाश्चात्य दर्शनशास्त्र से, भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। पाश्चात्य चिन्तन-सरणि के सभी विद्वान् आत्मा की सत्ता, निर्विवाद रूप से सिद्ध, नहीं मानते। उनमे, आत्म-तत्त्व है या नही, यही विवाद का विषय है। भारतीय-चिन्तन इस विवाद में न पड़कर, आत्म-तत्त्व की सिद्धि स्वीकार करके, उसके स्वरूप, पारस्परिक भेद, उसकी नियमित-शक्ति, जगत् से सम्बन्ध आदि विषयो का व्याख्यान प्रारम्भ कर देते है। मध्व ने भी इसी क्रम मे अपने विचार स्थिर किये हैं। किन्तु मध्व के विचारों के विवेचन के पूर्व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप मे नास्तिक एवं आस्तिक मतो के जीवन-स्वरूप का विवेचन आवश्यक है।

चार्वाक—बृहस्पति को आदि आचार्य मानने वाला चार्वाक-मत चैतन्य से युक्त देह को ही आत्मा स्वीकार करता है।[1] देह के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व को आत्मा के रूप मे ग्रहण करने के लिए, उसके अनुसार, प्रमाणों का अभाव है। चार्वाक के मत में केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण ही मान्य है। परिणामतः आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष-प्रमाण-प्रतिपाद्य होना चाहिए। अप्रामाणिक वस्तु का ग्रहण किसी भी शास्त्र मे त्याज्य है। प्रत्यक्ष के आधार पर देहादि के अतिरिक्त किसी को प्रामाणिक मानना सम्भव नही है, इसलिए देह ही आत्मा है।[2] 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' आदि देह को आत्मा के रूप

१. माधवाचार्य—'तच्चैतन्यविशिष्ट देह एव आत्मा'। सर्व-दर्शन संग्रह, पृष्ठ ३.
२. माधवाचार्य—'देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्'। सर्व-दर्शन संग्रह, पृष्ठ ३.

की क्षमता वाले जीवों में हैं। शिक्षा क्रिया और आदि संज्ञाएं हैं। इन संज्ञाओं से युक्त जीव को ही 'समनस्क' कहा जा सकेगा।[1] 'अमनस्क' जीव दो प्रकार के हैं। त्रस और स्थावर। त्रस और स्थावर कर्म का ही स्वरूप है। शुभ और अशुभ कर्म का मिश्रण त्रस है। अशुभप्राय स्थावर। त्रस कर्मों के उदय से वद्ध जीव त्रस एवं स्थावर है। जन्मान्तर-प्राप्ति-रहित जीवों को मुक्त कहा गया है।[2] इस प्रकार जैन मत में जीव की बहुलता तो स्वीकार की ही है, साथ ही उसकी अन्य तत्वों से भिन्नता भी ग्रहण की गई है। चेतना यहां पर भी 'जीव' के स्वरूप का मूल तत्व है।

बुद्ध के व्याख्यानों के आधार पर अनेक दार्शनिक मतों का बाद में विकास हुआ। बुद्ध ने न तो आत्मा को स्वीकार ही किया और न अस्वीकार किया। 'मिलिन्दपहो' में मिलिन्द के प्रश्न का उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा कि पंचस्कन्धों को ही सामान्य प्रयोग की दृष्टि से 'आत्मा' कहा गया है। 'आत्मा' नामक कोई भी आत्यन्तिक तत्व नहीं है।[3] हीन-यान मतानुयायी बौद्ध विना कर्ता के क्रिया की स्थिति मानते हैं। वस्तुधर्म ही क्रिया के रूप में परिलक्षित है, आत्मा नहीं। बुद्धों का कर्म-सिद्धांत स्वतः संचालित नियम के समान है वह आस्तिक कर्म-सिद्धांत के समान किसी दैवी शक्ति की अपेक्षा नहीं करता। इसलिये 'आत्मा' की अपेक्षा न रखते हुए यह 'तत्व' अपने-आप गतिशील बना रहता है। शून्यवादी बौद्धों के अनुसार जो सभी धर्मों को अनात्म अथवा अनित्य मानता है वही बुद्ध-देशना को सम्यग्तया समझता है।[4] इसलिए पांच स्कन्ध की भी कोई सत्ता नहीं है। कोई जीव नहीं है जो मुक्त हो अथवा बद्ध हो। निर्वाण भी मायोपम है। उससे भी यदि कोई श्रेष्ठ धर्म हो तो वह भी माया के समान ही है।[5] नागार्जुन ने भी पांच स्कन्धों को अवास्तव माना है।[6] जीवात्मा भी अवास्तविक है। यह न तो पांच स्कन्धों से भिन्न है और न

---

१. माधवाचार्य—'तत्र सञ्ज्ञिनः समनस्काः। शिक्षाक्रियाकलापग्रहणरूपा संज्ञा।' ३।२३५.
'परकृतोपदेशादीनि ये गृह्णन्ति ते जीवाः समनस्काः।
अयमीदृश इत्येवं परकीयदोषगुणविचारणे या शक्तिः सा संज्ञा तद्युक्ताः।
ते च देवाः गन्धर्वाः मनुष्याश्च। पशुषु केचिदेव गजाश्वादयः तथा पक्षिष्वपि केचिदेव शुकादयः। सर्वदर्शनसंग्रह टीका।

२. वही—'भवान्तरप्राप्तिविधुरा मुक्ताः।' सर्व दर्शन २।२४३.

३. वही—'मिलिन्दपञ्हो २।१।१.

४. सद्धर्मपुंडरीक, पृष्ठ १३२.

५. 'निर्वाणमपि मायोपमं स्वप्नोपममिति वदामि किं पुनरन्यद्धर्मम्। यदि निर्वाणादप्यन्यः कश्चिद्धर्मो विशिष्टः स्यात् तमप्यहं मायोपमं स्वप्नोपममिति वदेयम्।' अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता। पृष्ठ ४०.

६. 'माध्यमिक कारिका ४.

देती है। साथ ही जिस प्रकार एक स्थान पर अनेक दीप-ज्योतियाँ बिना किसी पारस्परिक विरोध के रह सकती है। यद्यपि यह स्वयं बिना किसी आकार के है, फिर भी देह के आधार पर उसका आकार रहता है। जीव की देह के साथ अविरुद्ध स्थिति है। इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि आत्मा के 'केवल-ज्ञान' के अवरोधक हैं। ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है अपितु स्वरूप है। अवरोधों से मुक्त होना ही सर्वज्ञता एवं मोक्ष है। जीव का स्वाभाविक रूप चैतन्य है उसे पारिणामिक कहा गया है। जीव के अवयवों के कर्म के अवयवों के साथ होने वाले संश्लिष्ट बन्ध 'प्रदेशबन्ध' है। उसी के कारण जीव अपने-आपको भिन्न रूप में जानता है। इसी कर्म के भाव, अभाव एवं भावाभाव पर आधारित जीव की चार अवस्थाएं है जैसे मिट्टी के कपालादि पर्याय हैं, क्रमशः भविष्य मे होने वाली अवस्थाएं है वैसे ही 'उपशम' 'क्षय' 'क्षायोपशम' एवं औदयिक ये चार जीव के पर्याय है। पारिणामिक स्थिति उसकी अपनी मौलिक स्थिति है। उक्त चार भाव ही नैमित्तिक हैं।[1] ज्ञान जीव का गुण नहीं, अपितु स्वरूप ही है। चैतन्य जीव का स्वभाव है और ज्ञान चैतन्य का अनुसरण करने वाली अवस्था विशेष है। ज्ञान चैतन्य की अवस्था विशेष है इसीलिए जीव न तो ज्ञान से सर्वथा भिन्न है और न अभिन्न। इस प्रकार जीव ज्ञान से भिन्नाभिन्न है।[2] इस प्रकार एक ही वस्तु की परस्पर विरुद्ध विशेषताओं का आकलन दोष नहीं है क्योंकि जैन मत के 'स्याद्वाद के अनुसार किसी भी वस्तु के 'अनंतधर्म होते है।

जीव दो प्रकार के है। मुक्त और संसारी।[3] जो भव से भवान्तर की प्राप्ति करते हैं वे संसारी है। संसारी जीवों को भी दो रूपों में वर्गीकृत किया गया है। समनस्क और अमनस्क। समनस्क जीव, शिक्षा क्रिया और आलाप को ग्रहण करने

---

१. माधवाचार्य—(अ) औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। तत्त्वसूत्र २।१.

(आ) "अनुदयप्राप्तिरूपे कर्मण उपशमे सति जीवस्योत्पद्यमानो भाव औपशमिकः, आर्हततत्त्वानुसंधान वशाद्रागादिपंकक्षालेन निर्मलतापादकः क्षायिकोभावः। उभयात्मा भावो मिश्रः। (क्षायोपशम) कर्मोदये भवन्भाव औदयिकः। कर्मोपशमाद्यनपेक्षः सहजो भावश्चेतनत्वादिः पारिणामिकः।" सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३।२१३-२१४।

२. वही—'ज्ञानाद्भिन्नोन.' नाभिन्नने भिन्नाभिन्नः कथचन। ज्ञान पूर्वापरीभूत सोऽयमात्मेति कीर्तितः ॥ पृष्ठ ३।२२४.

३. वही—'तत्र जीवाः द्विविधा संसारिणो मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः।' पृष्ठ ३।२२३-२४.

वर्णित है।[1] प्राणापान आदि इसी जीव में आश्रित है।[2] ऋषियों ने चेतना के चार स्तर ग्रहण किए। इनमें से चौथा ही परम स्तर है। छान्दोग्य में पहले नेत्र, जल एवं आदर्श में दृष्टिगोचर तत्व को आत्मा कहा तदनन्तर स्वाप्न-चैतन्य को, फिर सुषुप्ति कालीन चित् तथा अन्त में तुरीयावस्था गत ब्रह्म को आत्मा कहा है।[3] सम्भवत: ये सभी भिन्न दृष्टिकोण आत्मा के विषय में प्रचलित थे किन्तु यह निर्विवाद है कि चित्-तत्व को ही आत्मा माना गया। उपनिषद् की अनेक भेद-परक श्रुतियों के आधार पर माध्व तथा उसके अतिरिक्त अन्य मतों ने भी आत्मा की बहुलता को ग्रहण की।

सांख्यदर्शन भी उपनिषद् पर ही आधारित है। उसमें भी आत्मा की बहुलता प्रतिपाद्य है। इस दर्शन को वैज्ञानिक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा कपिल ने दी। श्वेताश्वतर उपनिषद् में सांख्य की विचार-धारा के सूत्र अत्यंत स्पष्ट एवं पर्याप्त विशद रूप में प्राप्त होते हैं। इस मत के अनुसार पुरुष अनेक हैं।[4] वह पुरुष तत्व चित् एवं सत् है। वह विशुद्ध चैतन्य है। प्रकृति से सर्वथा भिन्न तत्व के रूप में जीव की इस मत में प्रतिष्ठा है। प्रकृति से सम्बद्ध होना ही बन्ध एवं मुक्त होना, तटस्थ हो जाना, मोक्ष है। चेतना का किसी भी गुण या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। चेतन में किसी प्रकार का संकोच विस्तार एवं परिणमन आदि नहीं होता। योग में, जो सांख्य-सहकृत मत ही माना जाता है, चित्त में ही संकोच और विस्तार ग्रहण किया गया है, आत्म-तत्व में नहीं।[5] यही मान्यता जैन मत की भी है।[6] जीव तत्व का पुनर्जन्म से कोई सम्बंध नहीं है। एक सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गई है जो जन्मान्तर प्राप्त करता है।[7] अतः जीव की सत्ता, चैतन्यात्मकता एवं बहुलता इस मत को अभीष्ट है।

पूर्वमीमांसा भी आत्मा की बहुलता माननेवाला मत है। श्रुतिवाक्यों की सार्थकता के लिए आत्मा की सत्ता एवं नित्यता का ग्रहण करना अनिवार्य है। मन इन्द्रिय, बुद्धि आदि से भिन्न तत्व आत्मा है। आत्मा न तो अणु और न मध्यम परिमाण है,

---

१. छान्दोग्य ८।३-१२.
२. कठोप. २।२।५.
३. छान्दोग्य ८।७.
४. ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका १२.
५. व्यास—'घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकाप्तिचित्तं शरीरपरिणामाकारमित्यपरे।' योगभाष्य ४।१.
६. 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदयिकपरिणामिकौ च।' तत्वार्थ सूत्र २।१.
७. ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका ४०.

अभिन्न है।[१] व्याख्यान के प्रसंग में बुद्ध ने 'आत्मा' के लिए भी मौन का ही उपयोग किया था। अतः अवचन ही बुद्धवचन है।[२]

विज्ञानवादी अथवा योगाचारवादी बौद्ध विज्ञान को ही आत्यन्तिक रूप में ग्रहण करते हैं। 'आलयविज्ञान' में ही सभी विज्ञानों की सम्भावना निहित है। इन विचारकों ने आलयविज्ञान का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है वह उपनिषद् के आत्मतत्व के बहुत निकट है। लंकावतार में इसके अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि तथतागर्भ आत्मा नहीं है। क्योंकि यह निर्विकल्प है। न तो यह 'अस्ति' है और न 'नास्ति' ही, साथ ही यह निराभास गोचर शुद्ध चेतना से प्रत्यक्षतः ज्ञेय है। अतः यह 'अनन्तता' पर आधारित नहीं है जबकि आत्मा में, अस्त्यात्मकता' है।[३]

'जीव' के विषय में बौद्ध चिन्तन में पांच श्रेणी-विभाग प्राप्त होते हैं। पुद्गलनैरात्म्यवाद, पुद्गलास्तित्ववाद, त्रैकालिक एवं वर्तमान धर्मवाद, धर्मनैरात्म्यवाद या शून्यवाद तथा विज्ञप्तिमात्रतावाद।[४] ये सभी दृष्टिकोण बुद्ध की 'सत्' को न मानने की धारणा के ही अनेक व्याख्यान थे अतः इनमें किसी भी स्थिर अथवा 'सत्' द्रव्य को मानने की सम्भावना ही नहीं है। बौद्ध-परम्परा की सभी शाखाओं को देहभेद में स्वसम्मत से चित्तसन्तान या जीव का वास्तविक भेद दृष्ट है। 'विज्ञप्तिमात्र' को मानने वाले विचारक भी विज्ञान-सन्ततियों में भेद मानकर वास्तविक जीव-भेद का प्रस्ताव करते हैं।[५]

प्राचीन उपनिषदों में जीव के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है किन्तु यह वर्णन परस्पर अत्यन्त भिन्न है। सभी उपनिषदों का विवेच्य प्रसंग एक जैसा नहीं है। इसीलिए उपनिषद् पर आधारित मतों में इतनी अधिक निष्कर्ष-भिन्नता प्राप्त होती है कि यदि एक केवलाद्वैती है तो दूसरा पूर्णरूपेण द्वैत-समर्थक। जीवात्मा स्वतः सिद्ध है। जो ग्रहण करता है, प्राप्त करता है, विषयों का भोग करता है एवं जो अमर है वह आत्मा है।[६] आत्मा के जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तिगतस्वरूप का अन्तर भी छान्दोग्य में

---

१. माध्यमिक कारिका १०।१६.

२. "यां च रात्रिं तथागतोऽभिसम्बुद्धो यां च रात्रिं परिनिर्वास्यति अत्रान्तरे एकमप्यक्षरं तथागतेन नोदाहृतं न प्रव्याहरिष्यति। अवचनं बुद्धवचनम्।...योऽक्षरपतितं धर्मं देशयति दिशति स प्रलपति निरक्षरत्वात् धर्मस्य। लंकावतार पृष्ठ १४२।४३.

३. लंकावतार पृष्ठ ७७।७८.

४. राइस डेविड, बुधिष्ठ लाजिक, भाग १, पृष्ठ ३-१४.

५. प्रमाणवार्तिक २।३२७.

६. शंकर—"यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्तितः॥ कठोप०, भा० २।१।१.

उसका विशद रूप से विवेचन किया है। किन्तु उस विवेचन में परस्पर मत विभिन्नता भी प्राप्त होती है।

विवरणकार, विद्यारण्य एवं संक्षेपशारीरिक के निर्माता आदि विद्वान, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद के समर्थक, जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इनमें भी प्रतिबिम्ब के अविद्यागत, अन्तःकरणगत एवं अज्ञानगत रूप में अनेक अवान्तर भिन्न मत भी हैं।[1]

कुछ आचार्य बिम्बप्रतिबिम्ब भाव ग्रहण न करके जीव को अवच्छेद्य कहते हैं। उनके अनुसार अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब ब्रह्म जीव नहीं है अपितु अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है।[2]

तीसरा पक्ष है कि जीव न तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है न उसका अवच्छेद, अपितु ब्रह्म ही अविद्या के कारण जीव बन जाता है। अविद्या के निरस्त हो जाने पर विद्या के कारण ब्रह्म शुद्ध रूप में स्थित रहता है। अतः यह मत भी जीव को ब्रह्म से अभिन्न प्रतिपादित करता है।[3]

केवलाद्वैत में जीव के एक अथवा अनेक होने का भी उल्लेख है। एक जीव मानकर एक शरीर को सजीव अन्य शरीर को निर्जीव मानने वाला एक वर्ग है। दूसरा एक जीव को मानने पर भी अन्य को सजीव कहता है। तीसरा वर्ग अनेक जीवों की स्थिति स्वीकार करता है। किन्तु यह सभी विवेचन पारमार्थिक धरातल का नहीं है। उस दृष्टि से तो ये सभी परिकल्पनाएँ व्यावहारिक एवं मिथ्या हैं।[4]

भास्कर कहते हैं कि ब्रह्म अपनी भोक्तृत्व-शक्ति द्वारा जीव के रूप में परिणत होता है। जीव ब्रह्म का परिणाम है। अतः वह उससे भिन्न है साथ ही कारण रूप से दृष्टिपात करने पर अभिन्न भी है। सत्य उपाधि से उत्पन्न होने के कारण सत्य है। अणु परिमाण जीव अज्ञान के कारण भी अस्तित्ववान् है उसके समाप्त होने पर वे ब्रह्माभेद का अनुभव करते हैं। जगत को भी ये विचारक ब्रह्म का परिणाम ही मानते हैं।[5]

रामानुज ने विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हुए जगत् की भांति जीव को भी अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त जीव एवं व्यक्त जगत् के प्रपंच का निरूपण किया है। अव्यक्त चिद्रूप व्यक्त जीव रूप प्राप्त करे यह सब परब्रह्म नारायण की लीला के कारण है। यह अणुपरिमाण का है।[6] वस्तुतः तीनों में परस्पर भिन्नता नहीं है।

---

१. गंगाधर सरस्वती—वेदान्तसिद्धान्त सूक्तमंजरी १।२८।४०.
२. वही १।४१.
३. वही १।४२.

अपितु विभुपरिमाण है।[1] प्रभाकर मत में आत्मा को जड़ माना गया है। इसमें ज्ञान सुख-दुखादि उत्पन्न होते हैं। आत्मा ज्ञाता एवं ज्ञेय भी है। अपनी प्रत्यभिज्ञा आत्मा के ज्ञेयत्व का प्रमाण है। जीव की परस्पर भिन्नता एवं अनेकता मीमांसा के द्वारा भी प्रतिपादित है।

ब्रह्मसूत्र-भाष्य पर आश्रित दार्शनिक मतों में भी जीव के स्वरूप में विविध-मत है। महाभारत में सांख्य के नाम से तीन विचार-क्रमों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक प्रकृति के चौबीस (२४) तत्वों का प्रतिपादक है, दूसरा स्वतंत्र अनन्तपुरुष माननेवाला पच्चीस तत्व-वादी है, तीसरा पुरुषों से भिन्न एक ब्रह्म-तत्व मानने वाला छब्बीस (२६) तत्व-वादी है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि ये मूलतः तीन परस्पर भिन्न प्रस्थान रहे होंगे। इनको महाभारत में एक ही मत में संग्रहीत करके उपस्थित कर दिया गया। ये तीनों प्रस्थान परवर्ती-काल में आचार्यों के द्वारा विकसित कर लिये गये एवं अपने-अपने प्रस्थान के समर्थन में उ होने उपनिषद् के विपुल-साहित्य का उपयोग किया। उदाहरणतः शंकर ने ब्रह्म-तत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा स्वीकार करके सांख्य की प्रकृति में से कर्तृत्वादि तिरोहित करके उसे अविद्या या माया आदि के नाम से अभिहित किया। इसके साथ ही प्राकृत तत्वों से भिन्न पुरुष का भी स्थान न रहा। सभी ब्रह्म में विलीन हो गया। दूसरा वर्ग ऐसे भी विचारकों का था जिन्होंने प्रकृति को सर्वथा समाप्त नहीं किया अपितु ब्रह्म के परिणाम, कार्य, अंश के रूप में उसे सुरक्षित रखा। साथ ही जीव को भी परिणाम, कार्य एवं अंश के रूप में वास्तव माना है। ये सभी विचारक जीव की स्थिति अवश्य स्वीकार करते हैं किन्तु सांख्य के समान स्वतंत्र जीववादी न होकर, ब्रह्म का परिणाम मानने से परतंत्र जीववादी हैं। इनमें से सभी वेदान्त-सम्प्रदाय के विचारक जीव के स्वरूप के विषय में परतंत्रता स्वीकार करते हैं किन्तु मध्व को छोड़कर अन्य सभी मत अद्वैत की ओर ही दृष्टिपात करते हुए प्रतीत होते हैं। यदि इन मतों को पक्षों में वर्गीकृत करना अभीष्ट हो तो शंकर का एक पक्ष है, दूसरा मध्व का तीसरा अन्य सभी वेदान्त सम्प्रदायों का।

शंकर केवलाद्वैत के प्रतिपादक आचार्य हैं। एकमात्र ब्रह्म को ही पारमार्थिक मानने से जीव भेद का भी, माया के द्वारा ही, समाधान प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार की उपपत्ति इस मत में जीव एवं जीव के पारस्परिक भेद के विषय में ग्रहण की गई है। अविद्या का आश्रय लेकर ही ये सम्पूर्ण अनुपपत्तियां उपपन्न हैं। यद्यपि शंकर ने उपपत्ति की प्रक्रिया के विषय में स्पष्ट व्याख्यान नहीं किया है, तो भी उनके शिष्यों ने

१. पार्थसारथिमिश्र—शास्त्र-दीपिका, पृष्ठ ११६.
२. प० सुखलाल संघवी—भारतीय तत्व-विद्या, पृष्ठ १०१।

'अहं प्रत्यय' ही उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।[1] यह स्थायी तत्व है इसीलिए उपनिषद् में उसे अनुच्छित्ति-धर्मा कहा गया है। मध्व के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न है। शंकर के समान चिदचिदात्मक नहीं। आत्मा का सम्बन्ध हमेशा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जहां जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। सुषुप्ति में, जहाँ शंकर अन्तःकरणवृत्ति का अभाव मानने के कारण अहंकार का भी अभाव मानते हैं, वहां मध्व उस अवस्था में भी अहंकार का अभाव नहीं मानते। सुषुप्ति में वह पर्याप्त अस्पष्ट रहता है। उसकी अस्पष्टता का कारण विषय का अभाव है। ज्ञेय के रहने पर ही उसकी सुस्पष्ट प्रतीति होती है। अहं आत्मा से अविभाज्य है। व्यासतीर्थ के अनुसार[2] सुषुप्ति की प्राप्ति दुःख से मुक्त होने की आकांक्षा का परिणाम है। यदि अहं न रहा तो वह आकांक्षा सर्वथा व्यर्थ हो जावेगी। अहं अनुभव का नितान्त सहयोगी है। यदि सुषुप्ति में 'अहं प्रत्यय' का अभाव रहा तो अनुभव के क्रम का विनाश हो जायगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्थित व्यक्ति को सुषुप्ति कालीन ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए तथा सुषुप्ति के पहले के सभी ज्ञान भी विस्मृत हो जाने चाहिए। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। सुषुप्ति-कालीन ज्ञान का उत्थित व्यक्ति परामर्श करता ही है।

कर्म की अव्याहत परम्परा के आधार पर भी अहंकार की सुषुप्तिगतसत्ता अपेक्षित है। यदि 'अहंकार' सुषुप्ति अवस्था में नष्ट हो जावेगा तो पुनः जाग्रत अवस्था में आने पर उसकी नवनिर्मिति माननी होगी। जाग्रत व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होगा। पूर्ववर्ती व्यक्तित्व अपने कर्मों के फल का भोग नहीं कर पावेगा। तब यह नियम व्यर्थ होगा कि व्यक्ति कृत-कर्म का फल भोगता है[3] तथा यह भी ग्रहण करना होगा कि वह न किये हुए कर्मों का भी भोग करेगा।

सम्पूर्ण क्रियाएं एवं भोग अहंकार पर ही अधारित्त हैं। सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर यह मानना होगा कि कर्त्ता अहंकारयुक्त था तथा भोक्ता, जो सुषुप्ति-अवस्थागत तथा उसके उपरान्त होगा, वह अहंकार-विहीन अथवा नवीन अहंकार संयुक्त होगा। अर्थात् कर्ता और भोक्ता दो भिन्न भिन्न होंगे।

उक्त आधारों पर द्वैत मत अहंकार तथा जीव की अभिन्नता मानता है। अहंकार के वास्तव तथा अभिन्न होने के उपरान्त ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की

१. मध्वाचार्य—'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः॥
विष्णुतत्व निर्णय, पृष्ठ २६.

२ व्यासतीर्थ—'न्यायामृत', पृष्ठ ३७६

३. 'अहंकारव्यक्तिभेदात् कृतहानाकृताभ्यागमप्रसंगाच्च। न्यायामृत, पृष्ठ ३७६.

'अहं प्रत्यय' ही उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।[1] यह स्थायी तत्व है इसीलिए उपनिषद् में उसे अनुच्छित्ति-धर्मा कहा गया है। मध्व के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न है। शंकर के समान चिदचिदात्मक नहीं। आत्मा का सम्बन्ध हमेशा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जहां जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। सुषुप्ति में, जहाँ शंकर अन्तःकरणवृत्ति का अभाव मानने के कारण अहंकार का भी अभाव मानते हैं, वहां मध्व उस अवस्था में भी अहंकार का अभाव नहीं मानते। सुषुप्ति में वह पर्याप्त अस्पष्ट रहता है। उसकी अस्पष्टता का कारण विषय का अभाव है। ज्ञेय के रहने पर ही उसकी सुस्पष्ट प्रतीति होती है। अहं आत्मा से अविभाज्य है। व्यासतीर्थ के अनुसार[2] सुषुप्ति की प्राप्ति दुख से मुक्त होने की आकांक्षा का परिणाम है। यदि अहं न रहा तो वह आकांक्षा सर्वथा व्यर्थ हो जावेगी। अहं अनुभव का नितान्त सहयोगी है। यदि सुषुप्ति में 'अहं प्रत्यय' का अभाव रहा तो अनुभव के क्रम का विनाश हो जायगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्थित व्यक्ति को सुषुप्ति कालीन ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए तथा सुषुप्ति के पहले के सभी ज्ञान भी विस्मृत हो जाने चाहिए। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। सुषुप्ति-कालीन ज्ञान का उत्थित व्यक्ति परामर्श करता ही है।

कर्म की अव्याहत परम्परा के आधार पर भी अहंकार की सुषुप्तिगतसत्ता अपेक्षित है। यदि 'अहंकार' सुषुप्ति अवस्था में नष्ट हो जावेगा तो पुनः जाग्रत अवस्था में आने पर उसकी नवनिर्मिति माननी होगी। जाग्रत व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होगा। पूर्ववर्ती व्यक्तित्व अपने कर्मों के फल का भोग नहीं कर पावेगा। तब यह नियम व्यर्थ होगा कि व्यक्ति कृत-कर्म का फल भोगता है[3] तथा यह भी ग्रहण करना होगा कि वह न किये हुए कर्मों का भी भोग करेगा।

सम्पूर्ण क्रियाएं एवं भोग अहंकार पर ही अधारिक्त हैं। सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर यह मानना होगा कि कर्त्ता अहंकारयुक्त था तथा भोक्ता, जो सुषुप्ति-अवस्थागत तथा उसके उपरान्त होगा, वह अहंकार-विहीन अथवा नवीन अहंकार संयुक्त होगा। अर्थात् कर्ता और भोक्ता दो भिन्न भिन्न होंगे।

उक्त आधारों पर द्वैत मत अहंकार तथा जीव की अभिन्नता मानता है। अहंकार के वास्तव तथा अभिन्न होने के उपरान्त ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की

---

१. मध्वाचार्य—'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः॥
विष्णुतत्व निर्णय, पृष्ठ २९.

२ व्यासतीर्थ—'न्यायामृत', पृष्ठ ३७६

३. 'अहंकारव्यक्तिभेदात् कृतहानाकृताभ्यागमप्रसंगाच्च। न्यायामृत, पृष्ठ ३७६.

प्रतीयमान भेद केवल मर्यादित है।

निम्बार्क भेदाभेदवादी हैं। जीव ज्ञान का स्वरूप है। शरीर से इसका संयोग एवं वियोग होता है। अणुपरिमाण-जीव प्रत्येक देह में भिन्न एवं अनन्त है। ईश्वर के अधीन है। एक ही वायु जैसे स्थान-भेद से नानारूप में परिणत होती है वैसे ही ब्रह्म भी अनन्त जीवों के रूप में परिणत होता है। ये जीव कल्पनात्मक एवं आरोपित नहीं हैं।

विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृति की भाँति पुरुष अर्थात् जीव अनादि व स्वतन्त्र है। ये ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं रह सकते। सभी जीव ब्रह्म में अविभक्त रूप से रहते हैं और उसी शक्ति से सञ्चालित होते हैं।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं। माया जीव की सृष्टि में किसी भी प्रकार से कारण नहीं है। यह सम्बन्ध अग्नि एवं स्फुलिंग के सम्बन्ध के समान है। जीव असंख्य है। जीव जगत् के समान ही ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है। यद्यपि यह परिणाम सोपाधिक है तो भी ब्रह्म अविकृत एवं शुद्ध रहता है। जीव के स्वरूप-बोध न होने से अविद्या का मुख्य स्थान है, वह अणु-परिमाणी है।[1]

चैतन्य के अनुसार जीव-शक्ति से ब्रह्म अनन्त जीवों के रूप में प्रकट होता है। ये अपने स्वरूपतः ब्रह्म से पृथक्, अणुपरिमाण एवं अनन्त हैं। ब्रह्म का जीव से एकत्व बोध वास्तव है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। जीवों के साथ ब्रह्म का भेदाभेद है परन्तु वह अचिन्तनीय है।

भास्कर से प्रारम्भ करके चैतन्य तक के सभी विचारक जीव को अणुरूप मानते हैं। ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा जब वह मुक्त हो जाता है, उसके अज्ञान का बाध हो जाता है, तब उस दशा में वह ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करता है। ब्रह्म से इस सान्निध्य के रूप से सम्बन्धित पारस्परिक मत-विभिन्नता भले ही प्राप्त हो किन्तु ये मत ब्रह्म से सर्वांशतः जीव के भेद को स्वीकार नहीं करते। सभी प्रकारान्तर से अभेद अथवा अद्वैत का आश्रय लेते हैं। मध्व उक्त अभेद को नहीं मान सके। जीव ब्रह्म के अधीन अवश्य है किन्तु वह न तो उसका विकारादि है न परिणाम अपितु उससे सर्वथा भिन्न स्थिति में है। अतः उक्त सम्पूर्ण विचारों में से किसी से मध्व का सहभाव नहीं है। ब्रह्म से जीव की भिन्नता तथा जीव से जीव की भिन्नता पर मध्व मत आधारित है।

जीव का स्वरूप—जीव की स्थिति अनुभव संवेद्य है, मात्र तर्कग्राह्य नहीं।

---

१. वल्लभाचार्य—अणुभाष्य २।३।१९.

'अहं प्रत्यय' ही उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।[1] यह स्थायी तत्व है इसीलिए उपनिषद् में उसे अनुच्छित्ति-धर्मा कहा गया है। मध्व के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न है। शंकर के समान चिदचिदात्मक नहीं। आत्मा का सम्बन्ध हमेशा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जहां जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। सुषुप्ति में, जहाँ शंकर अन्तःकरणवृत्ति का अभाव मानने के कारण अहंकार का भी अभाव मानते हैं, वहां मध्व उस अवस्था में भी अहंकार का अभाव नहीं मानते। सुषुप्ति में वह पर्याप्त अस्पष्ट रहता है। उसकी अस्पष्टता का कारण विषय का अभाव है। ज्ञेय के रहने पर ही उसकी सुस्पष्ट प्रतीति होती है। अहं आत्मा से अविभाज्य है। व्यासतीर्थ के अनुसार[2] सुषुप्ति की प्राप्ति दुःख से मुक्त होने की आकाँक्षा का परिणाम है। यदि अहं न रहा तो वह आकांक्षा सर्वथा व्यर्थ हो जावेगी। अहं अनुभव का नितान्त सहयोगी है। यदि सुषुप्ति में 'अहं प्रत्यय' का अभाव रहा तो अनुभव के क्रम का विनाश हो जायगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्थित व्यक्ति को सुषुप्ति कालीन ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए तथा सुषुप्ति के पहले के सभी ज्ञान भी विस्मृत हो जाने चाहिए। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। सुषुप्ति-कालीन ज्ञान का उत्थित व्यक्ति परामर्श करता ही है।

कर्म की अव्याहत परम्परा के आधार पर भी अहंकार की सुषुप्तिगतसत्ता अपेक्षित है। यदि 'अहंकार' सुषुप्ति अवस्था में नष्ट हो जावेगा तो पुनः जाग्रत अवस्था में आने पर उसकी नवनिर्मिति माननी होगी। जाग्रत व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होगा। पूर्ववर्ती व्यक्तित्व अपने कर्मों के फल का भोग नहीं कर पावेगा। तब यह नियम व्यर्थ होगा कि व्यक्ति कृत-कर्म का फल भोगता है[3] तथा यह भी ग्रहण करना होगा कि वह न किये हुए कर्मों का भी भोग करेगा।

सम्पूर्ण क्रियाएं एवं भोग अहंकार पर ही अधारिक्त हैं। सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर यह मानना होगा कि कर्त्ता अहंकारयुक्त था तथा भोक्ता, जो सुषुप्ति-अवस्थागत तथा उसके उपरान्त होगा, वह अहंकार-विहीन अथवा नवीन अहंकार संयुक्त होगा। अर्थात् कर्ता और भोक्ता दो भिन्न भिन्न होंगे।

उक्त आधारों पर द्वैत मत अहंकार तथा जीव की अभिन्नता मानता है। अहंकार के वास्तव तथा अभिन्न होने के उपरान्त ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की

---

१. मध्वाचार्य—'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः॥
विष्णुतत्व निर्णय, पृष्ठ २६.

२ व्यासतीर्थ—'न्यायामृत', पृष्ठ ३७६

३. 'अहंकारव्यक्तिभेदात् कृतहानाकृताभ्यागमप्रसंगाच्च। न्यायामृत, पृष्ठ ३७६.

प्रतीयमान भेद केवल शरीरकृत है।

निम्बार्क भेदाभेदवादी हैं। जीव ज्ञान का स्वरूप है। शरीर से इसका संयोग एवं वियोग होता है। अणुपरिमाण-जीव प्रत्येक देह में भिन्न एवं अनन्त है। ईश्वर के अधीन है। एक ही वायु जैसे स्थान-भेद से नानारूप में परिणत होती है वैसे ही ब्रह्म भी अनेक जीवों के रूप में परिणत होता है। ये जीव कल्पनाजन्य एवं आरोपित नहीं हैं।

विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृति की भांति पुरुष अर्थात् जीव अनादि व स्वतन्त्र है। ये ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं रह सकते। सभी जीव ब्रह्म में अविभक्त रूप से रहते हैं और उसी शक्ति से संचालित होते हैं।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं। माया जीव की सृष्टि में किसी भी प्रकार से कारण नहीं है। यह सम्बन्ध अग्नि एवं स्फुलिंग के सम्बन्ध के समान है। जीव असंख्य हैं। जीव जगत् के समान ही ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है। यद्यपि यह परिणाम लीलावश है तो भी ब्रह्म अविकृत एवं शुद्ध रहता है। जीव के स्वरूप-बोध न होने में अविद्या का मुख्य स्थान है. वह अणुपरिमाणी है।[1]

चैतन्य के अनुसार जीव-शक्ति से ब्रह्म अनन्त जीवों के रूप में प्रकट होता है। ये उनके शास्ता ब्रह्म से पृथक्, अणुपरिमाण एवं असंख्य हैं। ब्रह्म का जीव से एकत्व बोध वास्तव है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। जीवों के साथ ब्रह्म का भेदाभेद है परन्तु वह अचिन्तनीय है।

भास्कर से प्रारम्भ करके चैतन्य तक के सभी विचारक जीव को अणुरूप मानते हैं। ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा जब वह मुक्त हो जाता है, उसके अज्ञान का बोध हो जाता है, तब उस दशा में वह ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करता है। ब्रह्म के इस सान्निध्य के रूप से सम्बन्धित पारस्परिक मत-विभिन्नता भले ही प्राप्त हो किन्तु ये मत ब्रह्म से सर्वांशतः जीव के भेद को स्वीकार नहीं करते। सभी प्रकारान्तर से अभेद अथवा अद्वैत का आश्रय लेते हैं। मध्व उक्त अभेद को नहीं मान सके। जीव ब्रह्म के अधीन अवश्य है किन्तु वह न तो उसका बिम्बादि है न परिणाम अपितु उससे सर्वथा भिन्न स्थिति में हैं। अतः उक्त सम्पूर्ण विचारों में से किसी से मध्व का सद्भाव नहीं है। ब्रह्म से जीव की भिन्नता तथा जीव से जीव की भिन्नता पर मध्व मत आधारित है।

जीव का स्वरूप—जीव की स्थिति अनुभव संवेद्य है, मात्र तर्कग्राह्य नहीं।

---

१. वल्लभाचार्य—अणुभाष्य २।३।१६.

'अहं प्रत्यय' ही उसकी सत्ता को सिद्ध करता है।[1] यह स्थायी तत्व है इसीलिए उपनिषद् में उसे अनुच्छित्ति-धर्मा कहा गया है। मध्व के अनुसार जीव और अहंकार अभिन्न है। शंकर के समान चिदचिदात्मक नहीं। आत्मा का सम्बन्ध हमेशा अहंकार से बना रहता है। अनुभव के क्षेत्र में ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है जहां जीव अहं प्रत्यय से मुक्त हो। सुषुप्ति में, जहाँ शंकर अन्तःकरणवृत्ति का अभाव मानने के कारण अहंकार का भी अभाव मानते हैं, वहां मध्व उस अवस्था में भी अहंकार का अभाव नहीं मानते। सुषुप्ति में वह पर्याप्त अस्पष्ट रहता है। उसकी अस्पष्टता का कारण विषय का अभाव है। ज्ञेय के रहने पर ही उसकी सुस्पष्ट प्रतीति होती है। अहं आत्मा से अविभाज्य है। व्यासतीर्थ के अनुसार[2] सुषुप्ति की प्राप्ति दुख से मुक्त होने की आकांक्षा का परिणाम है। यदि अहं न रहा तो वह आकांक्षा सर्वथा व्यर्थ हो जावेगी। अहं अनुभव का नितान्त सहयोगी है। यदि सुषुप्ति में 'अहं प्रत्यय' का अभाव रहा तो अनुभव के क्रम का विनाश हो जायगा। क्योंकि ऐसी स्थिति में उत्थित व्यक्ति को सुषुप्ति कालीन ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिए तथा सुषुप्ति के पहले के सभी ज्ञान भी विस्मृत हो जाने चाहिए। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। सुषुप्ति-कालीन ज्ञान का उत्थित व्यक्ति परामर्श करता ही है।

कर्म की अव्याहत परम्परा के आधार पर भी अहंकार की सुषुप्तिगतसत्ता अपेक्षित है। यदि 'अहंकार' सुषुप्ति अवस्था में नष्ट हो जावेगा तो पुनः जाग्रत अवस्था में आने पर उसकी नवनिर्मिति माननी होगी। जाग्रत व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होगा। पूर्ववर्ती व्यक्तित्व अपने कर्मों के फल का भोग नहीं कर पावेगा। तब यह नियम व्यर्थ होगा कि व्यक्ति कृत-कर्म का फल भोगता है[3] तथा यह भी ग्रहण करना होगा कि वह न किये हुए कर्मों का भी भोग करेगा।

सम्पूर्ण क्रियाएं एवं भोग अहंकार पर ही अधारिक्त हैं। सुषुप्ति में अहंकार के न रहने पर यह मानना होगा कि कर्त्ता अहंकारयुक्त था तथा भोक्ता, जो सुषुप्ति-अवस्थागत तथा उसके उपरान्त होगा, वह अहंकार-विहीन अथवा नवीन अहंकार संयुक्त होगा। अर्थात् कर्ता और भोक्ता दो भिन्न भिन्न होंगे।

उक्त आधारों पर द्वैत मत अहंकार तथा जीव की अभिन्नता मानता है। अहंकार के वास्तव तथा अभिन्न होने के उपरान्त ही कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की

---

१. मध्वाचार्य— अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः ॥
विष्णुतत्व निर्णय, पृष्ठ २६.

प्रतीयमान भेद केवल शरीरकृत है।

निम्बार्क भेदाभेदवादी है। जीव ज्ञान का स्वरूप है। शरीर से इसका संयोग एवं वियोग होता है। अणुपरिमाण-जीव प्रत्येक देह में भिन्न एवं अनन्त है। ईश्वर के अधीन है। एक ही वायु जैसे स्थान-भेद से नानारूप में परिणत होती है वैसे ही ब्रह्म भी अनेक जीवों के रूप में परिणत होता है। ये जीव कल्पनाजन्य एवं आरोपित नहीं हैं।

विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृति की भांति पुरुष अर्थात् जीव अनादि व स्वतन्त्र है। ये ब्रह्म से पृथक् स्थित नहीं रह सकते। सभी जीव ब्रह्म में अविभक्त रूप से रहते हैं और उसी शक्ति से संचालित होते हैं।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म जीव रूप का आविर्भाव अपनी इच्छा से करते हैं। माया जीव की सृष्टि में किसी भी प्रकार से कारण नहीं है। यह सम्बन्ध अग्नि एवं स्फुलिंग के सम्बन्ध के समान है। जीव असंख्य है। जीव जगत् के समान ही ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है। यद्यपि यह परिणाम लीलावश है तो भी ब्रह्म अविकृत एवं शुद्ध रहता है। जीव के स्वरूप-बोध न होने में अविद्या का मुख्य स्थान है, वह अणु-परिमाणी है।[1]

चैतन्य के अनुसार जीव-शक्ति से ब्रह्म अनन्त जीवों के रूप में प्रकट होता है। ये अपने शास्ता ब्रह्म से पृथक्, अणुपरिमाण एवं असंख्य हैं। ब्रह्म का जीव से एकत्व बोध वास्तव है। दृश्यमान भेद माया के कारण है। जीवों के साथ ब्रह्म का भेदाभेद है परन्तु वह अचिन्तनीय है।

भास्कर से प्रारम्भ करके चैतन्य तक के सभी विचारक जीव को अणुरूप मानते हैं। ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा जब वह मुक्त हो जाता है, उसके अज्ञान का बोध हो जाता है, तब उस दशा में वह ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त करता है। ब्रह्म के इस सान्निध्य के रूप से सम्बन्धित पारस्परिक मत-विभिन्नता भले ही प्राप्त हो किन्तु ये मत ब्रह्म से सर्वांशत जीव के भेद को स्वीकार नहीं करते। सभी प्रकारान्तर से अभेद अथवा अद्वैत का आश्रय लेते हैं। मध्व उक्त अभेद को नहीं मान सके। जीव ब्रह्म के अधीन अवश्य है किन्तु वह न तो उसका बिम्बादि है न परिणाम अपितु उससे सर्वथा भिन्न स्थिति में है। अतः उक्त सम्पूर्ण विचारों में से किसी से मध्व का सहभाव नहीं है। ब्रह्म से जीव की भिन्नता तथा जीव से जीव की भिन्नता पर मध्व मत आधारित है।

जीव का स्वरूप—जीव की स्थिति अनुभव संवेद्य है, मात्र तर्कग्राह्य नहीं।

---

१. वल्लभाचार्य—अणुभाष्य २।३।१९.

है। माध्व-मत में यह ग्राह्य नहीं है।[1] आत्मा की स्वप्रकाशकता निर्विवाद है। अहं प्रत्यय का अनुभव इसकी स्वप्रकाशकता का आधार है।

"आत्म ज्ञान का विषय है" इस विचार के विरुद्ध अद्वैत वेदांती का कथन है कि यदि आत्मा को ज्ञान का विषय माना गया तो 'कर्तृकर्मभाव विरोध' होगा। अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओं का ज्ञान होता है उसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए। जो कर्म है वह कर्म ही रहेगा। कर्ता नहीं बन सकता। इसी भांति जो कर्ता है। वह कर्म नहीं होगा। आत्मा यदि ज्ञान का कर्ता है तब उसी को कर्म मानना असंगत है।

किन्तु मध्व का कथन है कि केवल तर्क के अनुरोध से अनुभव को बाधित नहीं किया जा सकता। अद्वैत मत आत्मा को कर्ता भी तो परमार्थतः नहीं मानता। क्योंकि प्रकाशकता कहते ही विषय-विषयी भाव का ग्रहण करना अनिवार्य है। किन्तु उक्त विचारक विषयी भी नहीं मानते तथा न विषय ही मानते हैं। परिणामतः विषय अथवा विषयी दोनों ही प्रकारों में से किसी भी रूप में प्रकाशकता से आत्मा का सम्बन्ध यदि नहीं रहा तो यह ग्रहण करना होगा कि आत्मा में स्वप्रकाशकता नहीं है।[2] आत्मा को विषय माने बिना अपवाद के रूप में भी वह प्रामाणिक नहीं है। जो प्रामाणिक नहीं है उसे ग्रहण भी नहीं करना होगा।

द्वैत-मत में 'विशेष' नामक तत्व की मान्यता के कारण प्रत्येक जीवात्मा का अपना वैशिष्ट्य है। यही कारण है कि मध्व बन्धावस्था में आवृत चिदंश को ज्ञेय मानते हैं। आत्मा यदि स्वयं भासमान निर्विशेष है तो वह किसी भी प्रकार से अज्ञान से आवृत नहीं होगा। जब वस्तु स्वयं भासित है तब अज्ञान किसको आवृत करेगा।[3]

---

१. "न चात्मनः स्वप्रकाशे त्रिवदितव्यम्। अहमित्यनुभवात्। न चायं मानसोऽनुभवः। तस्यापि ज्ञायमानत्वेनानुभवान्तरान्वेषणेऽनवस्थानात् कस्यचिदनुभवस्य स्वप्रकाशत्वे स्वात्मन एव तत्। जिज्ञासायां अनुभवोऽनुभूयत इति न वाच्यम्। अनुभव इति न वाच्यम्। अनुभव विरोधात् न ह्यज्ञायमानज्ञानसद्भावे किञ्चिन्मानम्। न च स्वप्रकाशसंविदाश्रयतया आत्मा अवभासत इति युक्तम्। औत्तरिकानुस्मृतिसिद्धसौषुप्तिकानुभवाभावप्रसंगात्। नहि सुषुप्तावात्माविरिक्ता संविदस्तीति सम्भवति। संविदात्मकत्वाच्चात्मनो न संविद इव संविदाश्रयतया प्रतीतिः। १।१।१।

तत्वप्रकाशिका।

२. जयतीर्थ—विष्णु-तत्व निर्णय टीका, पृष्ठ ९६.

३. निर्विशेषे स्वयं भाते किमज्ञानावृतं भवेत्।
स्वरूपस्य सिद्धत्वात् विशेषाभावाच्च नाज्ञानं कस्यचिदावरकम्।
मायावाद-खण्डनम्, पृष्ठ १२.

वास्तविकता की सिद्धि सम्भव है। यही अहंकार जीव को अन्य सभी तत्वों से पृथक् करता है। उपासनावादी दृष्टिकोण मे जीवो के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व की सत्यता मानना अनिवार्य है, अन्यथा उपासना ही व्यर्थ हो जावेगी तथा उपासना का कोई कारण ही नही रहेगा। मध्व भी भक्ति को मानते हैं, परिणामतः अहंकारके आधार पर भोक्तृत्व की सत्यता इस मत को भी आवश्यक प्रतीत हुआ। यही कारण है कि इस पक्ष को अधिक महत्व देते हुए ये विचारक मुक्तावस्था मे भी जीव को भोक्ता और कर्ता मानते हैं।

चैतन्य जीव का स्वाभाविक धर्म है। न तो वह आकस्मिक है और न ही परिणामभूत। चार्वाक-विचारक चैतन्य को भूतो में से ही उत्पन्न मानते हैं।[1] किन्तु ऐसी स्थिति मे शव मे चैतन्य होना चाहिए क्योंकि इसमे सभी भूतांश विद्यमान हैं। वस्तुतः जीवात्मा ही चेतन होता।[2] उससे सबद्ध होने के कारण ही शरीर गतिमान है। मध्व के अनुसार चैतन्य धर्म अथवा गुण है। इससे जीव के स्वरूप तथा चैतन्य मे धर्म धर्मिभाव के आधार पर कोई भिन्नता नही आती, क्योंकि इस मत मे गुण को भी वस्तु का स्वरूप ही माना गया है। अतः द्वैतमत में स्वीकृत जीवात्मा को चेतन होना उसका स्वरूप ही है। तथा यह चेतना गुण भी है। इस प्रकार चेतना के गुण होते हुए भी स्वरूपतः स्थिति होने से किसी विरोध पूर्ण स्थिति का प्रसंग नही रहा। विरोध तभी होगा जब मूलतः जीव को हम निर्विरोध माने, चैतन्य को गुण तथा गुण एव गुणी को सर्वथा भिन्न माने। यह मध्व मत सम्मत नही है।

चैतन्यात्मकता की दृष्टि से विचार करने पर ईश्वर और जीव में कोई अन्तर नही है। किन्तु जीव की स्वप्रकाशकता ईश्वराधीन है। यह केवल ज्ञानस्वरूप ही नही अपितु ज्ञातृ-स्वरूप भी है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त स्वप्रकाशकत्व को शुद्ध चैतन्य की, विषय-विषयि रहित, सस्थिति को मानता है। किन्तु आत्मा को पहले अपने आपको तो जानना ही चाहिए अर्थात् उसे ज्ञान और ज्ञातृ इन दोनों ही रूपो मे रहना चाहिए। तथा दूसरों के द्वारा भी ज्ञेय होना आवश्यक है। इसीलिए जयतीर्थ आदि विद्वान प्रभाकर के समान आत्मा को जड़ मानने के पक्ष मे नही हैं, क्योंकि यह ज्ञान, क्रिया, सुख-दुःख आदि का आश्रय है। मीमांसक उसे आश्रय और ज्ञान दोनों मानते हुए भी आत्मज्ञप्ति में असमर्थ मानते हैं। आत्मा का ज्ञान उनके अनुसार स्वय प्रकाशकत्वेन न होकर अनुमान के द्वारा होता है। यह अनुमान 'अहं-प्रत्यय' पर आधारित

---

१. युक्ति मल्लिका, १।१६४-१६७.

२. एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी, डा० के० नारायण, पृष्ठ १३९.

अविद्या ही कारण है।[1] मुक्तावस्था में आनन्द-बाहुल्य के कारण ही वह ईश्वर के समान हो जाता है।

अन्य वैष्णव मतों के समान मध्व भी जीव को अणुपरिमाण का मानते हैं। चैतन्य के कारण ही वह सम्पूर्ण देह की अनुभूति कराने में सक्षम होता है। जैसे दीप का प्रकाश पूरे कक्ष को आलोकित करता है, वैसे ही जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अपने वैशिष्ट्य के कारण वह ऐसा करने में समर्थ है।[2] जीव के परिमाण का व्याख्यान बहुत विस्तृत एवं प्राचीन है। सूत्रकार ने भी इसका विस्तार से उल्लेख किया है।[3] न्यायवैशेषिक, मीमांसा, सांख्य-योग तथा अद्वैत वेदान्त मतानुयायी विचारक विभु-परिमाणवादी, जैन मध्यम परिमाणवादी तथा वैष्णवमत अणुपरिमाण वादीहैं।[4] जैसे चन्दन एक स्थान पर स्थित होने पर भी सम्पूर्ण शरीरको सुवासित करता है वही स्थिति जीवात्मा की है।[5] श्रुतियों में जीव को आवागमन करने वाला माना है। यदि उसे विभु-परिमाण का मानते हैं तो फिर इन सभी श्रुतियों के विरुद्ध जीव का स्वरूप ग्रहण करना होगा। अतः अणुपरिमाण मानना चाहिए।[6]

मध्वोत्तर साहित्य में जीव की साकारता पर बहुत बल दिया गया है। आकार के बिना किसी वस्तु की कल्पना करना असम्भव है। जिस तरह अणु का भी आकार होता है वैसा ही जीवात्मा का भी आकार है। अणु-आकार की स्थिति जिस प्रकार से अनादि है वैसे ही जीव का आकार अनादि है।[7] जीव के स्वरूप में साकारता तो

---

१. भावत्वेनानन्दादिरूपो जीवः।
तदभिव्यक्त्यर्थं च मुमुक्षुणां प्रयत्नोपपत्तेरिति भावः। न चावरणमनुपपत्तिः।
ज्ञानभावातिरिक्ततन्निमित्ताविपर्ययभ्युपगमात्। तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११६.

२. Dr. S. N. Dasgupta—'According to him, the view that Jive is atomic in size and not all pervading. Being in one place it can vitalige the whole body just as a lamp can illuminate a room by its light. which is a quality of the lamp, for substance may be pervading by virtue of its quality',
A History of Indian Philosophy, Vol. IV. P. 146.

३. ब्रह्मसूत्र, २।३.

४. डा० के० नारायण—एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी, पृष्ठ १५७.

५. मध्व—अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति।
यथा व्याप्यशरीराणि हरिचन्दन-विप्नुषः॥ ब्र० सू० भा० २।३।२-५.

६. तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११५.

७. वादिराजतीर्थ—'अणूनामणुराकारो यथा नित्योऽप्यनादितः।
ज्योतिर्मया तथा जीवास्साकारा सन्तु सन्ततम्॥' युक्तिमल्लिका, पृष्ठ २६.

जीव की स्थिति ईश्वर से ही है। वैसे तो जीव का उद्भव मानना जीव की आत्यन्तिक स्थिति का विरोधी हो सकता है। किन्तु उसकी यह सत्ता उपाधि के कारण है। उपाधि ही जीव को स्वरूप प्रदान करती है। उपाधि विभेदक है, उत्पादक नही। यही सविशेष तथा अनादि जीव की अभिव्यक्ति करती है। अतः मध्व मत मे जीव से उत्पत्ति का अभिप्राय उपाधि के सहयोग से जीव का धर्मयुक्त अभिव्यक्त होना है।[१] यह उपाधिया दो प्रकार की हैं। स्वरूप एव बाह्य। मुक्तावस्था मे बाह्य उपाधि (स्थूल एव सूक्ष्म शरीर) नहीं रहती किन्तु स्वरूपोपाधि उस समय भी बनी रहती है। उपाधि के साथ वह अभिन्न है।[२] उपाधि नित्य है इसलिये जीव भी कभी नष्ट नही होता।

जीव के कारण के रूप मे ईश्वर को मान लेने के बाद जीव की नित्यता के विषय मे सन्देह उठना स्वाभाविक है। जयतीर्थ के अनुसार जीव को प्रतिबिम्ब मानने के बाद भी वह अनादि एव नित्य है। यदि उपाधि (स्वरूपोपाधि) का मध्व स्वीकृत स्वरूप नश्वर होता तब तो अनित्यता का प्रश्न उठ सकता था किन्तु जब दोनों ही अविनश्वर हैं तब जीव की नित्यता के विषय मे कोई सन्देह नही रहता।[३] मध्व के अनुसार जीव कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो मिथ्या नहीं हैं। जीवात्मा का ज्ञातृत्व भी इसी प्रकार ईश्वर के अनन्त ज्ञान से भिन्न तथा निश्चित है। ज्ञान का आश्रय होने के कारण जीव को, इस मत, मे, अज्ञान का भी आश्रय माना गया है।[४] जीव आत्यन्तिक-सत्तावान् है। इसकी नित्यता श्रुति-प्रतिपाद्य है।[५] वह आनन्दात्मक है। आनन्दात्मक होने के कारण ही मुमुक्षुओ के प्रयत्न इसकी अभिव्यक्ति के लिए होते हैं। जीव के इस आनन्दस्वरूप के अभिव्यक्त न होने मे

---

१. मध्व—'जीवोऽप्यत एव परमेश्वरादुत्पद्यते—नित्यस्यापि हि जीवस्योपाध्यपेक्षया उत्पत्तिरित्युच्यते। ब्रह्म सूत्रभाष्य, पृष्ठ ८३.
तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११५.

२. "जीवोपाधिर्द्विधाप्रोक्त स्वरूपं बाह्य एव च।
बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तौ अन्यस्य तु स्थितिः।
तथा उपाधेश्च नित्यत्वात् नैव जीवो विनश्यति॥
स्वरूपत्वाच्च उपाधेर्न भिन्नोपाधिकल्पनम्। तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११७.

३. तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११९.

४. An out line of Madhva Philosophy, Dr. K. Narain. P. 146.

५. "नित्यो नित्यानामिति जीवस्य नित्यत्वमुक्तम्।" पृष्ठ ८३ ब्र० सू० मध्वभाष्य.

जीव की पारस्परिक भिन्नता को और वहुत्त्व को सांख्य ने जिन आधारों पर स्वीकार किया है,[१] वह वहुत उपयोगी आधार नहीं है।[२] इसलिए जयतीर्थ तथा अन्य अनेक द्वैत-विद्वानों ने माना कि इन अधारों के अतिरिक्त अन्य किसी पुष्ट-आधार पर स्थापना करनी चाहिये। केवल प्राकृतिक आधार उसके लिये अपर्याप्त है।[३] रामानुज के अनुसार आनंद और ज्ञान की मात्रा की दृष्टि से उनके स्वरूप-विशेष में कोई पारस्परिक अंतर नहीं है इसके विपरीत मध्व चेतन के प्रतीयमान भेद को उसके मूलतत्व आत्मा में अन्तर माने बिना स्वीकार करना असम्भव है। यदि जड़ पदार्थों की परस्पर भिन्नता को ग्रहण करने के लिए अणु के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया जा सकता है तो आत्मा के पारस्परिक-विभेद के आधार को आत्मगत-विभेदकता के रूप में स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?

यद्यपि कर्म सिद्धान्त जीवों के वाहुल्य का समर्थक है तथापि अनादि-कर्म-परम्परा यह वतलाने में असमर्थ है कि कोई आत्मा अच्छी या वुरी क्यों है ? यदि सभी आत्माओं में परस्पर विभेद नहीं है, तव अनादि धर्म की स्थिति सभी के साथ एक जैसी होने के वाद, इनमें यह भेद कहाँ से आ गया ? अत: इस अन्तर के आधार को जीवात्मा के स्वरूप में ही खोजना होगा। अत: जीव-भेद की धारणा सांख्य के समान भौतिक उपकरणों पर आधारित नहीं होनी चाहिए, अपितु कोई आत्यन्तिक आधार अधिक श्रेयस्कर होगा। सांख्य, जैन तथा रामानुज जीव-भेद को संख्यागत आधारपर मानते हैं। जवकि मध्व विशेष नामक तत्व को स्वीकार करके संख्या एवं स्वरूप दोनों आधारों पर जीव की पारस्परिक भिन्नता मानते हैं।[४]

अनुभव का आधार जीव है। एक जीव का अनुभव दूसरे जीव के अनुभव से सर्वथा भिन्न है। इस भिन्नता का कारण अनुभव के आधारों की भिन्नता होनी चाहिये। सुख और दुःख का अनुभव स्वीयतया ही होता है इसलिए अनुभव का

---

१. ईश्वरकृष्ण—"जननमरणकरणानां नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषवहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपर्ययाच्चैव ॥ सांख्य सारिका १८.

२. जयतीर्थ—"यत्पुरुषवहुत्वं सांख्येनांगीकृतं तदपि मायावादिभिरभ्युपगतमेव। न तु स्वरूपे कश्चिदस्ति परस्परतो विशेष:" न्यायसुधा, पृष्ठ ३२८.

३. डा० वी० एन० शर्मा—फिलासफी आव श्रीमध्वाचार्य, पृष्ठ १६६.

४. Dr. B. N. K. Sharma—"Even the most mireciless critic of Madhva must admit that Madhva is utterly consistent in accepting the quantitative and qualitative pluralism of souls." philosophy of Sri Madhvacharya. P. 195.

है ही ।[1] आत्मप्रकाशी तत्व कोई न कोई आकार अवश्य लिए रहता है-जैसे दीप की ज्योति । वैसे ही जीव की आत्मप्रकाशकता के लिये आकार का होना अपरिहार्य है। यदि जीव का आकार न माना गया तब श्रुति प्रतिपाद्य यह तथ्य भी व्यर्थ हो जावेगा कि बाह्य-देह के न रहने पर भी जीव आनन्द भोग करता है। आनन्द भोग करने के लिए माध्यम की साकारता नितान्त अपेक्षित है। जिस प्रकार से कंचुक ही शरीर का आच्छादन कर पाता है, उससे भिन्न कोई वस्तु इसमे समर्थ नही वैसे ही हस्त-पादादि-युक्त देह के अभाव में जीव की स्थिति की कल्पना असम्भव है। हस्तपादादि का जीव के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है।[2] जो भी सत्तात्मक पदार्थ हैं वे 'चेतना-चेतनत्वेन अभिव्यक्त है।[3] जीव का स्वाभाविक रूप उसका आकार है, अर्थात् देह है। यदि देह को स्वीकार न किया जाय तो देहो का आनुक्रमिक विकास कारण-विहीन हो जावेगा। यदि जीव को साकार नहीं माना गया तो सृष्टि की निमिति मे घटादि को भी वह आकार क्यो नही मिला जो जीव के शरीर को मिला ? आकारत्व विशेष की कल्पना बिना जीव और उसके आकार के स्वाभाविक सम्बन्ध माने, सम्भव नही है। भिन्नाकृति वाले शरीरो को हेतु मानकर जीव के विषय में अनुमान किया जा सकता है। अतः जीव वैभिन्न्य तथा जीव को मानने के साथ ही उसके विशिष्ट स्वरूप को मानना भी अनिवार्य है; और इसीलिए जीव साकार है।[4]

जीव और उसके देह के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानने का अर्थ है कि मध्व भी देहात्मवाद मानते हैं, जो चार्वाक मत का अभीष्ट है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या दोनो मतो का स्वरूप एक जैसा ही है। किन्तु मध्व के अनुसार देह भौतिक नही है। प्रकृति का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता। वह आनन्द और चैतन्य से निर्मित है। चार्वाक स्वीकृत देह भौतिक है, इसलिए नश्वर है। मध्व स्वीकृत देह-स्वरूप नश्वर नही है, अतः अविनश्वर जीव से उसका स्वाभाविक सम्बन्ध है।[5]

---

१. वादिराजतीर्थ—"सुखज्योतिस्वरूपात्मरचिता साकारता स्तुम. । पृष्ठ २६.

२. वही "कञ्चुकेऽस्ति तनुच्छायान स्वकञ्चुकवाससि ।
तत्स्वाभाविका भावे न स्युरौपाधिका अपि ।।' युक्तिमल्लिका, पृ० २२५.

३. वही "यस्तु वस्तु निराकार वक्ति तत्व न वेत्ति सः ।
चित्वाचित्त्वाश्रय तत्वमित्यमित्यतिनिर्मलम् ।। पृ० २०८.

४. वही 'अतस्स्वभावरूपस्याभावे रूपपरम्परा ।
निर्निमित्ता भवेत्तस्मात्साकारा जीवराशयः ।। युक्तिमल्लिका, पृ० २०४
यतः शरीरव्यनिरिक्तजडा-कारादिमन्त. अत इत्यर्थः स्वभाव रूपस्य स्वभावदेहस्य । रूपपरम्परा देह परम्परा स्तस्मात निर्निमित्तत्वायो-गात् । सुरोत्तमतीर्थ टीका ।

५. डा० के० नारायण—एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी. पृष्ठ १४१.

जाता ?[1] जीवों में ज्ञान शक्ति और आनन्द की मात्रा के आधार पर भी अन्तर होता है। इसीलिए मध्व ने जीवों को तीन प्रकार में वर्गीकृत किया है।

(१) मुक्तियोग्य
(२) तमोयोग्य
(३) नित्यसंसारिन्

यह स्वरूप-तारतम्य की मान्यता तुरन्त ही स्वीकार कर ली जावेगी यदि जीव-वैविध्य मान लिया गया हो तो। मध्व की यह अपनी मौलिक मान्यता है। किसी भी वैष्णव विचारक ने इस प्रकार के मत को स्थान नहीं दिया। रामानुज मुक्तावस्था में जीव और परमात्मतत्व में किसी भी अन्तर के अभाव के पक्षपाती हैं। ऐसी दशा में एक ऐसे अनौचित्य को स्वीकार करना होगा जिसके अनुसार जो कष्ट पीड़ा आदि से नितान्त पीड़ित जीव था, वह ईश्वर के समकक्ष हो गया। अर्थात् नियम्य और नियामक एक ही स्थिति के हो गए। कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो जीव के स्वरूप-तारतम्य को स्वीकार करने को बाध्य करते हैं। ब्रह्म स्वतंत्र क्यों है? जीव परतंत्र क्यों है? कुछ लोग क्यों शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग क्यों संसार के भागी बने रहते हैं? सभी प्रकार के दुःखों से ब्रह्म विनिर्मुक्त क्यों है? रामानुज मत के विद्वान् यद्यपि मुक्तावस्था में जीवेश्वराभेद को मानते हैं और स्वरूप-तारतम्य को अस्वीकार करते हैं तथापि उनके स्वयं के कथन नित्य संसारी की सत्ता सिद्ध करते हैं।[2] इसी प्रकार रामानुज कुछ आत्माओं का ऐसा वर्ग भी स्वीकार करते हैं जो नित्यमुक्त हैं जैसे विष्वक्सेन, गरुड़ आदि। इस उल्लेख से स्वरूप-तारतम्य उक्त मत में स्वतः सिद्ध हो गया।

हिन्दू पुराण शास्त्र में देव, मानव और असुर आदि योनियां मानी गई हैं। यद्यपि कर्म के द्वारा इनमें से एक-दूसरे में पहुँचा जा सकता है, तथापि इन योनियों के वर्गीकरण का आधार केवल कर्म नहीं है। मानव-प्रकृति को ध्यान में रखा जावे तो

---

१. यद्यनादिर्विशेषो न साम्प्रतं कथमिष्यते।
अदृष्टादेव चादृष्टं स्वीकृतं सर्ववादिभिः॥
आकस्मिको विशेषश्चेददृष्टे क्वचिदिष्यते।
सर्वत्राकस्मिकत्वं स्यान्नादृष्टापेक्षिता क्वचित्॥
अदृष्टाच्चेद्विशेषोऽयमनादित्वं कुतो न तत्? अनुव्याख्यान ३।४।५-६.

आधार एक दूसरे से पृथक् है।[1] 'कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त बाह्याकार आदि से भिन्न स्वरूपवाला साक्षी मैं हूँ' यह प्रतीति स्वतः सिद्ध है। साक्षि : अनुभव के आधार पर जीव-चैतन्यों में परस्पर अन्तर है।[2] अनुसंधान को इस मत में भेद का आधार बनाया गया है। अनुसधान का अर्थ है "इस सुख से मैं सुखी हूँ यह अनुभव। इसी प्रकार के सुखात्मक एव दुःखात्मक अनुभव के आधार पर आत्मा की भिन्नता की व्यवस्था मानी जा सकती है।[3] जीवों के भिन्न-भिन्न कर्मों को भी मान लेने के उपरान्त जीव की उपाधि की भिन्नता भी माननी होगी, तथा उपाधियों के परस्पर भिन्न होने से जीव की परस्पर भिन्नता स्वतः ग्राह्य है क्योंकि उपाधिभेदसिद्धि एवं जीवभेदसिद्धि अन्योन्याश्रित है।[4] वादरत्नावली के अनुसार जीवो के सांसारिक और मुक्त यह दो रूप उनके परस्पर भेद को स्वीकार कराने मे समर्थ हैं।[5] अदृश्यकर्म की विभिन्नता को भी मध्व ने भेद का आधार माना है।[6] जीवों मे प्राप्त वैशिष्ट्य यदि अनादि है तो वह अब क्यो नही है? और यदि वह अदृश्य पर आधारित है तब तो अदृश्य को सभी मानते हैं। अतः जीव वैभिन्य भी सभी को मानना चाहिए। यदि यह विशेषता आकस्मिक रूप में प्राप्त होनेवाली है तो प्रत्येक स्थान पर आकस्मिक प्रतिपत्ति माननी होगी। यदि अदृश्य को कभी भी अपेक्षित नही मानेंगे तथा यदि अदृष्ट से ही यह वैशिष्ट्य हो तो इस वैशिष्ट्य के अनादित्व को क्यों नही माना

---

१. जयतीर्थ—"चैतन्यावच्छिन्नमैक्यमनुसधानैकप्रमाणम्। अनुसंधान नाम भोग समाख्यातः स्वीयतया दुःखादिसाक्षात्कारोऽभिमतः।"
न्यायसुधा, पृ० ५०७.

२. वही— "कर्तृत्वभोक्तृत्वशक्त्युपेतं साकार देहादिव्यतिरिक्त रूपमहमिति साक्षिसिद्धम्।" न्यायसुधा, पृष्ठ ६३३.

३. वही नह्यस्माभिधर्मभेदो वा भिन्नाश्रयधर्मभेदो वा व्यवस्थेत्यगीकृतत्वत्। अपितु सुखदुःखाद्यनुसंधानभावाभावरूपव्यवस्थायाः अगीकृत्वात्। अनुसधान नाम अनेन सुखेनाहं सुखी इत्यनुभवः।
वादरत्नावली २.

४. मध्व—"सिद्धौ च कर्मभेदस्य स्यादुपाधिविभिन्नता।
तत्सिद्धौ चैव तत्सिद्धिरित्यन्योऽन्यव्यपाश्रयः॥ उपाधिखंडन, पृ० १०.

५. सांसारिकमुक्तव्यवस्थाया च भेदः सिद्धः। न च कोऽपि मुक्तो नास्तीति प्रलापो युक्तः।" वादरत्नावली २.

६. मध्व—'प्रतिबिम्बाना मिथो वैचित्र्ये कारणमाह—अदृष्टनियमादिति। अनादिविद्याकर्मवैचित्र्यात् वैचित्र्यम्।" ब्र० सू० भाष्य २।३।५१.

जाता ?[1] जीवों में ज्ञान शक्ति और आनन्द की मात्रा के आधार पर भी अन्तर होता है। इसीलिए मध्व ने जीवों को तीन प्रकार में वर्गीकृत किया है।

(१) मुक्तियोग्य

(२) तमोयोग्य

(३) नित्यसंसारिन्

यह स्वरूप-तारतम्य की मान्यता तुरन्त ही स्वीकार कर ली जावेगी यदि जीव-वैविध्य मान लिया गया हो तो। मध्व की यह अपनी मौलिक मान्यता है। किसी भी वैष्णव विचारक ने इस प्रकार के मत को स्थान नहीं दिया। रामानुज मुक्तावस्था में जीव और परमात्मतत्व में किसी भी अन्तर के अभाव के पक्षपाती हैं। ऐसी दशा में एक ऐसे अनौचित्य को स्वीकार करना होगा जिसके अनुसार जो कष्ट पीड़ा आदि से नितान्त पीड़ित जीव था, वह ईश्वर के समकक्ष हो गया। अर्थात् नियम्य और नियामक एक ही स्थिति के हो गए। कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो जीव के स्वरूप-तारतम्य को स्वीकार करने को बाध्य करते हैं। ब्रह्म स्वतंत्र क्यों है? जीव परतंत्र क्यों है? कुछ लोग क्यों शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कुछ लोग क्यों संसार के भागी बने रहते हैं? सभी प्रकार के दुःखों से ब्रह्म विनिर्मुक्त क्यों है? रामानुज मत के विद्वान् यद्यपि मुक्तावस्था में जीवेश्वराभेद को मानते हैं और स्वरूप-तारतम्य को अस्वीकार करते हैं तथापि उनके स्वयं के कथन नित्य संसारी की सत्ता सिद्ध करते हैं।[2] इसी प्रकार रामानुज कुछ आत्माओं का ऐसा वर्ग भी स्वीकार करते हैं जो नित्यमुक्त हैं जैसे विष्वक्सेन, गरुड़ आदि। इस उल्लेख से स्वरूप-तारतम्य उक्त मत में स्वतः सिद्ध हो गया।

हिन्दू पुराण शास्त्र में देव, मानव और असुर आदि योनियां मानी गई हैं। यद्यपि कर्म के द्वारा इनमें से एक-दूसरे में पहुँचा जा सकता है, तथापि इन योनियों के वर्गीकरण का आधार केवल कर्म नहीं है। मानव-प्रकृति को ध्यान में रखा जावे तो

---

१. यद्यनादिर्विशेपो न साम्प्रतं कथमिष्यते ।
अदृष्टादेव चादृष्टं स्वीकृत सर्ववादिभिः ॥
आकस्मिको विशेपश्चेद्दृष्टे क्वचिदिष्यते ।
सर्वत्राकस्मिकत्वं स्यान्नादृष्टापेक्षिता क्वचित् ॥

अदृष्टाच्चेद्विशेपोऽयमनादित्वं कुतो न तत् ? अनुव्याख्यान ३।४।५-६.

२. 'वेदान्तदेशिकै इह सयूथ्याः परे च केचित् आहु इतः पूर्वमपि पश्चादपि केचिन्न मोक्ष्यन्ते' एकं पादं नोद्धरति।' 'क्षिपाम्यजस्रमशुभान्।' 'मामप्राप्यैव' इत्यादिभिरेतत्सिद्धम्।' तत्वमुक्ताकलाप-वेदान्तदेशिक। पृष्ठ १३८.

आधार एक दूसरे से पृथक् हैं।[1] 'कर्तृत्व और भोक्तृत्व से युक्त बाह्याकार आदि से भिन्न स्वरूपवाला साक्षी मैं हूँ' यह प्रतीति स्वतः सिद्ध है। साक्षि : अनुभव के आधार पर जीव-चैतन्यों में परस्पर अन्तर है।[2] अनुसंधान को इस मत मे भेद का आधार बनाया गया है। अनुसधान का अर्थ है "इस सुख से मैं सुखी हूँ यह अनुभव। इसी प्रकार के सुखात्मक एव दु.खात्मक अनुभव के आधार पर आत्मा की भिन्नता की व्यवस्था मानी जा सकती है।[3] जीवो के भिन्न-भिन्न कर्मों को भी मान लेने के उपरान्त जीव की उपाधि की भिन्नता भी माननी होगी, तथा उपाधियो के परस्पर भिन्न होने से जीव की परस्पर भिन्नता स्वतः ग्राह्य है क्योकि *उपाधिभेदसिद्धि* एवं जीवभेदसिद्धि अन्योन्याश्रित है।[4] वादरत्नावली के अनुसार जीवों के सासारिक और मुक्त यह दो रूप उनके परस्पर भेद को स्वीकार कराने में समर्थ हैं।[5] अदृश्यकर्म की विभिन्नता को भी मध्व ने भेद का आधार माना है।[6] जीवो में प्राप्त वैशिष्ट्य यदि अनादि है तो वह अब क्यों नही है ? और यदि वह अदृश्य पर आधारित है तब तो अदृश्य को सभी मानते हैं । अतः जीव वैभिन्य भी सभी को मानना चाहिए। यदि यह विशेषता आकस्मिक रूप मे प्राप्त होनेवाली है तो प्रत्येक स्थान पर आकस्मिक प्रतिपत्ति माननी होगी । यदि अदृश्य को कभी भी अपेक्षित नही मानेंगे तथा यदि अदृष्ट से ही यह वैशिष्ट्य हो तो इस वैशिष्ट्य के अनादित्व को क्यों नही माना

---

१. जयतीर्थ—"चैतन्यावच्छिन्नभैक्यमनुसंधानैकप्रमाणम् । अनुसधान नाम भोग समाख्यातः स्वीयतया दुःखादिसाक्षात्कारोऽभिमतः।"

न्यायसुधा, पृ० ५०७.

२. वही— "कर्तृत्वभोक्तृत्वशक्त्युपेतं साकारं देहादिव्यतिरिक्त रूपमहमिति साक्षिसिद्धम् ।" न्यायसुधा, पृष्ठ ६३३.

३. वही नह्यस्माभिर्धर्मभेदो वा भिन्नाश्रयधर्मभेदो वा व्यवस्थेत्यगीकृतत्वत् । अपितु सुखदु.खाद्यनुसंधानभावाभावरूपव्यवस्थायाः अंगीकृत्वात् । अनुसंधानं नाम अनेन सुखेनाहं सुखी इत्यनुभवः ।

वादरत्नावली २.

४. मध्व—"सिद्धौ च कर्मभेदस्य स्यादुपाधिविभिन्नता ।
तत्सिद्धौ चैव तत्सिद्धिरित्यन्योऽन्यव्यपाश्रयः ॥ उपाधिखंडन, पृ० १०.

५. सांसारिकमुक्तव्यवस्थाया च भेदः सिद्धः । न च कोऽपि मुक्तो नास्तीति प्रलापो युक्तः ।" वादरत्नावली २.

६. मध्व—'प्रतिबिम्बानां मिथो वैचित्र्ये कारणमाह—अदृष्टनियमादिति । अनादिविद्याकर्मवैचित्र्यात् वैचित्र्यम् ।" ब्र० सू० भाष्य २।३।५१.

शरीरशरीरीभाव सम्बन्ध मानते हैं।[1] मध्व ने भी 'बिम्बप्रतिबिम्ब' पद का ही ग्रहण सम्बन्ध-सूचकता की दृष्टि से किया है। यद्यपि अद्वैत और द्वैत ने एक ही पद का ग्रहण किया तो भी दोनों के निष्कर्ष में बहुत अन्तर है। शंकर उपाधि के आधार पर रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान जीव को आत्यन्तिक रूप में मिथ्या मानते हैं। मध्व भी उपाधि के ही आधार पर जीव की सत्ता को वस्तुतः सत् मानते हैं। किन्तु दोनों विचारकों की दृष्टि में उपाधि के स्वरूप में मत विभिन्नता है। मोक्ष का अभिप्राय, मध्व के अनुसार, तादात्म्य न होकर अपने विस्मृत स्वरूप को जान लेना है; अर्थात् ईश्वराधीनत्व का बोध ग्रहण कर लेना है। ब्रह्म से जीव के इस सम्बन्ध को उपनिषद् में ग्रहीत पुरुष और छाया इस उदाहरण[2] से भी जाना जा सकता है। पुरुष की छाया में दो बातें प्रमुखतः रहती हैं। एक तो पुरुष की अधीनता तथा दूसरी उसकी समानता। यह तथ्य' 'अंशांशिभाव' पद भी व्यक्त करता है।[3] इसी अंश पद के आधार पर भास्कर आदि विद्वान् भेदाभेद प्रतिपादित करते हैं। 'अंश' पद 'अंशि' से भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों को सूचित करता है। किन्तु मध्व को 'अंश' पद का उक्त प्रयोग ग्राह्य नहीं है।[4] मध्व ने 'अंश' पद को 'स्वरूपांश' तथा 'भिन्नांश' इन दो रूपों में माना है।[5] अवतार ब्रह्म के स्वरूपांश हैं तथा जीव भिन्नांश। इस प्रकार 'जीव' ब्रह्म का 'अंश' तो है, पर वह उससे उस प्रकार से अभिन्न नहीं है जिस प्रकार से अवतार ब्रह्म से है, अपितु वह भिन्न है। किन्तु 'अंश' से अभिप्राय जीव का ब्रह्म से सम्बन्धित होना मात्र है।[6] यही कारण है कि श्रुति के भेद और अभेद दोनों ही निर्देशों को इस व्याख्यान के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है। पुराणशास्त्र (Mythology) के आधार पर 'अवतारवाद' को अपने व्याख्यान में ग्रहण करते हुए मध्व की 'अंश' पद के व्याख्यान की यह नई दृष्टि है। इस तरह मध्व ने 'अंश' पद को अधीनता-सूचक प्रतीकपद माना। तथा यह भी निष्कर्ष ग्रहण किया कि जीव एवं ईश्वर न तो परस्पर सर्वथा

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—द फिलासफी आव मध्वाचार्य, पृष्ठ २१८.

२. 'यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतदाततम्।" प्रश्नो० ३।२.

३. जयतीर्थ—'जीवस्य परमेश्वरांशत्वन्तु. तत्सादृश्यं तदधीनसत्तादिमत्त्वं चेत्यर्थः।'
न्यायसुधा, पृष्ठ ४५३.

४. मध्व—'अतश्चांशत्वमुद्दिष्टं भेदाभेदौ न मुख्यतः।' ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।४३.

५. वही—'सांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते। २।३।४३.

६. जयतीर्थ—'तत्सम्बन्धित्वमेव तदंशत्वमिति वक्ष्यामः। श्रुतिद्वयान्यथानुपपत्त्या भेदमंगीकृत्य अभेदस्थाने अंशत्वं वक्तव्यमिति भावः।'
तत्वप्रकाशिका २।३।४३.

मध्व का उक्त वर्गीकरण पर्याप्त व्यावहारिक प्रतीत होता है।[१] इसके अतिरिक्त जीवों के इस स्वरूप-तारतम्य का समर्थन वैदिक[२] एवं उत्तरवैदिक[३] श्रुतिया करती हैं। ईश्वर की भक्ति भी तारतम्य विमुक्ति प्राप्त कराने वाली है।[४] नैयायिक एव वैशेपिक विद्वान् भी सर्वमुक्ति के सम्भवतः पक्षपाती नही हैं। चित्सुखी मे उक्त सन्दर्भ उपलभ्य है। "कन्दलीकार, लीलावतीकार आदि कतिपय वैशेपिक मतानुयायी सर्व-मुक्ति का विरोध करते हैं।"[५] उक्त सभी आधारो को ध्यान मे रखकर मध्व ने स्वरूप-तारतम्य की मान्यता को जन्म दिया, तथा स्वरूप तारतम्य के आधार पर जीवात्मा के वैविध्य को स्वीकार किया है।

जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या के लिये श्रुति में अनेक पदो का प्रयोग किया गया है। टीकाकारो ने अपने मत की स्थापना की सुविधा के लिए उनमे से किसी एक को चुन लिया। अद्वैतवादी बिम्बप्रतिबिम्बभाव तथा रामानुज

१. Dr. B. N K. Sharma—"Taking a comprehensive view of human nature in *all its aspects, we find that some men are intrinsi*-cally bad rest-perhaps the vast majority us-are mid way the two though it would be impossible to assign any individual to a particular class without superhuman insight into his *fundame*-ntal nature." Philosophy of Sri Madhvacharya, P. 209.

२ (अ) खले न पर्षान प्रतिहन्मि भूरि।
कि मा निन्दन्ति शत्रवो निन्दा.।।" ऋ० वे० १०।४८।७.
(आ) अनारम्भरणे तमसि प्रविध्यम्।' ऋ० वे० १।१८२।६.
(इ) 'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।' ईशोप०
(ई) सैषा आनन्दस्य मीमासा भवति। ते ये शत मानुषा आनन्दाः।
स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। तैत्ति० उप० २।८.

३. (अ) दैवी सपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।।' गीता १६।५.
(आ) 'मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमा गतिम्।' १६।२० (क्रमशः).
(इ) 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था अधोगच्छन्ति तामसाः।' १४।१८ गीता।
(ई) 'मुक्तानामपि सिद्धाना नारायणपरायणः।
सुदुर्लभ प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।' भागवत, पृ० २५१.
(उ) 'तेषां तमःशरीराणा तम एव परायणम्।' महाभारत, पृ० १७५.

४. 'तद्भक्तिः तारतम्येन तारतम्य विमुक्तिगम्।' अणुभाष्य ३.

५. 'कन्दलीकारप्रभृतिभिः कैश्चिद्वैशेपिकविशेषैः सर्वमुक्तेरनङ्गीकरात्।'
चित्सुखी, पृष्ठ २५७।

अर्थात् यदि उपाधि के कारण भोक्ता-भेद नहीं होता तब सभी आत्माओं के मूलतः एक होने के कारण, उपाधि-आवरण के होने पर भी उनके भोक्तृत्व में अन्तर नहीं होना चाहिए। अर्थात् एक को सभी के सुख-दुःख का अनुभव होना चाहिए।[1]

उपाधि और उपहित का सम्बन्ध भी विचारणीय है। क्या उपाधि आत्मा के एक भाग को आवृत करती है अथवा सम्पूर्ण को? यदि उपाधि शुद्ध चैतन्य के एक भाग को आवृत करती है तो शुद्ध-चैतन्य अवयव-युक्त हुआ। जो वस्तु अवयव-युक्त होती है वह अनित्य होती है। यदि वह सम्पूर्ण शुद्ध-चैतन्य को आवृत करती है तब अनुपहित और उपहित के भेदक-रूप में उपाधि रहेगी ही नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण के आवृत होने पर भेदकता का प्रश्न ही नहीं उठता।[2]

उक्त कारणों से मध्व उपाधि को भिन्न तत्व के रूप में भेदक मानने में असमर्थ हैं। साथ ही मध्व की भेदपरक दृष्टि उपाधि को मिथ्या के रूप में भी ग्रहण नहीं करना चाहती। उपाधि जीव के स्वरूप से अभिन्न है। जीव और उपाधि की पारस्परिक अभिन्नता के कारण उपाधि की पृथक् सत्ता स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। उपाधि दो प्रकार की होती है। स्वरूपोपाधि एवं बाह्योपाधि। मुक्तावस्था में बाह्योपाधि विलीन हो जाती है किन्तु स्वरूपोपाधि अविकल भाव से बनी रहती है। यदि सभी प्रकार की उपाधि समाप्त हो गई तो जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब कैसे रहेगा? साथ ही यदि मोक्ष उसकी अपनी जीवरूपिणी सत्ता का विनाश है तो वह अपने ही की सिद्धि में प्रयत्नशील कैसे होगा? क्योंकि मुक्ति को अद्वैत मत में 'अपुमर्थता,' अर्थात् पुरुष की सत्ता का पुरुषत्वेन न होना, माना है। अर्थात् अभाव माना है। कौन व्यक्ति अपने ही अभाव के लिए प्रयत्नव्यापृत होगा?[3] किन्तु स्वरूपोपाधि मानने के उपरान्त भी यदि जीव को प्रतिबिम्ब माना तो फिर प्रश्न उठेगा कि जीव स्वरूपो-

---

१. 'उपाधिभेदांगीकारे हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽपि तद्गतसुखदुःखादिभोक्तुर्यथा भेदो न प्रतीयते, एवमेव शरीरभेदेऽपि भोक्तृभेदो न दृश्यते। सर्वदेहगतसुखदुःखादिमेकेनैव भुज्यते।' वही, पृष्ठ १९.

२. 'किंचोपाधिरात्मन एकदेशं ग्रसति उत सर्वात्मानम्?
एकदेशमंगीकारे सावयत्वम्। सावयत्वस्य चानित्यत्वम्।
सर्वग्रासे च नोपाधिर्भेदकः स्यात्।" पृष्ठ २९ वि० त० नि०।

३. "जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं बाह्य एव च।
बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थितिः॥
सर्वोपाधिविनाशे हि प्रतिबिम्बं कथं भवेत्?
कथं चात्मविनाशाय प्रयत्नः सेत्स्यति क्वचित्?
अपुमर्थता च मुक्तेः स्यादभावात्पुंस एव तु॥" तत्वप्रकाशिका, पृष्ठ ११७.

भिन्न हैं, और न ही अद्वय।[1] जीव की सृष्टि, प्रतिबिम्बाकाश के समान, ईश्वर के प्रतिबिम्ब के उपाधि में पड़ने से, होती है। अद्वैत वेदान्त के विवरण-प्रस्थान से साम्य का भ्रम नही होना चाहिए। दोनो की उपाधि की मान्यता मे अन्तर है। किन्तु ईश्वर का उपाधि मे प्रतिबिम्बित होकर जीव को सृष्ट करना मध्व की भेदवादी दृष्टि के बहुत अधिक अनुकूल नही है। उपाधि का स्वरूप भले ही मध्व भिन्न प्रकार का मान लें तो भी उपाधि मे जीव सृष्ट हुआ तो उसके नष्ट होने की भी सम्भावना बनी रहेगी। तथा इससे जीव की आत्यन्तिक स्थिति ही सन्दिग्ध हो उठेगी। तब ऐसी स्थिति भी माननी होगी कि जब उपाधि तो हो पर जीव न हो; इसलिए मध्व उपाधि के द्वारा किसी अंश की मान्यता के पक्षपाती नही हैं। यदि उपाधि के द्वारा जीव की स्थिति हुई है, यह माना गया तो आत्माश्रय-दोष होगा। और किसी अन्य उपाधि के द्वारा निर्मित मानने पर अनवस्था-दोष होगा।[2] अद्वैत-मत ने जिस उपाधि को माना है वह बिना अज्ञान के सम्भव नही है। उपाधि, उनके अनुसार, अन्ततः मिथ्या प्रमाणित होती है। अज्ञान के बिना मिथ्यात्व की प्रतिपत्ति भी सम्भव नही। अतः 'अज्ञ' की स्थिति तभी सम्भव है जब वह मिथ्या उपाधि से उपहित हो।[3] परिणामतः 'अज्ञ' की सत्ता उपाधिकृत है यह निष्कर्ष ग्रहीत हुआ। यदि उपाधि-रहित शुद्धचैतन्य को 'अज्ञ' कहा जाय तब तो मुक्त भी उपाधि-रहित चैतन्य होता है, और उसे भी 'अज्ञ' कहा जावेगा।[4] यदि अज्ञान को स्वाभाविक माना जाय, जिससे कि 'अंश' की स्थिति हो सके, तो वह अज्ञान स्वाभाविक होने के कारण सत्य हो जावेगा। परिणामतः अज्ञान की निवृत्ति ही नही हो सकेगी।[5] उक्त सभी तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपाधिकृत भेद की स्थिति मे 'अन्योन्याश्रयता' नामक दोष होगा।[6] 'उपाधिकृत भेद' को मानने मे कुछ आपत्तियाँ भी हैं। जैसे—उपाधिकृत जीव-भेद मानने पर हाथ-पैर आदि के भी उपाधि ही होने से हाथ का कष्ट पैर के कष्ट से भिन्न होना चाहिये तथा हाथ के कष्ट की अनुभूति सम्पूर्ण शरीर मे नही होनी चाहिए।

---

१. जयतीर्थ—'परन्तु, न जीओ ब्रह्मणो घट इव पटादत्यन्तभिन्न.।
　　तथात्वे भेदश्रुतय उपरुध्येरन्।' न्यायसुधा, पृष्ठ ४५३.

२. मध्व—'उपाधिकृतांशकल्पने तदुपाधिकृतत्वे आत्माश्रयत्वम्।
　　उपाध्यन्तरकल्पनेऽनवस्था।' विष्णुतत्व निर्णय। पृष्ठ २९.

३. मध्व—'अज्ञानसिद्धौ मिथ्योपाधिसिद्धिः अज्ञान विना मिथ्यत्वासिद्धेः।'
　　न च मिथ्योपाधि विना अज्ञान सिद्धिः। मिथ्योपाधिभिन्नस्यैवाज्ञत्वात्
　　पृष्ठ २८.

४. वही—'शुद्धस्यैवाज्ञत्वे मुक्तस्याप्यज्ञत्वप्रसक्तेः।' पृष्ठ २८.

५. वही—'स्वाभाविकत्वात्, सत्यत्वात्—अनिवृत्तिप्रसक्तेश्च।' पृष्ठ २८.

६. वही—'अतश्चान्योन्याश्रयता। वि० त० नि०, पृष्ठ २९.

उसकी चेतना शक्ति पूर्णतः ब्रह्माधीन है तथा (२) वह ब्रह्म के समान ही सत्तावान है। व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी यही है जिसकी स्थिति परमात्मा के अधीन हो।[1] प्रतिबिम्ब पूर्णतः बिम्ब के अधीन है। उसकी क्रियाशीलता ब्रह्म की ही क्रिया के कारण है। इस प्रकार जीव पूर्णतः ब्रह्माधीन ही निरूपित किया गया है। यह अधीनता सार्वकालिक है। सोपाधिक प्रतिबिम्ब में तो बिम्ब तथा प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नाशवान है जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण पर पड़ता है। दर्पण के टूट जाने पर प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है। किन्तु निरुपाधिक प्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्ब का कभी नाश नहीं होता। अतः प्रतिबिम्बत्वेन जीव नित्य है।[2]

इसी प्रकार छाया-पुरुष इस उदाहरण से भी एक तथ्य और स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार द्रव्य से उसकी छाया प्रत्येक दृष्टि से हीन है वैसे ही जीव भी प्रत्येक दृष्टि से ब्रह्म से हीन कोटि का है। उपमान का ग्रहण जब भी किया जाता है तब उसमें अपेक्षित समानताओं का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि केवल उन्हीं के ग्रहण करने से अभीष्ट का सम्पादन हो जाता है। उपमान की प्रत्येक विशेषता का उपमेय से सम्बन्ध स्थापित करना अनपेक्षित है। जैसे 'छाया-पुरुष" इस उदाहरण में केवल समानता और अधीनता ही अभिप्रेत है। यदि सभी का विचार किया तो छाया तो जड़ है किन्तु जीव-गत जड़ता अभीष्ट नहीं।[3] मध्व प्रतिबिम्ब और बिम्ब के व्याख्यान में उतने सावधान नहीं हैं जितने कि परवर्ती टीकाकार। उदाहरण के लिए मध्व ने कहा कि जीव बिम्ब की क्रिया से 'क्रियावान्' है।[4] इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव में स्वतः कोई क्रिया नहीं है। क्रिया का पूर्णतः अभाव होने के कारण वह 'जड़' है। जयतीर्थ ने 'बिम्बक्रिययैव' पद की अपेक्षा स्वमतपरिपोषक अर्थ व्यक्त करने वाले पद—'बिम्बाधीनक्रिययैव'[5] का प्रयोग कर दिया। अर्थात् जीव में क्रियाशीलता स्वतः सिद्ध है। किन्तु वह क्रियाशीलता ब्रह्म के अधीन है। इसलिए अतएव 'चोपमासूर्यकादिवत्।"[6] सूत्र के व्याख्यान में ब्रह्म से समानता और असमानता दोनों की

---

१. जयतीर्थ—"भानं ज्ञानम् अस्तित्वं सत्वम्। भा च सा च भासे आ सर्वकालवर्तिन्यौ भासे। आभासे परमात्माधीने आभासे यस्यासौ जीवः परमात्माभासः। तेन परमात्मना निमित्तेन आभासते प्रतीतो भवति इति प्रतीतौ तदधीनत्वमुच्यते।" न्यायसुधा, पृष्ठ ५०५.

२. "जीवोनित्य; धातुरस्य त्वनित्यः।" सनत्सुजातीय। मध्व द्वारा उद्धृत गीताभाष्य ५।१५.

३. जडत्वादिभिरपि नेत्यर्थः। न्यायसुधा, पृष्ठ ५०५.

४. मध्व—"स हि बिम्बक्रिययैव क्रियावान्। गीताभाष्य ३।१.

५. जयतीर्थ—"बिम्बाधीनक्रिययैव क्रियावान्।" उसी पर जयतीर्थ टीका।

६. ब्रह्म सूत्र ३।२।१८.

पाधि में पहले से है, या प्रतिबिम्ब पड़ने के बाद। यदि वह पहले से है तब प्रतिबिम्ब की आवश्यकता ही क्या है और यदि वह पहले नहीं है तब उपाधि पूर्ण नहीं होगी क्योंकि उसकी पूर्णता जीव की स्थिति पर ही सम्भव है। तथा प्रतिबिम्ब पड़ने के पूर्व जीव की सत्ता का अभाव मानना होगा। इसके उत्तर में मध्व-मत के विचारकों का कहना है कि प्रतिबिम्ब पद 'साम्य सूचना' के लिये कहा गया है।[1] स्वरूपोपाधि अपने स्वरूप की स्थिति अर्थात् ब्रह्म की समानता एवं अधीनता है। यही उपाधि है जो हमेशा जीव के साथ रहती है तथा उसके स्वरूप निर्धारण का आधार है। इसी उपाधि के कारण जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब बना रहता है। मध्व के अनुसार प्रतिबिम्ब दो प्रकार का है—सोपाधिक तथा निरुपाधिक।[2] निरुपाधिक प्रतिबिम्ब इन्द्रचाप के समान माना जाता है। सोपाधिक प्रतिबिम्ब जल में पड़ने वाले सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान है। इसमें उपाधि बिम्ब से भिन्न है इसलिए वह प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। जबकि अनुपाधिक में उपाधि प्रतिबिम्ब स्वरूप रहती है उसकी भिन्न कोई स्थिति नहीं। तथा इसमें बिम्ब और प्रतिबिम्ब का कोई सादृश्य नहीं रहता, यद्यपि वह बिम्ब से ही प्रतिबिम्बित है। जैसे इन्द्र-धनुष इस उदाहरण में जल कण इन्द्रधनुष से अभिन्न है। साथ ही यह इन्द्रधनुष सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुआ है फिर भी उनसे भिन्न है। जीव ईश का यही अनुपाधिक प्रतिबिम्ब है।[3] यह बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव आत्यन्तिक होना चाहिए, किन्तु कोई भी सम्बन्ध तब तक आत्यन्तिक नहीं होता, जब तक कि वह सम्बन्धियों की प्रकृति से सम्पृक्त न हो। इसीलिये मध्व दोनों की सत्ता को आत्यन्तिक मानते हैं। यहां बिम्ब-प्रतिबिम्ब का कथन लौकिक रूप में किया गया है, किन्तु उसे अलौकिक ही मानना चाहिये।

प्रतिबिम्ब के रूप में तो जीव को अद्वैत वेदान्ती भी स्वीकार करते हैं, किन्तु वहां माध्यम अविद्या है। मध्व उपाधि को जीव के स्वरूप में ही ग्रहण करते हैं। ब्रह्म-सूत्र के मध्व भाष्य पर टीका करते हुए जयतीर्थ ने[4] आभास पद के व्याख्यान में अपने मत की प्रतिबिम्ब सम्बन्धिनी दृष्टि स्पष्ट की है। वह आभास को केवल समानता सूचक मानते हैं। जयतीर्थ के जीव को आभास कहने के दो आधार हैं—(१)

१. जयतीर्थ—"क्वचिच्चेतनेऽपि छायाशब्दप्रयोगः प्रतिबिम्बसाम्याद्भवति।" न्याय-सुधा, पृष्ठ ६८.

२. मध्व—"सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेयते।
जीवेशस्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेरिति॥ ब्रह्म० सूत्र० भाष्य, पृ० ६३.

३. डा० के० नारायण—एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी, पृष्ठ, १४४.

४. जयतीर्थ—"ब्रह्माभासत्वादिति हेतोर्ब्रह्माधीनत्वात् तत्सदृशत्वाच्चेत्यर्थः।
न तु सूर्यकादिवत् प्रतिबिम्बत्वादिति।" न्यायसुधा पृष्ठ ५०५.

के परस्पर विरुद्धधर्माव्यवसाय स्पष्ट हैं।[1] परिणामतः जीव को ईश से भिन्न मानना होगा, तथा भिन्न होने पर जीव को ब्रह्म के अधीन ही ग्रहण करना मध्व को अपेक्षित है।

जीव को ईश्वर के चरणों में अनन्य आसक्ति रखनी चाहिए। ईश्वर के प्रति उसके मन में अनन्यत्व होना नितान्त आवश्यक है।[2] तभी वह मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। इसी तत्व को व्यक्त करने के लिये 'अंशांशिभाव' 'विम्वप्रतिविम्वभाव' आदि पदों का प्रयोग किया गया है।

शंकराचार्य द्वारा अनुमोदित एकमेव ब्रह्म की सत्ता के सम्मुख बन्ध का अस्तित्व है ही नहीं। मध्व का कथन है कि यदि बन्ध की सत्ता मिथ्या मानी भी जाय तो भी यह मिथ्यता किसी न किसी प्रमाण द्वारा ग्रहीत होगी। प्रमाण के ग्रहण करते ही एकमेव ब्रह्म के अतिरिक्त द्वैत की स्थिति स्वतः सिद्ध हो जावेगी। तथा दुःखत्व आदि प्रत्यक्ष सिद्ध है। ऐसी दशा में किसी प्रकार जीव का ब्रह्मत्व अर्थात् ब्रह्म के साथ अभेद प्रमाणित किया जा सकेगा।[3] अज्ञान के कारण वह ईशातिरिक्त वस्तु से बाध्य होता है। यह बाध्यता भ्रम है, अविद्याकृत है।[4] क्योंकि वह तो ईशाधीन ही है। मध्व के अनुसार जीव में कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व वास्तविक रूप हैं। यह सभी ईश्वराधीन है। वस्तुतः बुद्धि-इन्द्रिय आदि के विषय ईश्वर के अधीन हैं।[5] वह अपने बन्ध के सिद्धान्त को स्वभावाज्ञानवाद कहकर पुकारते हैं। स्वभावाज्ञानवाद की अनेकता व्युत्पत्तियां प्राप्य है। जीव का अपने भाव-धर्म-परतन्त्रतादिविषयक अज्ञान जिस वाद में माना जाय वह स्वभावाज्ञानवाद है। स्व अर्थात् अपना भाव जीव और उस पर आश्रित-आवरण-अज्ञान=स्वभावाज्ञान। स्व=स्वतन्त्र, भाव=तत्व अर्थात् परमात्मा, तद्विषयक अज्ञान, स्वभावभूत-अज्ञान अर्थात् अज्ञान जिसकी सत्ता मिथ्या नहीं है। जिसका भाव सत्तात्मक रूप में है। स्वभाव से, स्वतंत्रत्व की प्रतीति से, उत्पन्न अज्ञान।[6] इन सभी व्युत्पत्तियों के अर्थ से प्राप्त निष्कर्ष के रूप में ग्रहण

---

१. मध्व—"अज्ञतां चाल्पशक्तित्वंदुखित्वं स्वल्पकर्तृता।
सर्वज्ञत्वादीशगुणविरुद्धा ह्यनुभूतिगः॥" उपाधिखण्डन, पृ० ६.

२. वही—"कुरु भुंक्ष्व च कर्मनिजं नियतं हरिपाद विनम्रधिया सततम्।
हरिरेव परो हरिरेवगुरु हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः॥ ३।१ द्वादशस्तोत्रम्।

३. सत्यत्वात् तेन दुःखादेः प्रत्यक्षेण विरोधतः।
न ब्रह्मत्वं वदेत् वेदो जीवस्य हि कथंचन॥

४. "तस्य परायत्तत्वाभासो अविद्या निमित्तको भ्रमः। न्या० सु०, पृ० २६.

५. "बुद्धीन्द्रियशरीरविषयाः स्वरूपसन्त एव ईश्वरवशा अपि अविद्यादिवशात्।

६. जयतीर्थ—"तथा स्वयमेव भवत्यस्तीति स्वभावो नाज्ञानकल्पित इति भावः।

(क्रमशः)

ओर संकेत किया गया है। ब्रह्म के प्रति जीव की अधीनता का सम्बन्ध स्वाभाविक है आकस्मिक नही। उपाधि के द्वारा इसकी निर्मिति नही हुई। यदि उपाधि के द्वारा इसकी निर्मिति हुई होती तो जीव की सत्ता सार्वकालिक नहीं रह सकती थी। क्योंकि उपाधि नष्ट होते ही जीव की सत्ता भी न रह पाती। वेदान्त मे जीव तथा ब्रह्म दोनो को ही सत्य माना है अतः उपाधि की शंकरसम्मत मान्यता असंभव है।[1]

जीव मे ज्ञान मुक्ति के पहले भी है किन्तु ईश्वर की कृपा से, अविद्या से तिरोहित स्थिति न रहकर, वह आनन्दानुभव प्राप्त करता है। अभिव्यक्ति के पूर्व वह आनन्द का अनुभव नही कर पाता।[2] इस प्रकार अपनी चरम एव परमस्थिति को पाने के लिए भी वह ईशाधीन है। इसी के परिणामस्वरूप उसे अल्पशक्तियुक्त एवं सदोष माना गया है।[3] इस प्रकार जीव की कुछ सीमाएँ बाह्य है कुछ आन्तरिक। बाह्य सीमाओ का तो निराकरण भी किया जा सकता है, किन्तु आन्तरिक सीमाएँ पृथक नही की जा सकती। सीमाओ के कारण ही जीव पराधीनता को अनुभूत नही कर पाता, जबकि पराधीनता उसकी महत्वपूर्ण स्वरूपाधायक विशेषता है। बन्ध एव मोक्ष दोनो ही अवस्था मे जीव की पराधीनता ईश्वर के प्रति है। उसे जो स्वातन्त्र्य की प्रतीति होती है वह बुद्धि-कृत मोह के कारण है।[4] अद्वैत के समान मध्व यह नही मनाते कि मुक्त हो जाने पर केवल अखण्ड तुरीयावस्थागत तत्व ही स्थित रहता है जीव की कोई स्थिति ही नही है। इसीलिए मुक्तावस्था मे भी जीव को ईश के ही अधीन रहना पड़ता है। अज्ञानावस्था मे ईश तत्व ही ज्ञान देने वाला है। तथा ज्ञानी को वही मुक्त करता है। वही जनार्दन मुक्तो को आनन्द प्रदान करता है।[5] अतः ईश तत्व मुक्तावस्था मे आनन्दप्रद है। ईश सर्वज्ञ है। जीव अल्पज्ञ है। इस प्रकार

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव मध्वाचार्य, पृष्ठ २२१.

२. जयतीर्थ—'एवं जीवस्वरूपत्वेन मुक्तेः पूर्वमपि सतो ज्ञानानन्देन ईश्वरप्रसादे; नाभिव्यक्तिनिमित्तेन आनन्दोभवति, प्रागनभिव्यक्तत्वेन अनुभवाभाव-प्रसगात्।" तत्वप्रकाशिका, पृ० १२०

३. मध्व—"पराधीनश्च बद्धश्च स्वल्पज्ञानसुखेहितः।
अल्पशक्तिः सदोषश्च जीवात्मा······॥" भागवत ता० नि० २.४.

४. वही—"विष्णोरधीन प्राक्सृष्टेस्तथैव लयादनु।
अस्य सत्त्वप्रवृत्त्यादि विशेषेणाधिगम्यते॥
स्वातन्त्र्य स्थितिकाले तु कथचित् बुद्धिमोहतः।
प्रतीयमानमपितु तस्मान्नैवेति गम्यते॥ भाग० तात्प० २।१८.

५. वही—"अज्ञाना ज्ञानदो विष्णुर्ज्ञानिना मोक्षदश्च सः।
आनन्दश्च मुक्तानां स एवैको जनार्दनः॥" अनु० व्या०, पृ० ३५.

किया जा सकता है कि मध्व मत में अज्ञान की सत्ता को मिथ्या नहीं माना है। 'परमात्म-तत्व के अधीन जीव की स्थिति है' यह स्वरूप विषयक ज्ञान का अभाव ही स्वभावाज्ञान है। जीव स्वय-प्रकाश होने के बाद भी अज्ञान का विषय है। मध्व ब्रह्माज्ञानवाद के विरोधी है, न कि अज्ञान की सत्ता मात्र के। वह जीवाज्ञानवाद को मानते हैं। जीवाज्ञानवाद को निर्दुष्ट मानकर उसका ग्रहण इस मत में किया गया।[1]

प्रत्येक महा प्रलय के उपरान्त ईश्वर जीव को उसकी वासना और कर्म की पूर्ति के लिये सामने लाते हैं। ईश्वर का यह कार्य अपने किसी निमित्त के लिये न होकर निर्नैमितिक है। अतः सृष्टि जीव के कर्मभोग का अनिवार्य माध्यम है। इस में से होकर वह अपनी श्रेयस्करी अवस्था को प्राप्त करता है। जीव का वास्तविक स्वरूप सुखात्मक है। अनादित्व, नित्यसत्व, ज्ञानरूपता।[2] बल-आनन्द-ओज आदि उसके स्वरूप धर्म है।[3] अतः बन्ध जीव का स्वरूप नही है। किन्तु यह बन्ध अनादि-कालीन है। जीव के ईश्वराधीन होने के कारण बन्ध भी तदधीन है। जीव का मोक्ष भी इसी तत्व के अधीन है।[4] यह ईश्वर की माया के द्वारा होता है। पराधीनता के कारण ही जीव अल्पशक्ति वाला एव सदोष है।[5] इस प्रकार जीव मर्यादित है। इन सीमाओ को अनेक भागों में विभाजित किया गया है। लिंगशरीर,

स्वश्चासौ भावश्चेति स्वभावो जीवः तदाश्रित तदावरण चाज्ञानमिति वादः स्वभावाज्ञानवादः। स्वः स्वतन्त्रो भावः परमात्मा। स्वस्य भावो धर्मः पारतन्त्र्यादिर्वा स्वभावः। तद्विषयमज्ञान जीवस्य इतिवादः। तथा स्वभावेन स्वतन्त्रेण अज्ञान जीवस्य इतिवादः।" न्यायसुधा, पृष्ठ ६४.

१. मध्व—"स्वभावाज्ञानवादस्य निर्दोषत्वान्न तद्भवेत्। अनुव्याख्यान, पृष्ठ २
२. वादिराजतीर्थ—"सुखरूपाश्च ते सर्वे ज्ञानरूपाश्च सर्वदा।
अनादिनित्याससत्याश्च चिद्रूपावयवा यतः॥"
युक्तिमल्लिका, पृष्ठ २६.
३. मध्व—"बलमानन्दमोजश्च सहो ज्ञानमनाकुलम्।"
स्वरूपाण्येव जीवस्य..........॥ ब्रह्मसूत्र भाष्य २।३।२१.
४. वही—"पराभिध्यानात्तु तनो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ। ३।२।५;
"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनच।" गीता १५।१५.
५. वही—"पराधीनश्च बद्धश्च स्वल्पज्ञानसुखेहितः।"
अल्पशक्तिः सदोषश्च जीवात्मा..........॥" भागवत ता० २।४.

है ।[1] व्यक्ति मुक्त होने की इच्छा से जिज्ञासा करता है । जिज्ञासा के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले ज्ञान से, जो ईश्वर की कृपा के कारण ही है, मोक्ष होता है ।[2] अतः ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है । ईश्वर की उक्त कृपा भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है । श्रेष्ठ भक्ति ही ईश्वर को प्रेरित करने में समर्थ है । वस्तुतः इस प्रकार भक्ति ज्ञान का ही भाग होने के कारण उसे ज्ञान भी कहा जाता है । और ज्ञान की विशेष स्थिति भक्ति के रूप में ग्रहीत है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तुएं ज्ञानगम्य होती हैं वैसे ही स्नेह का योग अर्थात् भक्ति भी ज्ञानगम्य हैं । इसीलिए प्रायः श्रुतियों में मुक्ति को ज्ञानगम्य माना है । भक्ति ज्ञान से भिन्न नहीं है ।[3] ईश्वर की परमाच्छादिका शक्ति का निराकरण ईश्वर के द्वारा ही होता है । अविद्या के दूर हो जाने के बाद भी पूर्णानन्द तथा बिम्बत्वेन प्रतीति, बिना भगवत्कृपा के, सम्भव नहीं । भक्ति ही मुक्ति का एकमेव आधार है । भक्ति ईश्वर की महत्ता के ज्ञान के साथ उत्पन्न होने वाला स्नेह ही है ।[4] भक्तिप्राप्ति के पूर्व जीव अन्धकार में भटकता रहता है ।[5] भक्ति ज्ञान के पहले एवं उपरान्त भी रहती है । इसलिए मध्व की दृष्टि में ज्ञान से भक्ति अधिक उपादेय है । मोक्ष प्राप्ति के क्रम में, भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है । तथा ज्ञान से भक्ति, भक्ति से शुद्ध-दृष्टि तथा उस दृष्टि से भी भक्ति, भक्ति के द्वारा मुक्ति एवं उससे भी सुखरूपिणी भक्ति ही प्राप्त होती है ।[6]

---

१. मध्व—"......इत्यादेर्न हरिं विना ।
  ज्ञानस्वभावतोऽपि स्यान्मुक्तिः कस्यापि हि क्वचित् ।"
  अनुव्याख्यान, पृष्ठ १०.

२. वही—"जिज्ञासोत्थज्ञानजात् तत्प्रसादादेवमुच्यते ।" अनु०, पृष्ठ १.

३. वही—"ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात् भक्तिर्ज्ञानमितीर्यते ।
  ज्ञानस्यैव विशेषो यद्भक्तिरित्यभिधीयते ।।
  परोक्षत्वादपरोक्षत्वे विशेषो ज्ञानगो यथा ।
  स्नेहयोगोऽपि तद्वत् स्याद्विशेषो ज्ञानगो यतः ।।
  इत्यभिप्रायतः प्रायो ज्ञानमेव विमुक्तये ।
  वदन्ति श्रुतयः सोऽयं विशेषोऽपि ह्युदीर्यते ।" पृष्ठ ५०

४. वही—"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
  स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।।
  म० भा० नि०, १।८६.

इसीलिए उसे ईश्वराधीन माना है।[1] ईश्वर की अचिन्त्य-भूतशक्ति के कारण ही माया, अविद्या अथवा प्रकृति जीव के ज्ञानात्मक स्वरूप को आच्छादित करती है। यदि यह वाह्यतः सत्तावान् है तो ज्ञान के अंश को किस तरह आवृत करती है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि प्रकृति स्वतः जड एवं अस्वतन्त्र है, अतः आवर्तक होने के बाद भी ईश्वर की इच्छा का होना आवश्यक है। आत्मा के बन्ध को मध्व ने प्रकृति की शक्ति माना है। इसका समर्थन अनेक श्रुतिवाक्यों[2] से होता है।

मध्व का बन्ध-सम्बन्धी उक्त सिद्धान्त पर्याप्त यथार्थवादी है। वह जीव का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों को ही वस्तुतः सत्तात्मक मानता है। यद्यपि वह ईश्वराधीन है। जीव की क्षमताएं ईश्वर से ही निकली हैं, किन्तु इस सत्य-ज्ञान की अपेक्षा, जीव अज्ञान के कारण, उनको स्वयं से निभृत मानता है, यही अविद्या है, तथा वह वास्तव है। मध्व का बन्धविषयक निष्कर्ष है कि अज्ञान जीव को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित नहीं होने देता। वरन स्वप्रकाशी तत्व के स्वरूप के कुछ भाग को छिपाये रखता है। जीव सविशेष एवं अस्वतन्त्र है। इसीलिए 'दुर्घटत्वमविद्याया' जैसी स्थिति द्वैत-मत में उपस्थित नहीं होती, जैसी कि अद्वैत मत में है। जीव की ब्रह्म से भिन्नता का कारण 'विशेष' है। विभिन्न वस्तुओं की भिन्नात्मक सत्ता इसी 'विशेष' के कारण है।

ईश्वर जीव का ठीक वैसे ही कारण है, जैसा कि पिता पुत्र के प्रति कारण है।[3] अतः मध्व का अंशांशिभाव का अभिप्राय पिता-पुत्र के समान कारण-कार्य की प्रतीति करा देना है। जीव की स्वरूपोपाधि-कल्पना से उक्त स्वरूप तो निश्चित होता ही है, साथ ही कई सिद्धान्तों की रक्षा होती है। बहुजीववाद का समाधान भी इसी से होता है। इसी के द्वारा उन श्रुति-वाक्यों का भी समाधान हो सकता है, तथा उनको ईश्वरपरक माना जा सकता है, जो उसे सर्वश्रुत आप्त-काम आदि प्रतिपादित करते हैं, निरंकुश ब्रह्म नहीं। भेद की सत्यता का भी यही आधार है।

मध्व ने बन्ध को सत्य माना है किन्तु बाध्यता कालापेक्षी होती है। जो वस्तु कुछ समय तक रहे उसका बाधित होना उसकी त्रैकालिक सत्ता का निषेध नहीं करता, क्योंकि थोड़े समय रहने वाली वस्तु, अधिक समय तक रहने वाली वस्तु से, कम सत्य नहीं है।

जीव का ज्ञानस्वभाव होने पर भी उसका मोक्ष बिना ईश्वर के सम्भव नहीं

---

१. मध्व—"बन्धोऽपि तत एव स्यात्तस्मादेव ततो. प्रभुः।" भा० ता० २।७४.
२. गीता ७।१४, श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१६, ब्रह्मसूत्र ३।२।५.
३. मध्व—'मान् रक्षतु विमुनित्य पुत्रोऽहं परमात्मनः। ब्रह्मसूत्र भा० १।१।३.

है ।[1] व्यक्ति मुक्त होने की इच्छा से जिज्ञासा करता है । जिज्ञासा के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले ज्ञान से, जो ईश्वर की कृपा के कारण ही है, मोक्ष होता है ।[2] अतः ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है । ईश्वर की उक्त कृपा भक्ति के द्वारा ही प्राप्य है । श्रेष्ठ भक्ति ही ईश्वर को प्रेरित करने में समर्थ है । वस्तुतः इस प्रकार भक्ति ज्ञान का ही भाग होने के कारण उसे ज्ञान भी कहा जाता है । और ज्ञान की विशेष स्थिति भक्ति के रूप में ग्रहीत है । जिस प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वस्तुएं ज्ञानगम्य होती हैं वैसे ही स्नेह का योग अर्थात् भक्ति भी ज्ञानगम्य हैं । इसीलिए प्रायः श्रुतियों में मुक्ति को ज्ञानगम्य माना है । भक्ति ज्ञान से भिन्न नहीं है ।[3] ईश्वर की परमाच्छादिका शक्ति का निराकरण ईश्वर के द्वारा ही होता है । अविद्या के दूर हो जाने के बाद भी पूर्णानन्द तथा बिम्बत्वेन प्रतीति, बिना भगवत्कृपा के, सम्भव नहीं । भक्ति ही मुक्ति का एकमेव आधार है । भक्ति ईश्वर की महत्ता के ज्ञान के साथ उत्पन्न होने वाला स्नेह ही है ।[4] भक्तिप्राप्ति के पूर्व जीव अन्धकार में भटकता रहता है ।[5] भक्ति ज्ञान के पहले एवं उपरान्त भी रहती है । इसलिए मध्व की दृष्टि में ज्ञान से भक्ति अधिक उपादेय है । मोक्ष प्राप्ति के क्रम में, भक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है । तथा ज्ञान से भक्ति, भक्ति से शुद्ध-दृष्टि तथा उस दृष्टि से भी भक्ति, भक्ति के द्वारा मुक्ति एवं उससे भी सुखरूपिणी भक्ति ही प्राप्त होती है ।[6]

---

१. मध्व—"......इत्यादेर्न हरिं विना ।
ज्ञानस्वभावतोऽपि स्यान्मुक्तिः कस्यापि हि क्वचित् ।"
अनुव्याख्यान, पृष्ठ १०.

२. वही—"जिज्ञासोत्थज्ञानजात् तत्प्रसादादेवमुच्यते ।" अनु०, पृष्ठ १.

३. वही—"ज्ञानस्य भक्तिभागत्वात् भक्तिर्ज्ञानमितीर्यते ।
ज्ञानस्यैव विशेषो यद्भक्तिरित्यभिधीयते ।।
परोक्षत्वादपरोक्षत्वे विशेषौ ज्ञानगौ यथा ।
स्नेहयोगोऽपि तद्वत् स्याद्विशेषो ज्ञानगो यतः ।।
इत्यभिप्रायतः प्रायो ज्ञानमेव विमुक्तये ।
वदन्ति श्रुतयः सोऽयं विशेषोऽपि ह्युदीर्यते ।" पृष्ठ ५०

४. वही—"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ।।
म० भा० नि०, १।२६.

इसीलिए उसे ईश्वराधीन माना है।[1] ईश्वर की अचिन्त्य-भूतशक्ति के कारण ही माया, अविद्या अथवा प्रकृति जीव के ज्ञानात्मक स्वरूप को आच्छादित करती है। यदि यह वाह्यतः सत्तावान् है तो ज्ञान के अश को किस तरह आवृत करती है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि प्रकृति स्वतः जड एव अस्वतन्त्र है, अतः आवर्तक होने के बाद भी ईश्वर की इच्छा का होना आवश्यक है। आत्मा के बन्ध को मध्व ने प्रकृति की शक्ति माना है। इसका समर्थन अनेक श्रुतिवाक्यों[2] से होता है।

मध्व का बन्ध-सम्बन्धी उक्त सिद्धान्त पर्याप्त यथार्थवादी है। वह जीव का कर्तृत्व एव भोक्तृत्व दोनो को ही वस्तुतः सत्तात्मक मानता है। यद्यपि वह ईश्वराधीन है। जीव की क्षमताए ईश्वर से ही निकली हैं, किन्तु इस सत्य-ज्ञान की अपेक्षा, जीव अज्ञान के कारण, उनको स्वय से निसृत मानता है, यही अविद्या है, तथा वह वास्तव है। मध्व का बन्धविषयक निष्कर्ष है कि अज्ञान जीव को अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित नही होने देता। उस स्वप्रकाशी तत्व के स्वरूप के कुछ भाग को छिपाये रखता है। जीव सविशेष एव अस्वतन्त्र है। इसीलिए 'दुर्घटत्वमविद्याया.' जैसी स्थिति द्वैत-मत मे उपस्थित नही होती, जैसी कि अद्वैत मत मे है। जीव की ब्रह्म से भिन्नता का कारण 'विशेष' है। विभिन्न वस्तुओ की भिन्नात्मक सत्ता इसी 'विशेष' के कारण है।

ईश्वर जीव का ठीक वैसे ही कारण है, जैसा कि पिता पुत्र के प्रति कारण है।[3] अतः मध्व का अंशांशिभाव का अभिप्राय पिता-पुत्र के समान कारण-कार्य की प्रतीति करा देना है। जीव की स्वरूपोपाधि-कल्पना से उक्त स्वरूप तो निश्चित होता ही है, साथ ही कई सिद्धान्तों की रक्षा होती है। बहुजीववाद का समाधान भी इसी से होता है। इसी के द्वारा उन श्रुति-वाक्यो का भी समाधान हो सकता है, तथा उनको ईश्वरपरक माना जा सकता है, जो उसे सर्वश्रुत आप्त-काम आदि प्रतिपादित करते हैं, निरकुश ब्रह्म नही। भेद की सत्यता का भी यही आधार है।

मध्व ने बन्ध को सत्य माना है किन्तु बाध्यता कालापेक्षी होती है। जो वस्तु कुछ समय तक रहे उसका बाधित होना उसकी त्रैकालिक सत्ता का निषेध नही करता, क्योंकि थोडे समय रहने वाली वस्तु, अधिक समय तक रहने वाली वस्तु से, कम सत्य नही है।

जीव का ज्ञानस्वभाव होने पर भी उसका मोक्ष बिना ईश्वर के सम्भव नहीं

---

१. मध्व—"बन्धोऽपि तत एव स्यात्तस्मादेव तयोः प्रभु ।" भा० ता० २।७४.

२. गीता ७।१४, श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१६, ब्रह्मसूत्र ३।२।५.

३. मध्व—"माम् रक्षतु त्रिगुणित्य पुत्रोऽहं परमात्मनः। ब्रह्मसूत्र भा० १।१।३.

यह कर्म का बन्ध अनादि है किन्तु मध्व ने स्वीकार किया है कि बन्ध ईश्वराधीन है। जीव को जब कभी इस बन्ध ने आवृत किया होगा तब ईश्वरेच्छा ही रही होगी। उस आवरण के पूर्व, अर्थात् ईश की जीवबंधेच्छा के पूर्व, जीव की स्थिति क्या थी ? क्या वह स्थिति मोक्ष के समानान्तर थी अथवा हीन थी ? यदि समानान्तर थी तो फिर इस सम्पूर्ण प्रपंच की क्या आवश्यकता ? यदि हीन थी, तो यह हीनता किस रूप में थी ? मध्व अथवा उसके सम्प्रदाय के आचार्यों में से किसी ने भी इस तथ्य का स्पष्ट समाधान नहीं किया है। इस प्रकार की शंका मध्व की जीव एवं अज्ञान-सम्बन्धी मान्यता तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित है।

मध्व के उक्त-विवेचन से, जीवात्माओं के भेद, स्वरूप एवं सत्ता के प्रति, वेदान्त-परम्परा के यथार्थवादी दृष्टिकोण का बोध होता है। प्रत्यक्षानुभव की प्रामाणिकता के आधार पर 'जीव' के इस स्वरूप को मध्व ने ग्रहण किया है।

भक्ति इतना महत्वपूर्ण साधन है कि वह इस क्रम के प्रारम्भ से लेकर अंत तक है। मुक्ति के उपरान्त भी भक्ति की अव्याहत स्थिति को इस मत ने माना है। मध्व के अनुसार वही साधन है तथा साध्य भी है। हरि की उपासना साधन और सिद्धि दोनों रूपों में स्थित है।[1] जीव का ईश्वर से सम्बन्ध न उत्पाद्य है न विनाश्य, वह तो स्वरूप ही है। अपने स्वरूप में अवस्था ही मुक्तावस्था है।

साधनाध्याय के 'अम्बुवद्ग्रहणम्' के व्याख्यान में मध्व ने स्पष्ट किया कि ईश्वर और जीव के सादृश्य के नित्यसिद्ध होने के कारण आनन्द और ज्ञान का जीव में भी होना नित्य ही है फिर भक्ति और ज्ञान आदि साधनों की आवश्यकता क्या है? इसके लिए ही 'अम्बुवद्ग्रहणम्' कहा गया। अम्बुवद् का अभिप्राय है स्नेह से तथा ग्रहणम् का अर्थ है ज्ञान अर्थात् स्नेहपूर्वक ज्ञान। अतः इस सूत्र से स्पष्ट हो गया कि भक्ति के बिना वह सादृश्य नित्य होने पर भी अभिव्यक्त नहीं होता। अभिव्यक्ति के लिये भक्ति आवश्यक है[2] भक्ति इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक है। वही सभी कुछ है।

विष्णुरहस्य के अनुसार[3] मध्व का जीव-सिद्धान्त है कि "अनन्त नित्य जीव अनादि कर्म से आबद्ध हैं। सभी लिंगदेह तथा स्थूलशरीर से संयुक्त हैं। यदि वे इसमें संयुक्त न होते तो वे कर्म कैसे सम्पादित करते। विष्णु की भक्ति से युक्त कैसे होते तथा विष्णु-भक्ति के अभाव में मोक्ष को कैसे प्राप्त करते?"

विष्णुरहस्य का उक्त उद्धरण पर्याप्त अपूर्ण एवं तर्क विरुद्ध है। जीव का प्राथमिक स्वरूप क्या है? इसका उत्तर यदि उक्त संदर्भ के द्वारा प्राप्त किया जावे तो स्पष्ट होगा कि जीव अनादि कर्म से बद्ध है। लिंग देह से युक्त है। इससे मुक्त होने के लिए विष्णुभक्ति आवश्यक है। विष्णुभक्ति के बिना स्थूल शरीर कैसे हो?

---

१. मध्व—"हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी।
न तु साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः॥ ब्र० सू० भा० ४।४।२१.

२. वही—'नित्यसिद्धत्वात्सादृश्यस्य नित्यानन्दज्ञानादिः न भक्तिज्ञानादिना प्रयोजन-मित्यतो ब्रवीति-अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम्। अम्बुवत् स्नेहेन, ग्रहणम् ज्ञानम्। भक्ति बिना न तत्सादृश्यं सम्यगभिव्यज्यते।"
ब्र० सू० भा० ३।२।१०.

३. "अनादिकर्मणा बद्धा जीवा नित्यं ह्यनन्तशः।
लिंगदेहयुताः सर्वे पतिता मूर्च्छिता इव॥
यदि ते स्थूलदेहेन युता न स्युरिमेऽखिलाः॥
कथं कर्माणि कुर्वरन् विष्णुभक्तिपरायणाः।
अकुर्वन्तमनस्ते वा कथं मोक्षमवाप्नुयुः॥"
विष्णुरहस्य, अध्याय ५.

के इन द्वन्द्वों में से किसी की भी स्थिति हो सकती है।[1] इसमें अव्याकृततत्व का ही बोध होता है। सत् तत्व भी आप, अग्नि आदि के रूप में अनेक प्रकार का हो सकता है, किन्तु ऋग्वेद के ऋषि ने इसे भी एक ही तत्व माना। भिन्नता केवल नाम निर्देश-मात्र के लिए है।[2]

दर्शन के अब तक के विकास ने केवल असत् रूप न मानकर दृश्य जगत् के मूल कारण को अस्ति-रूप में ही माना। तथा उसे सत् भी ग्रहण किया गया। न्याय-वैशेषिक में भी इसी को अन्त तक सुरक्षित रखा गया है।[3]

सांख्य की 'जगत्'-सम्बन्धिनी दृष्टि में इन्द्रियानुभव की अपेक्षा, सुख, दुःख एवं मोह में अनुभव के कारण एवं अनुभव-कर्त्री बुद्धि की संवेदना को आधार बनाकर, स्थूल जगत् से बुद्धि तक, सम्पूर्ण पदार्थों को सुख, दुःख मोह-स्वभाववान् अनुभूत किया गया। इसके उपरांत स्वानुभूत सुख-दुःख मोहात्मक, सामान्य-तत्व के आधार पर उस मूल-कारण के स्वरूप का निश्चय किया। सुख, दुःख मोह जो सर्व-वस्तु में समान रूप से विद्यमान हैं उसके नियामक अंश का ग्रहण अवश्य होना चाहिए। परिणामतः सत्व, रज एवं तम इन तीन गुणों की, अविभाज्य घटक के रूप में स्थित होने के कारण अवयवी प्रकृति की सत्ता ग्रहण की। गुणों के कार्य परस्पर भिन्न होने पर भी सह-कारपूर्वक प्रवृत्ति-शील हैं। इस प्रकृति का कोई कारण नहीं है। कारण के अनुसंधान में कहीं पर तो रुकना ही होगा, अनवस्था-प्रसंग उपस्थित होगा। यह मूल कारण होने से सर्वव्यापी है। काल के द्वारा भी अनवच्छिन्न है। वह सत्व-प्रधान बुद्धि का आश्रय पाकर सुख-दुःख का अनुभव करता है। गुणों की प्रधानता से विषय के रूप में ग्राह्य भी वही तत्व हैं। उक्त विवेचन सांख्य मत को दृष्टि में रखकर किया गया है। प्रकृति से ही ज्ञाता, भोक्ता का ज्ञान और भोग्यपदार्थ आदि की सृष्टि होती है। वह स्वतंत्र है किसी का आधिपत्य उस पर नहीं है।

न्याय वैशेषिक तत्व चिन्तन में दृश्य स्थूल-भूतों के कारणों को भी सूक्ष्म एवं तत्तद् गुणों से युक्त ग्रहण किया गया है। कार्य के कारणभूत तत्व भी उसी जाति के होने चाहिए। सूक्ष्म महाभूत परमाणु रूप हैं। परमाणुओं के संयोग से स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम की सृष्टि हुई। ये परमाणु सत् हैं। इनका कोई अन्य कारण नहीं है। कार्य के द्वारा ही कारण स्थिति का बोध होता है।[4] सांख्यादि परिणाम-

---

१. "नासदीय सूक्त १०।१२६.

२. "ऋग्वेद, १।१६४।४६.

३. "प्रशस्तपादभाष्य-साधर्म्य वैधर्म्यप्रकरण।" न्यायसूत्र ४।१।१४.

४. "सदकारणवन्नित्यं। तस्य कार्यं लिंगम्। कारणाभावात् कार्याभावः।" वैशेषिक दर्शन ३।३।१-३.

सप्तम अध्याय

जगत् तत्व

सामान्यतः 'जगत्' पद का अर्थ, चेतन एवं अचेतन दोनों ही, भाव-पदार्थ है। किन्तु मध्व की पदार्थमीमांसा के अनुरोध के कारण जीवेश्वर-भिन्न तत्व 'जड' पदार्थ ही 'जगत्' पद का अभिधेय है। भारतीय-दर्शन में जगत्-सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से उपलभ्य है। किन्तु प्राचीनता एवं आचार्यों की विविधता के कारण अनेक प्रकार की दृष्टियाँ इस व्याख्यान के संदर्भ मे प्राप्य हैं।

जगत् के मूल कारण के अन्वेषण मे द्विविध प्रवृत्ति प्राप्त होती है। एक वर्ग उसके कारण के रूप मे एक ही तत्व की स्थिति स्वीकार करता है। दूसरे वर्ग ने अनेक तत्वों को, कारण के रूप में, अभिहित किया है। पहले वर्ग के विचारक उपनिषद् एवं उसके अनुवर्ती मत हैं। दूसरे के अनुकरणकर्ता चार्वाक, जैन बौद्धादि विचारक सम्प्रदाय हैं।

उपनिषद् के ऋषिगणों ने अनुभव किया कि जो भी दृश्यमान भौतिक तत्व हैं, वे सभी नष्ट होते हैं। जो वस्तु कार्यरूप होती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिये। दृश्य जगत् के अस्ति-रूप को ग्रहण करके उसके कारण को कुछ आचार्यों ने अस्ति-रूप माना। अन्यों ने उस असत् दृश्य रूप को देखकर असत्कारण की भी कल्पना की है। इस मत के अनेक उद्धरण प्राप्त हैं।[1]

किन्तु इन विचारकों मे कुछ ऐसे भी चिन्तक रहे होंगे जो समन्वय का मार्ग खोजने मे भी प्रवृत्त थे। उन विचारकों के अनुसार असत् ही पहले था। उससे सत् हुआ तदनन्तर क्रम आगे बढ़ा।[2] नासदीय-सूक्त के ऋषि को इन दोनों एकान्तों का निषेध करना पड़ा। कारण के अव्यक्त होने से, अज्ञात होने से, उस कारण के स्वरूप

---

१. "असद्वा इदमग्रमासीत्।" तैत्तिरीयोपनिषद् २।७.
"नैवेह किंचन अग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।"
बृहदारण्यकोपनिषद्। १।२।१.

२. "असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्ड निरवर्तत।"
छान्दोग्योपनिषद् ३।१९।१.

के इन द्वन्द्वों में से किसी की भी स्थिति हो सकती है।[1] इसमें अव्याकृततत्व का ही बोध होता है। सत् तत्व भी आप, अग्नि आदि के रूप में अनेक प्रकार का हो सकता है, किन्तु ऋग्वेद के ऋषि ने इसे भी एक ही तत्व माना। भिन्नता केवल नाम निर्देश-मात्र के लिए है।[2]

दर्शन के अब तक के विकास ने केवल असत् रूप न मानकर दृश्य जगत् के मूल कारण को अस्ति-रूप में ही माना। तथा उसे सत् भी ग्रहण किया गया। न्याय-वैशेषिक में भी इसी को अन्त तक सुरक्षित रखा गया है।[3]

सांख्य की 'जगत्'-सम्बन्धिनी दृष्टि में इन्द्रियानुभव की अपेक्षा, सुख, दुःख एवं मोह में अनुभव के कारण एवं अनुभव-कर्त्री बुद्धि की संवेदना को आधार बनाकर, स्थूल जगत् से बुद्धि तक, सम्पूर्ण पदार्थों को सुख, दुःख मोह-स्वभाववान् अनुभूत किया गया। इसके उपरांत स्वानुभूत सुख-दुःख मोहात्मक, सामान्य-तत्व के आधार पर उस मूल-कारण के स्वरूप का निश्चय किया। सुख, दुःख मोह जो सर्व-वस्तु में समान रूप से विद्यमान हैं उसके नियामक अंश का ग्रहण अवश्य होना चाहिए। परिणामतः सत, रज एवं तम इन तीन गुणों की, अविभाज्य घटक के रूप में स्थित होने के कारण अवयवी प्रकृति की सत्ता ग्रहण की। गुणों के कार्य परस्पर भिन्न होने पर भी सह-कारपूर्वक प्रवृत्ति-शील हैं। इस प्रकृति का कोई कारण नहीं है। कारण के अनुसंधान में कहीं पर तो रुकना ही होगा, अनवस्था प्रसंग उपस्थित होगा। यह मूल कारण होने से सर्वव्यापी है। काल के द्वारा भी अनवच्छिन्न है। वह सत्व-प्रधान बुद्धि का आश्रय पाकर सुख-दुःख का अनुभव करता है। गुणों की प्रधानता से विषय के रूप में ग्राह्य भी वही तत्व हैं। उक्त विवेचन सांख्य मत को दृष्टि में रखकर किया गया है। प्रकृति से ही ज्ञाता, भोक्ता का ज्ञान और भोग्यपदार्थ आदि की सृष्टि होती है। वह स्वतंत्र है किसी का आधिपत्य उस पर नहीं है।

न्याय वैशेषिक तत्व चिन्तन में दृश्य स्थूल-भूतों के कारणों को भी सूक्ष्म एवं तत्तद् गुणों से युक्त ग्रहण किया गया है। कार्य के कारणभूत तत्व भी उसी जाति के होने चाहिए। सूक्ष्म महाभूत परमाणु रूप हैं। परमाणुओं के संयोग से स्थूल, स्थूलतर एवं स्थूलतम की सृष्टि हुई। ये परमाणु सत् हैं। इनका कोई अन्य कारण नहीं है। कार्य के द्वारा ही कारण स्थिति का बोध होता है।[4] सांख्यादि परिणाम-

---

१. "नासदीय सूक्त १०।१२९.

२. "ऋग्वेद, १।१६४।४६.

३. "प्रशस्तपादभाष्य-साधर्म्य वैधर्म्यप्रकरण।" न्यायसूत्र ४।१।१४.

४. "सदकारणवन्नित्यं। तस्य कार्यं लिंगम्। कारणाभावात् कार्याभावः।" वैशेषिक दर्शन ३।३।१-२.

सप्तम अध्याय

जगत् तत्व

सामान्यतः 'जगत्' पद का अर्थ, चेतन एवं अचेतन दोनों ही, भाव-पदार्थ है। किन्तु मध्व की पदार्थमीमांसा के अनुरोध के कारण जीवेश्वर-भिन्न तत्व 'जड़' पदार्थ ही 'जगत्' पद का अभिधेय है। भारतीय-दर्शन में जगत्-सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त प्राचीन काल से उपलभ्य है। किन्तु प्राचीनता एवं आचार्यों की विविधता के कारण अनेक प्रकार की दृष्टियां इस व्याख्यान के संदर्भ में प्राप्य हैं।

जगत् के मूल कारण के अन्वेषण में द्विविध प्रवृत्ति प्राप्त होती है। एक वर्ग उसके कारण के रूप में एक ही तत्व की स्थिति स्वीकार करता है। दूसरे वर्ग ने अनेक तत्वों को, कारण के रूप में, अभिहित किया है। पहले वर्ग के विचारक उपनिषद् एवं उसके अनुवर्ती मत हैं। दूसरे के अनुकरणकर्ता चार्वाक, जैन बौद्धादि विचारक सम्प्रदाय हैं।

उपनिषद् के ऋषिगणों ने अनुभव किया कि जो भी दृश्यमान भौतिक तत्व हैं, वे सभी नष्ट होते हैं। जो वस्तु कार्यरूप होती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य ही होना चाहिये। दृश्य जगत् के अस्ति-रूप को ग्रहण करके उसके कारण को कुछ आचार्यों ने अस्ति-रूप माना। अन्यों ने उस असत् दृश्य रूप को देखकर असत्कारण की भी कल्पना की है। इस मत के अनेक उद्धरण प्राप्त हैं।[1]

किन्तु इन विचारकों में कुछ ऐसे भी चिन्तक रहे होंगे जो समन्वय का मार्ग खोजने में भी प्रवृत्त थे। उन विचारकों के अनुसार असत् ही पहले था। उससे सत् हुआ तदनन्तर क्रम आगे बढ़ा।[2] नासदीय-सूक्त के ऋषि को इन दोनों एकान्तों का निषेध करना पड़ा। कारण के अव्यक्त होने से, अज्ञात होने से, उस कारण के स्वरूप

---

१. "असद्वा इदमग्रमासीत्।" तैत्तिरीयोपनिषद् २।७.
"नैवेह किंचन अग्र आसीत्। मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।"
बृहदारण्यकोपनिषद्। १।२।१.

२. "असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्ड निरवर्तत।"
छान्दोग्योपनिषद् ३।१९।१.

पर तीसरा, प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप में 'रूप-जगत्' के परिवर्तन का क्रम चला करता है। पूर्व-क्षण की अवस्था के द्वारा उत्तरक्षण की अवस्था उत्पन्न होती है। इनके मत में भी रूप-बहुत्व अथवा सन्तति-बहुत्व है।[1] अतः धर्मी का निषेध करके मात्र-क्षणिक धर्मों का ही ग्रहण किया गया है।

बुद्ध के उपदेश पर ही आधारित परवर्ती चिन्तन परम्पराओं में विभिन्न मत उपलब्ध हैं। सर्वास्तिवादी, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी एवं शून्यवादी इनमें पारस्परिक मतभेद हैं।

सर्वास्तिवाद एवं सौत्रान्तिक मत में धर्मबहुत्व स्वीकृत है। सर्वास्तिवादियों के अनुसार जो धर्म अनागत् अवस्था में था वह वर्तमान हो गया। यही वर्तमानता का त्याग करके आगत के रूप में परिवर्तित हो जावेगा। इस प्रकार इस मत में धर्म की त्रैकालिक स्थिति के कारण प्रत्येक धर्म, धर्मी के समान हो जाता है। कालभेद से अवस्था का स्वरूप उसका धर्म बन जाता है।

अन्य बौद्धों ने तत्व का अर्थ 'अर्थक्रियाकारित्व' माना। यह वर्तमान में ही सम्भव होने के कारण अतीत एवं अनागत में अस्तित्व-रहित धर्म को केवल वर्तमान तक ही सीमित मानते हैं।[2] केवल वर्तमान में ही धर्म को मानने पर सौत्रान्तिकों को कार्यकारण की व्यवस्था का भी समाधान करना चाहिए। इस सन्दर्भ में उनका कथन है कि 'पूर्वक्षण में रूप, रस, गन्ध आदि का जो अविभाज्य समुदाय है, वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। उसका विनाश दूसरे नये क्षण का उत्पाद है। इसके मध्य में अन्य कोई क्षय नहीं रहता।[3] इस तरह चलनेवाली क्षणों की अव्याहत धारा ही क्षण-सन्तति है। प्रत्यभिज्ञादि के विषय में बौद्धों का कथन है कि सादृश्यादि का भान जब द्रष्टा को होता है तब वह भ्रम के कारण ही एकत्वबुद्धि प्राप्त करता है। जिन चिन्तकों ने प्रज्ञा को जागरूक कर लिया है, उनको प्रत्येक धर्म परस्पर भिन्न दिखते हैं। यह भेद साधारण मनुष्यों की दृष्टि में नहीं होता। वे भ्रान्त होकर अभेद-बुद्धि से सारा व्यवहार सम्पादित करते हैं।[4]

महायान के अन्तर्गत प्रवर्तित विचारधारा में दृश्यमान भेदमय रूपादि प्रपंच अविद्याकल्पित अथवा संवृत्तिसत्य माना गया है। विज्ञानवादी भी भेद के अनाकलन् के कारण शून्यवादी के समीप ही हैं। इनके अनुसार भी भेद-प्रधान बाह्य जगत्

---

१. तत्वसंग्रह, स्थिरभाव परीक्षा.
२. तत्वसंग्रह पंजिका, पृष्ठ ५०४.
३. पं० सुखलाल संघवी, भारतीय तत्व विद्या, पृष्ठ ६९.
४. तत्वसंग्रह, स्थिर भाव परीक्षा.
हेतु बिन्दु टीका, पृष्ठ १८१.

वादियों में कार्य दृश्य होता है। वह कारण से भिन्न नहीं है। जबकि इसमें कारण से कार्य सर्वथा भिन्न है।

चार्वाक मत इन्द्रियगम्य विषय को ही जगत् का कारण मान लेता है। पंच-भूतों से जगत् निर्मित है। जगत् की सत्ता है। वह मिथ्या-प्रतीति के रूप में नहीं है। सृष्टि के क्रमिक विकास के लिए अन्य किसी नियामक तत्व की अपेक्षा इस मत में मान्य नहीं है। दर्शन में सर्वाधिक विषय-परक एवं स्थूल यही दृष्टि है। यह विचार-क्रम भी कारण के रूप में अनेक तत्वों को मानता है।

जैन परम्परा में धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय दो प्रकार के द्रव्य हैं। आकाश और पुद्गल भी अचेतन जगत् के मूल में हैं।[1] परमाणु जैन मत में भी ग्रहीत है। स्थिति के अनुसार वे ही वायवीय, तैजस आदि रूप ग्रहण कर लेते हैं। परमाणु में कोई जाति-गत भेद नहीं है। परमाणु में वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श की शक्तियां समान हैं। अतः परमाणुओं के संघात से उत्पन्न होने वाला स्कन्ध (कार्य) कोई नया द्रव नहीं है। वह विशिष्ट-रूप अथवा संस्थान मात्र है। वैशेषिक परिमाणु की कूटस्थ नित्यता प्रतिपादित करते हैं। जबकि जैन विचारक परिणामनित्यता ग्रहण करते हैं।[2] जैन मत में स्वीकृत परिमाणु, वैशेषिक स्वीकृत परिमाणु से, अत्यन्त सूक्ष्म है। सूर्य-किरण में दृश्यमान रज न जाने कितने परिमाणुओं का स्कन्ध है। ये अनेक हैं।

बौद्ध-विचारक जगत् को रूपात्मक कहते हैं। रूप का अर्थ केवल 'नेत्रग्राह्यता' ही नहीं है अपितु सभी इन्द्रियों से ग्राह्य भौतिक तत्व रूप ही है। कार्य के स्वरूप के आधार पर ही कारण का स्वरूप है। रूपरसादि इन्द्रियागोचर कारण में भी हैं। स्थूल-सूक्ष्म समस्त जगत् का निर्देश रूप द्वारा ही किया गया है।[3] बौद्ध भी अणु-परिमाणुवादी हैं, किन्तु जैन एवं वैशेषिक के अनुसार वे जगत् को नित्य नहीं मानते। 'तत्व' सतत् परिवर्तनशील होता है। काल में वस्तु में परिवर्तन का कारण है। स्वभाव से प्रवृत्तक्षणिक परिवर्तन के क्रम को ही काल कहा है। जैन, न्यायवैशेषिक एवं सांख्य परम्पराओं में पारस्परिक विभिन्नता होने पर भी ये सभी धर्मिकी नित्यता को स्वीकार करती हैं।[4] किन्तु बौद्ध-मत में कोई भी अखण्ड तत्व सूक्ष्म-स्थूल भौतिक सृष्टि का आधार नहीं है। एक क्षणिक तत्व के आधार पर दूसरा, दूसरे के आधार

१. "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला।" ५।१ तत्वार्थ-सूत्र।
"गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकार:।" ५।१७ वही।
२. "वही, ५।४,१०,११.
३. विसुद्धिमग्ग १४।३३-८०.
४. पण्डित सुखलाल संघवी, भारतीय तत्व विद्या, पृष्ठ ६५.

इस प्रकार संक्षेप में भारतीय-चिन्तन में मध्व से पूर्व की जगत् सम्बन्धी दृष्टियों का विवेचन प्रस्तुत किया गया। मध्व अपने तत्व निर्धारण में न्याय-वैशेषिक एवं सांख्य से प्रभावित हैं। उसी प्रकार के तत्वों का ग्रहण उनके द्वारा हुआ है। मध्व के आगामी विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जावेगा कि 'जगत्' की वह पूर्ण सार्वकालिक सत्ता को स्वीकार करता है। सृष्टि-प्रक्रियादि में उसकी सत्ता स्वीकृत है। वह ईश्वराधीन ही कार्य सम्पादन करता है! स्वतः तो वह जड़ ही है।

पंचभेद की प्रकृष्टता ही प्रपंच है।[१] इस मान्यता के साथ मध्व की यथार्थ-परक दृष्टि में 'जड़' तत्व की सत्ता एवं स्वरूप के विषय में शंकर के अद्वैत से भिन्न स्थिति की मान्यता सहज स्वाभाविक थी। मध्व कल्पित यह द्वैत भ्रान्ति नहीं है।[२] विश्व की सृष्टि ईश्वर की इच्छा से हुई है। ईश्वर आप्तकाम है केवल लीला की दृष्टि से ही वह सृष्टि करता है। युक्तिमल्लिका में ईश्वर की उस व्यक्ति के साथ तुलना की गई है जो प्रसन्नता में नृत्यादि करता है।[३]

मध्व-मत में स्वीकृत जगत् वास्तव है। जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष अनुमान एवं श्रुति के द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया गया है। द्वैत में ज्ञान के उपकरण के रूप में साक्षी को भी ग्रहण किया है। सामान्यतः इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान सत्य एवं प्रामाणिक माना जाता है। वेदान्त के प्रायः सभी मतों में ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य है। द्वैत, अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत इसी मत के अनुग्राहक हैं।[४] किन्तु प्रामाण्य, विषय के बाधित होने के बाद नहीं रहता।[५] अतः प्रामाण्य के साथ ही जगत् का सत्यत्व भी सम्बद्ध है।

'जगत्' की सत्ता के प्रश्न पर भी शंकर और मध्व में गम्भीर मतभेद हैं। प्रस्तुत प्रकरण में शंकर सम्मत विवेचन प्रस्तुत करके मध्वकृत खण्डन सूचित करना अधिक संगत होगा। 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र की व्याख्या मे शंकर ने जगत् की प्रकृति का विवेचन किया है।[६] 'जगत्' अविद्याकृत है। इसी के कारण वस्तु में अवस्तु का बोध होता है। 'जगत्' की उक्त प्रतीति, सत्तात्मक तभी तक है जब तक कि ब्रह्म-

---

१. मध्व—'प्रकृष्ट : पंचविधो भेदः प्रपंचः।" विष्णु तत्व निर्णय, पृष्ठ २३.

२. मध्व—'परमेश्वरेण ज्ञातत्वात् रक्षितत्वाच्च न द्वैत भ्रान्तिकल्पितम्।"
विष्णु तत्व निर्णय, पृष्ठ २७.

३. वादिराजतीर्थ'—युक्तिमल्लिका, पृष्ठ ४४२.

४. डा० बी० एन० के० शर्मा, फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १३७.

५. व्यासतीर्थ—"न हि विषयाबाधमनन्तर्भाव्य प्रामाण्यग्रहणं नाम।
न्यायामृतम्, पृष्ठ १४२.

६. शंकर—ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृष्ठ ७.

वास्तविक नही है।

उपनिषद् के आधार पर प्रवृत्त शंकर भी यही तथ्य प्रतिपादित करते हैं कि दृश्यमान भेद अविद्याकल्पित है।

इन दो मतो के पूर्व, जितने भी विचारक्रमो का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया, वे सभी कारण को एक मानें अथवा अनेक, नित्य मानें अथवा क्षणिकधर्म, किन्तु ये सभी जगत् को वास्तव मानते हैं। अज्ञान निवृत्ति के उपरान्त भी, सिद्ध को दृश्यमान विश्व-प्रपच वैसा ही दृश्य है, जैसा कि पहले था। द्रष्टा ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी दृश्य मे कोई अन्तर नही है।

किन्तु महायानी एव शकरानुवर्ती भिन्न प्रकार से ही सोचते है। इन्द्रियां अपूर्ण एवं दूषित है, अतः उनसे कारण का रूप जाना नही जा सकता। अतः स्थूल जगत् के कारण एवं स्वरूप के विषय मे इन्द्रिय और मन से भिन्न कोई आधार ग्रहण करना चाहिए। वह आधार वासना, सक्लेश अथवा अविद्या से विनिर्मुक्त चित्त मे आविर्भूत योग-ज्ञान ही हो सकता है। महायानी के अनुसार अविद्या के न रहने पर सुख दुःख आदि भी नही रहे। अतः जगत् मिथ्या है। केवलाद्वैत के अनुसार प्रपच भेद जो नामरूपात्मक है माया के कारण ही है। दोनो एक ही प्रकार के उदाहरणों से अपना कथन स्पष्ट करते हैं।

उदाहरण के लिए स्वप्न मे किसी व्यक्ति ने हस्ति को गवाक्ष मे से कक्ष में प्रवेश करते देखा, और भयभीत होकर भागने लगा। यह स्वप्न-गत दृष्टि, जिस प्रकार परिकल्पित है, बाह्यजगत् भी उसी प्रकार से परिकल्पित है।[1] केवलाद्वैती मायाजाल एव मृगमरीचिका, सर्परज्जु आदि के उदाहरण से यही सिद्ध करना चाहते हैं, कि दृश्य जगत् अवास्तविक है। अपने समर्थन मे एक ने बुद्ध-वचन योगज्ञान उद्धृत किए दूसरे ने उपनिषद् वाक्य।

महायानान्तर्गत विचारक्रम बाह्यजगत् को परिकल्पित मानने पर भी व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से वैभाषिक मत के स्कन्धादि का ग्रहण करते हैं।[2] अद्वैती विश्वप्रपच को मिथ्या मानने पर भी उसमे चलने वाले व्यवहार को सांख्य-सम्मत प्रकृतिवाद का आश्रय लेकर सिद्ध करते हैं।[3] अतः जगत् के व्यावहारिक सत्व मे एक वैभाषिक दर्शन है दूसरा सांख्यदर्शन।[4]

---

१. त्रिस्वभावनिर्देशकारिका २७.
२. "द्वे सत्य समुपाश्रित्य बद्धानां धर्मदेशना।
लोकसवृत्तिसत्य च सत्यं च परमार्थतः॥" माध्यमिक कारिका २४.
अभिधर्मदीप, पृष्ठ २६२.
३. शंकर, छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, ६।३।२-४.
४. पं० सुखलाल संघवी, भारतीय तत्व-विद्या पृष्ठ ७३.

परिभाषा, कि सत् अविरोध्य होता है, से सिद्ध होना चाहिए। किन्तु जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में ग्राह्य विषय बाध्य होते हैं। केवल तुरीयावस्था-गत का बोध बाधित प्रमाणित होता है। इसी अवस्था के आधार पर जाग्रत अवस्था का बोध बाधित प्रमाणित होता है।[1] जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में स्वाप्न-बोध मिथ्या प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार से स्वप्नावस्था में समस्त जाग्रत अवस्था-गत बोध मिथ्या हो जाते हैं।[2] इस प्रकार अनुभव का विषयत्व, विषय-विषयिगत द्वैत तथा आद्यन्तरूप कलावधि, के आधार पर जगत सत्यत्व का खण्डन गौड़पाद ने किया है। स्वाप्न एवं जाग्रत प्रतीतियां मायाकृत होने से मिथ्या हैं।

अनुमान के रूप में उक्त तर्क को रखने का प्रयास शंकर ने अपने भाष्य में किया है—

(१) जाग्रत अवस्था के विषय मिथ्या हैं। (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि वे दृश्य हैं। (हेतु)

(३) स्वाप्न-अनुभव के विषयों के समान (उदाहरण)

(४) जाग्रत-अवस्था के विषयों की दृश्यमानता स्वाप्न-विषयों की दृश्यता के समान है। और स्वप्नगत विषयों का मिथ्या होना पूर्व प्रमाणित है। (प्रत्यक्षतः)

(५) अतः जाग्रत-अवस्था के विषयों का बोध भी मिथ्या है।[3]

अनुमान में पक्षधर्मता और व्याप्ति का विचार आवश्यक है। उक्त अनुमान में दृश्यता और मिथ्यात्व की व्याप्ति होनी चाहिए। अन्वयव्याप्ति की दृष्टि से जहां जहां दृश्यता है वहां वहां मिथ्यता है, जैसे स्वप्न, शुक्तिरजतादि प्रतीतियां, इन सम्पूर्ण उदाहरणों में दृश्यता और मिथ्यात्व की व्याप्ति का प्रसंग उपलभ्य है। यह केवलान्वयी व्याप्ति का उदाहरण है क्योंकि यहां व्यतिरेक व्याप्ति का उदाहरण प्राप्त नहीं होगा।[4] जो कुछ भी उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जावेगा वह सभी मिथ्या होने के कारण साध्य-स्थानीय होगा। अनुमान में साध्य संदिग्ध-स्थिति में रहता है। अनुमान-क्रिया के उपरान्त ही वह निःसंदिग्ध रूप से साधित होगा। अतः प्रक्रिया के मध्य में साध्य को उदाहरण बनाना उचित नहीं है। साथ ही केवलान्वयी से भी साध्य-सिद्धि सम्भव है। यह आवश्यक नहीं है कि सिद्धि के उपरान्त व्यतिरेक-व्याप्ति का ग्रहण किया ही जावे। अतः जगत् का मिथ्यात्व केवलान्वयी हेतु से ही सिद्ध हो गया। व्यतिरेक व्याप्ति की यहां न तो स्थिति ही है और न उपयोगिता ही।

---

१. गौड़पाद—माण्डूक्य कारिका १।१५.

२. वही, २।४६.

३. शंकर—माण्डूक्यकारिका, भाष्य २।४.

४. वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ ८३.

साक्षात्कार नही हो जाता। अन्य अनेक स्थानो पर शंकर ने इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है।[1] प्रवहमान जलधारा अथवा दीप की ज्योति के समान 'जगत्' क्षणिक है। वह बुद्बुद के समान है। यह स्वप्न मे देखे गए गन्धर्वनगर के समान है, जो जब तक देखा जा रहा है, तभी तक है उसके बाद नष्ट है।[2] इस प्रकार के तथा अन्य अनेक विवेचनो के द्वारा अद्वैत-मत मे 'जगत्' को अधिकाधिक रूप में भ्रम-जन्य प्रमाणित किया गया है। जो मत अद्वय रूप मे केवल ब्रह्म की ही सत्ता अत्यन्तः स्वीकार करता है, स्वभावतः उस मत मे जगत् की सत्ता हीन मानी ही जानी चाहिए। मृत्तिका के अतिरिक्त घटादि वास्तव मे सत् नही है।[3] जगत् की सत्ता का अबाध्य प्रमाणीकरण, निश्चित रूप से ब्रह्म की अद्वयता का बाधक होगा।[4] यदि 'जगत्' सत्य है तो उसे ब्रह्म से भिन्न दूसरी सत्ता के रूप मे मानना होगा।

शंकरोत्तर विचारको ने एतदर्थ कतिपय तर्कों का उपयोग किया है। विषय और विषयी का पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनके भेद के आधार पर 'जगत्' का स्वरूप अनिर्वचनीय हो जाता है। अद्वैत मत मे विषय और विषयी का बोध आध्यासिक है, अतः स्वभावतः उनको 'जगत्' का मिथ्यात्व स्वीकार करना होगा।[5]

श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार ज्ञान का उद्देश्य जगत् की माया की निवृत्ति है।[6] छान्दोग्य मे प्रतिपादित है कि एक ज्ञान के प्राप्त कर लेने से सभी कुछ जान लिया जाता है।[7] ज्ञान से किसी वस्तु की निवृत्ति तभी सम्भव है, जब वह वस्तु अनिर्वचनीय हो। उसी प्रकार से एक के ज्ञान से ही सर्वज्ञान प्राप्त होना भी, अन्य सभी वस्तुओ के एक मे विलीन होने की मान्यता के ग्रहण करने पर ही सम्भव है। यदि अनेक विषय वास्तव होंगे, तब उनका ज्ञान सर्वतो-व्याप्त कैसे होगा?

गौडपाद की कारिकाओ मे जगत् मिथ्यात्व को स्थापित किया गया है। उन्ही तर्कों का परवर्ती विचारको ने भी उपयोग किया है। गौडपाद का प्रश्न है कि क्या जाग्रत अवस्था मे उपलब्ध जागतिक अनुभूति सत् है? तब उसे 'सत्' की इस

१. शंकर, कठोपनिषद् भाष्य २।३।१.
२. शंकर—"नरूपमस्येह यथा वर्णितम् तथा नैवोपलभ्यते। स्वप्नमरीच्युदकमाया-गन्धर्वनगरसमत्वाद्दृष्टनष्टस्वरूपो हि स सत्यत एव नान्तो न पर्यन्तो निष्ठा समाप्तिर्वा विद्यते। भगवद्गीता भाष्य १५।४.
३. शंकर—"विवेक चूडामणि, श्लोक सं० २३१.
४. वही—श्लोक संख्या २३४.
५. डा० ए० के० नारायण—क्रिटीक आव मध्व रेफूटेशन आव वेदान्त, पृष्ठ २४१.
६. "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।" श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१०.
   छान्दोग्योपनिषद् १।१।५.

सकने के कारण अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो पाता। दृश्यत्व, जो जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है, उक्त दोष से दुष्ट है। मध्व के अनुसार आत्मा भी दृश्य (ज्ञेय) है, किन्तु वह मिथ्या नहीं है। अतः दृश्यत्व हेतु विपक्ष में भी प्राप्त है। स्मरणीय है कि मध्व आत्मा को दृश्य मानते हैं। किन्तु शंकर ने दृश्य न मानकर स्वयं प्रकाश माना है। मध्व के अनुसार प्रस्तुत प्रयोग में 'सोपाधिक' हेत्वाभास के अन्तर्गत 'व्याप्यत्वासिद्ध' नामक दोप भी है। सभी मिथ्या-प्रतीतियां विपरीत प्रमाण विषय हैं। इसी प्रमाण-विरोधित्व[1] को आधार बनाकर मध्व ने उक्त दोप निर्देशित किया है। विपरीत-प्रमाणत्व मिथ्यात्व में तो व्याप्त है किन्तु दृश्यत्व में अव्याप्त है। प्रत्येक दृश्य प्रमाण विरुद्ध नहीं है, इसलिए दृश्यत्व में अव्यापक होने से यह उपाधि है।

जो हेतु साध्य के समान-असमान धर्मों से रहित हो, वह परिणामतः किसी प्रकार के ज्ञान को प्रदान करने में असमर्थ होता है। "अध्यवसाय" से असमर्थ होने के कारण वह 'अनध्यवसित' नामक हेत्वाभास है।[2] हेतु का साध्य के समान असमान धर्मों से सम्बद्ध होकर पाया जाना आवश्यक है। किन्तु जयतीर्थ आदि आचार्यों ने अनध्यवसित का केवल यही अर्थ लिया है, कि जो साध्य के ज्ञान को प्रदान करने में अयोग्य है।[3] शंकर के मत में सभी कुछ मिथ्या है। अनुमान जो मिथ्यात्व को प्रमाणित करेगा वह भी मिथ्या है। यह तर्क हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि की अक्षमता को प्रमाणित करता है।[4]

कालात्ययापदिष्ट को ही बाधित विषय हेत्वाभास भी कहा गया है। जिस हेतु के साध्य का अभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो गया है, वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।[5] दृश्यत्व हेतु से जगत्-मिथ्यात्व को प्रमाणित किया गया है। किन्तु जगत्-मिथ्यात्व प्रत्यक्ष तथा अन्य प्रमाणों से बाधित है। अर्थात् जगत्-सत्यत्व

१. मध्व—"प्रमाणविरुद्धत्वमुपाधिः।" मिथ्यात्वानुमानखण्डन, पृष्ठ ४.

२. श्रीधर—'यश्चानुमेये विद्यमानस्तत्समानासमानजातीययोरसन्नेव सोऽन्यतरासिद्धो अनध्यवसायहेतुत्वात् अनध्यवसितः।' प्रशस्तपादभाष्य-न्यायकंदली, पृ० २३६.

३. जयतीर्थ—'न विद्यतेऽध्यवसितमध्यवसायः साध्यसिद्धिर्यस्मात् स तथोक्त इति।' मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका, पृ० ५.

४. मध्व—'जगतोऽभावेऽनुमानस्याप्यभाव इति तर्क बाधितत्वेन अनध्यवसितः।' मिथ्यात्वानुमानखण्डन, पृ० ५.

५. 'यस्य साध्याभावः प्रमाणेन निश्चितः स कालात्ययापदिष्टः।' प्रमाणचन्द्रिका, पृ० १५५.

मध्व ने उक्त अनुमान का खण्डन तीन आधारों पर किया है। पक्ष, हेतु एवं साध्य-गत दोष।

पक्ष के आधार पर मध्व का कथन है कि अनुमान के प्रस्तुत प्रसंग में आश्रयीसिद्ध नामक दोष है। यदि 'जगत्' की जाग्रत अवस्था के विषय वस्तुतः मिथ्या हैं, तब साध्य के रूप में 'मिथ्यात्व' के ग्रहण का उपयोग ही क्या है? जिस प्रकार से 'गगनकुसुम की सुरभि' के अनुमान के द्वारा प्रमाणित करने मे आश्रय गगन-कुसुम की असिद्धि के कारण अनुमान का प्रयोग ही नही हो पावेगा। उसी प्रकार शंकरमत मे भी "विश्व का मिथ्यात्व" अनुमान से प्रमाणित करना सर्वथा निरर्थक है।

अद्वैत मतानुयायियो का इसके विरुद्ध कथन यह है कि अवास्तव और मिथ्या में अन्तर है। 'जगत्' सत्ता और असत्ता के रूप में निर्वचन योग्य न होने के कारण ही मिथ्या है। मध्व का तर्क, 'जगत्' के 'सत्' को स्थायी या पारमार्थिक रूप से सत् मानने के कारण, प्रवृत्त हुआ है। किन्तु, यदि अनिर्वचनीयता से युक्त 'जगत्' का मिथ्यात्व अनुमान द्वारा अभीष्ट है, तो यहा अप्रसिद्ध-विशेषणता नामक दोष होगा। साध्य का स्वरूप स्पष्ट रूप से स्थिर होना चाहिए। उसमे किसी प्रकार का तिरोधान अनापेक्षित है।[1]

हेतु 'दृश्यत्व' भी शकर-मत मे अवास्तव होने से असिद्ध है।[2] दृश्यत्व एव 'मिथ्यात्व' की व्याप्ति के ग्रहण मे मध्व ने विरुद्ध, अनैकान्तिक, सोपाधिक, अनध्यवसित कालात्ययापदिष्ट दोष निर्देशित किये है।

अनुमान के प्रसग मे सपक्ष के अभाव होने से 'विरुद्ध' नामक हेतु-गत दोष आपतित होता है। अद्वैत मत मे अनिर्वचनीयत्व को मान लेने पर सपक्ष का अभाव प्राप्त होता है।[3] यदि सपक्ष नही है, तो हेतु की स्थिति विपक्ष मे भी होगी। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से सपक्ष का अभाव 'विरुद्ध' हेतु की स्थिति प्रमाणित करता है। अनिर्वचनीयता को मध्व-मत मे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया गया है। अतः मध्व की दृष्टि मे कोई भी सपक्ष प्राप्त नही होगा। सन्दर्भित प्रसंग के हेतु मे साधारण-अनैकान्तिक नामक दोष है। जब हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनो स्थानो पर समान रूप से पाया जाए, तो साधारण-अनैकान्तिक होता है।[4] ऐसे प्रसंगो मे व्याप्ति ग्रहण न हो

---

१. जयतीर्थ—मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका, पृष्ठ २.

२. व्यासतीर्थ—'न्यायामृत', पृष्ठ ४६-५०.

३. मध्व—"अनिर्वचनीयसिद्धेरेव सपक्षाभावाद्विरुद्धः।"

अन्योन्याश्रय दोष से दुष्ट होगा। वह अनुमानादि का उपजीव्य है।

जगत्-सत्यत्व इसी उपजीव्य प्रत्यक्ष पर आश्रित है। यह रजतादि के समान भ्रान्ति-जन्य नहीं है। साक्षि के द्वारा दृढ़-दृष्ट एवं सुपरीक्षित होने के कारण वह यथार्थ है। किसी भी शुद्ध-प्रत्यक्ष को कोई अन्य अधिक समक्ष बाधित कर सकता है, यह विचार अग्राह्य है। साक्षि, मध्व मत में, प्रत्यक्ष का महत्वपूर्ण आधार है। एक बार इस आधार को स्वीकार कर लिया, तो फिर जीव-ब्रह्मैक्य प्रतिपादित करने वाली श्रुतियों, तथा उसके अवान्तर निष्कर्ष-जगत् मिथ्यात्व को प्रतिपिद्ध करना सहज हो जाता है। 'तत्त्वमसि' यह सुप्रसिद्ध महावाक्य भी साक्षि के द्वारा ही अपने अर्थ-प्रत्यायन में समर्थ होगा। जिस प्रकार सुख एवं दुःखानुभूति साक्षि द्वारा प्रमाणित होकर ही अनुभवगम्य बनती हैं, ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी साक्षि की प्रामाणिकता के उपरान्त अनुभव प्राप्त करा सकेंगे। इस वाक्य प्रयोग में साक्षि-की प्रामाणिकता के उपरान्त अनुभव प्राप्त कहा सकेगें। इस वाक्य प्रयोग में साक्षि-चैतन्य के द्वारा ग्रहीत अर्थ केवल यही है कि 'जगत्' के मिथ्यात्व में इस वाक्य का तात्पर्य नहीं है। यह एक वाक्य अवश्य है और उसका अर्थ भी है, किन्तु वह अर्थ जगत् मिथ्यात्व नहीं है।[1] इस पर भी जगत्-मिथ्यात्व-परक मान लेने पर उपपत्ति का विरोध, अर्थात् प्रत्यक्ष का विरोध होता है।

अद्वैत मतानुयायी विद्वान स्वप्न एवं भ्रम आदि के साम्य पर जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित करते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष की सत्ता केवल वर्तमान क्षणों में ही सीमित रहती है। ऐसी दशा में स्मृति आदि सभी का क्षेत्र समाप्त हो जावेगा। केवल अनुमान के आधार पर प्रत्यक्ष को बाधित करना अनुचित है। स्वप्नगत अनुभूतियों को शंकर ने गौडपाद का अनुसरण करते हुए मिथ्या माना है।[2] स्वप्न में देखे गए विषय कोई भौतिक स्वरूप नहीं रखते। न तो वे स्वप्न-द्रष्टा से भिन्न हैं और न अभिन्न। यदि स्वप्न-विषय होते तो वे ही विषय दूसरों को भी दृष्टिगोचर होते। यदि उन्हें अभिन्न माना जाए, तब इतने रूपों में उसकी अभिव्यक्ति कैसे ?

स्वप्न के आधार पर ही जगत् का मिथ्यात्व उक्त मत में ग्रहीत किया गया है। इसीलिए मध्व शंकर के इस मत को स्वीकार नहीं करते कि स्वप्न मिथ्या है। स्वप्न में दृष्ट सुख-दुःख की अनुभूति जाग्रत अवस्था में भी होती है। कामिनीसंभोग

१. जयतीर्थ—'न ब्रूमो वयं नास्तीदं वाक्यमिति। नाप्येषां पदानामत्र शक्तिर्नास्तीति। किन्तु अस्य वाक्यस्य प्रपंचमिथ्यात्वे तात्पर्यं नास्ति उपपत्तिविरोधाभावो हि प्रतीतार्थे तात्पर्यस्य ज्ञापकः। अत्र चास्त्युपपत्तिविरोध इति।' न्यायसुधा, पृष्ठ ६०१.

२. गौडपाद कारिका २।१-३, ब्र० सूत्र शांकरभाष्य ३।२।३.

प्रमाणित है। अतः उक्त हेतु बाधित-विषय नामक हेत्वाभास से दूषित है।[1]

शंकर के विरुद्ध जितने भी तर्क इस सम्प्रदाय के विचारकों ने दिए हैं उनके मूल में व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक सत्ता की विविक्त मान्यता का अभाव है। मध्व-मतानुयायी व्यावहारिक-सत्ता एवं पारमार्थिक-असत्ता (जगत् की) पर विश्वास नहीं करते। अद्वैतानुगामी विचारक असत्ता को आधारभूत मान्यता के रूप में ग्रहण करते हैं। अतः इस प्रकार सत्ता का स्वरूप ही जब संदिग्ध है, तब मध्व उसे आधार बनाकर खण्डन करें यह भी युक्तिसंगत नहीं है। अपनी मान्यता को तार्किक परिवेश देने की आकांक्षा में, अद्वैत मत के अनुमान का प्रसंग भी, अधिक सहायक नहीं है। स्वयं मिथ्या अनुमान से जगत् मिथ्यात्व प्रमाणित करना वस्तुतः चिन्त्य है।

मध्व-विचारक जगत् की सत्ता और उसके अनुभव को सत् मानते हैं। इसके लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के पांच साधनों के अतिरिक्त साक्षि को भी हेतु माना है। यह 'जगत्' के सत्यत्व को प्रत्यक्षतः प्रमाणित करता है। "व्यावहारिक रूप में ही इसकी सत्ता प्रत्यक्षतः सिद्ध है, ऐसा अद्वैतानुसारी विचार मानने पर तो प्रत्यक्ष-प्रमाण प्रामाणिक ही नहीं रहा। काल की दृष्टि से उसकी प्रामाणिकता बाधित हो गई।[2] यदि प्रमाण का स्वतन्त्व कुछ भी महत्व रखता है, तो जगत् की सत्ता ग्रहण करनी ही होगी। उनकी सत्ता के लिए किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं है। युक्ति की आवश्यकता तो मिथ्यात्व प्रमाणित करने के लिए है।

मध्व के अनुसार जो भी ज्ञान प्राप्त हो रहा है, उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए। एक बार, यदि परीक्षा करने के उपरान्त उसके 'सत्यत्व' को स्वीकार लिया, तो प्रत्येक दशा में उसकी प्रामाणिकता का ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रत्यक्ष-प्रमाण की स्थिति एवं प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्ष को न मानने से तो अद्वैत-मत की भी हानि है, क्योंकि शुक्ति-रजत की भ्रान्ति में 'यह रजत नहीं है' यह ज्ञान भी प्रत्यक्षाश्रित है। अन्यथा 'यह रजत है' इसकी अप्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं हो पावेगी। परिणामतः लाभ की अभिलाषा में प्रवृत्त होने पर मूल की ही हानि हो जावेगी।[3] अतः प्रत्यक्ष की अनिवार्यता एवं उपयोगिता को किसी भी तरह हीन नहीं बनाया जा सकता। अनुमान अथवा शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष का तिरस्कार

---

१. मिथ्यात्वानुमानखण्डन, पृ० ६.

२. मध्व—'प्रामाण्यस्य च मर्यादा कालतो व्याहता भवेत्।
कालान्तरेऽप्यमानं चेदिदानीं मानता कुतः?' अनुव्याख्यान, पृष्ठ ५५.

२. व्यासतीर्थ—'नेदं रूप्यमिति प्रत्यक्षप्रामाण्यमावश्यकम्। अन्यथा इदं रूप्यमित्यस्या-प्रामाण्यं न स्यादिति वृद्धिमिच्छतो मूलसिद्धान्तहानिः। न्यायामृत, पृष्ठ १३६.

कारित्व नहीं है।[1] किन्तु इसके कारण उनकी यथार्थता के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता। स्वप्नगत विषयों का मिथ्यात्व उन विषयों में नहीं, अपितु उनको जाग्रत पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में है, जबकि दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं।

दूसरा उदाहरण जगत् मिथ्यात्व के लिए सर्प के भ्रम को भी लिया है। उसमें भी अर्थ-क्रिया-कारित्व होने से, उसकी भी सत्ता माननी होगी।[2] भ्रम को ग्रहण करने का अभिप्राय वस्तु में अवस्तु का आरोप है। यदि यह आरोप यहाँ मिथ्या हो भी तो भी अन्यत्र-सर्पप्रतीति सत् भी है। जिस प्रकार वर्तमान कालीन सर्पप्रतीति से भिन्न वास्तव सर्पप्रतीति की स्थिति है। ऐसी दशा में दो जगत् की, सत्ता माननी होगी। एक भ्रमात्मक दूसरा वास्तव, जिसके आधार पर भ्रम हुआ। जयतीर्थ के अनुसार, ऐसी स्थिति में, जो ज्ञात या सत्य है उसकी ही सत्ता क्यों न मान ली जाय?[3]

मूलतः मध्व साक्षि-चैतन्य के आधार पर ही जगत् का सत्यत्व प्रमाणित करते हैं फिर भी इस मत ने श्रुति के द्वारा भी जगत् का सत्यत्व प्रतिपादित किया है। अनेक श्रुति-वाक्य इस सन्दर्भ में उद्धृत किए गए हैं।[4] डा० दासगुप्त ने भी श्रुति की द्वैत-परकता को स्वीकार किया है।[5]

प्रमाण के रूप में बुद्धि केवल दो ही विकल्पों का ग्रहण करती है। या तो किसी वस्तु का स्वरूप सत् हो अथवा हो ही नहीं। किन्तु सत्वासत्व दोनों को छोड़कर दोनों बुद्धि से भिन्न स्थिति का निर्धारण असम्भव है।[6]

---

१. जयतीर्थ—'तयां तथा बाह्यवत् क्वचित् स्पष्टता बाह्यार्थक्रियाकारिता नास्ति।
वही पृष्ठ ४६६.

२. मध्व— 'सर्पभ्रमादावपि हि ज्ञानमस्त्येव तादृशम्।
तदेवार्थक्रियाकारि तत्सदेवार्थकारम्।' अनु० व्या०, पृ० ६७.

३. जयतीर्थ—'सत्यजगद्द्वयांगीकारात् अस्यैव जगतः सत्यत्वांगीकारस्य लघुत्वात्।'
वादावली, पृष्ठ ५३.

४. ऋग्वेद २।१५।१, २।२४।६-७, ७-८ १०।५५।६, बृहदा०उप० ३।७।१३, मुण्डकोपः ३।१।१२, कठोप० २।२।१३, ईशो० ३

५. "There are so many passages in the Upanisads that are clearly theistic and dualistic in purport that no amount of linguistic tric' e-ry could convincingly show that they yield a mening that would support Shankara's position that the Bramha alone is the ultimate reality and all else is false." A History of Indian philosophy, vol. II. p. 2.

६. जयतीर्थ—'सत्वासत्वे विहाय प्रमाणस्वरूपस्य बुद्धौ आरोपयितुमशक्यत्वेनोक्ता [illegible]-स्यन्न तत्स्वीकारानुपपत्तेः।' न्यायसुधा, पृष्ठ ३८.

आदि के स्थूल परिणाम जाग्रत अवस्था में दिखाई देते ही है। साथ ही यह प्रश्न कि, स्वप्न द्रष्टा से वे भिन्न हैं कि अभिन्न ? मध्व मत मे महत्व नही रखता, क्योकि सम्पूर्ण स्वाप्न-विषय ईश्वर के द्वारा जीव मे उत्सृष्ट हैं। उसी सर्वशक्तिसम्पन्न की इच्छा से वे नष्ट भी हो जाते है। स्वप्नगत विषयो के बोध के प्रसग मे यह आवश्यक नही है, कि कोई द्रष्टा अपने भौतिक शरीर से निकलकर उन विषयो का ज्ञान प्राप्त करे। यह बोध तो मन से ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] स्वप्न वासना-जन्य है, यह तो शकर भी स्वीकार करते है।[2] वासना को स्वप्न-विषय के उपादान के रूप मे ग्रहण करने से तद्गत यथार्थता के द्वारा अनेक विरोधो का समाधान हो जाता है। यही कारण है कि शकर यह मानने को बाध्य हैं कि स्वप्न-गत विषय को मिथ्या कहा जा सकता है, न कि विषय को स्वरूपतः, क्योकि जाग्रत दशा मे तो उसकी उपलब्धि होती ही है।[3] मध्व और आगे बढ़कर सस्कारजन्य, जीव के मन मे रहने वाले, स्वाप्न-विषयो को भी सत् मानते है।[4] यह बाह्य कारणो से उत्पन्न नहीं होते केवल वासनात्मक है इसीलिए मध्व ब्रह्मसूत्र मे प्रयुक्त 'मायामात्रम्' पद का व्याख्यान करते हुए व्यक्त करते हैं कि वासना इनकी उपादान कारण एव ईश्वर निमित्तकारण है।[5] जयतीर्थ के अनुसार यदि यहाँ केवल वासना का मुख्य प्रयोग करते, तो ईश्वर की प्रज्ञा का ग्रहण न हो पाता। दोनो का पृथक् पृथक् उल्लेख विस्तार का कारण बनता; अतः मुख्य और अमुख्य दोनों की ही विवक्षा की दृष्टि से 'मायामात्रम्' का उल्लेख किया गया।[6] वासना के कारण के रूप मे रहने से इनमें बाह्य-अर्थो के समान अर्थक्रिया-

---

१. जयतीर्थ—'यदि बाह्यकारणका स्वप्नविषयाः तदा सम्यगभिव्यज्येरन्। न चैवम्। अतः संस्कारोपादानिका एवेति भावः।.........! वासनामयाना मेरुमन्दरवसन्तादीनां शरीरादनिर्गत्यैव मनसा दर्शनसम्भवात्। तत्वप्रदीप ३।२।३.

२. शकर—'जाग्रत्प्रभववासनानिमितत्वात्तु स्वप्नस्य।' ब्र० सू० भा० ३।२।६.

३. वही—'यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदर्शनोदकस्नानादिकार्यजातमनृतम्, तथापि तदवगतिः सत्यमेव।' ब्र० सू० भा० २।२।१४.

४. जयतीर्थ—'भावनापरनामका. सस्काराः। अनाद्यनुभवप्रवाहोत्पन्नाः। [illegible]

५. मध्व—'ब्रह्मसूत्र भाष्य ३।२।३.

६. जयतीर्थ—'यदि च वासनामात्रमिति मुख्यप्रयोगः क्रियेत, तदा ईश्वरप्रज्ञा न सगृहीता स्यात् पृथगुभयग्रहणे गौरव स्यात्। अतो मुख्यामुख्यविवक्षयो-रुपग्रहणाय मायामात्रमित्युक्तम्।' न्यायसुधा, पृ० ४६४.

वर्तन, ईश्वर के द्वारा किया गया, जो उसे अनित्य प्रमाणित कर दे। ईश्वर की अधीनता का यह अर्थ भी नहीं है कि वह नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य में परिवर्तित कर देगा। क्योंकि नित्य को नित्य के रूप में एवं अनित्य को अनित्य के रूप में नियमित करना ही उसका उद्देश्य है।[1]

सृष्टि के परिवर्तन को भी दो रूपों में पाया जा सकता है। एक तो मूल-द्रव्य में अल्पकालिक अथवा स्थायी दृष्टि से, कोई परिवर्तन होता है। (धर्मिणः ताटस्थ्ये सति धर्ममात्र परिवृत्तिः)।

दूसरे प्रकार के परिवर्तन में द्रव्य का पूरा स्वरूप ही बदल जाता है। (धर्मिस्वरूपस्यैव परिणामः) मध्व पहले प्रकार के परिवर्तन को 'पराधीन विशेषाप्ति' एवं दूसरे को 'अभूत्वा भवनम्' कहते हैं।[2]

ज्ञान के विषय के रूप में आने वाले जागतिक कार्यों में अधिकांश दूसरे ही वर्ग के हैं। किन्तु कुछ के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण एवं श्रुति आदि भी प्रतिपादित करती हैं, कि वे उक्त परिवर्तन के प्रकारों में प्रथम वर्ग के हैं। इसीलिए उनको नित्य माना गया है। काल, आकाश, भूत, आत्मा और वेदादि इसी वर्ग में हैं। ये अनाद्यन्त हैं। किन्तु इनका, कर्ता के रूप में, ईश्वर से कैसे सम्बन्ध स्थापित हो ? यह तभी हो सकता है जब किसी न किसी रूप में यह ईश्वर से उत्पाद्य मानी जावें। इसी कारण मध्व ने 'नित्यसृष्टि' की मान्यता प्रतिपादित की। नित्यतत्वों का अन्य धर्मों से युक्त होना ईश्वराधीन है। ये धर्म द्रव्य की मूल प्रकृति से भिन्न भी हो सकते हैं और अभिन्न भी। विशेषाप्ति के उदाहरण निम्नलिखित हैं।

	नित्यपदार्थ	पदार्थ विशेषाप्ति का स्वरूप
१.	चेतनप्रकृति	सिसृक्षुत्व व्यक्ति-विशेष
२.	अव्याकृताकाश	मूर्त्तसम्बन्ध
३.	प्रकृति	महदादिरूपेण विकृति
४.	कालप्रवाह	प्रवाहिजन्य
५.	महदादि	उपचय-अपनयादि प्राप्ति
६.	जीव	देहोत्पत्ति
७.	वेद	अर्थबोधकशक्त्याविर्भाव

१. जयतीर्थ—'यथा अनित्यं घटादिकमनित्यतया नियम्यते, तथा नित्यमपि नित्यात्मना नित्यं सर्वदेवेश्वरो नियामयति। ...... न चानित्यता पराधीनेति कदाचिन्नित्यता घटादेः प्राप्ता। विनाशकारणोपनिपातक्षोभ्यात् तथा नित्यस्य नित्यतायाः पराधीनत्वेऽपि, न जात्वनित्यतापत्तिः। तन्नियमनन्नियमात्।' न्यायसुधा, पृष्ठ ३३०.

२. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १५७.

जो किसी वस्तु विशेष से विलक्षण को जान लेता है वह उसके स्वरूप को जान ही लेता है जैसे देवदत्त को घट से विलक्षण पट का ज्ञान हो गया तो, अनुमानतः उसका घट ज्ञानयुक्त होना सिद्ध हो गया।[1] अतः यदि जगत् 'असत्' विलक्षण ज्ञात हो गया तो उसका सत्व तो स्वतः ग्रहीत है। किसी भी वस्तु की सत्ता उसकी अर्थक्रिया-कारिता से भी निश्चित होती है। जगत् में अर्थक्रियाकारित्व है, अतः वह सत् है।

सृष्टि, द्वैत-मत मे, तत्व के मूल मे निहित अर्थ का स्वरूप परिवर्तन है। यह परिवर्तन ईश्वर की क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। सृष्टि, ईश्वर के जगत् से आठ प्रकार के सम्बन्धो मे से, प्रथम सम्बन्ध है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के अधीन है। प्रकृति में प्रवेश एव उसे परिणामित करके वहां परिणाम एवं नियमन आदि के कारण वह उसका स्वामी है।[2]

ईश्वर सृष्टि का आधार है, किन्तु वह कारण कार्य के सामान्य स्वीकृत सम्बन्ध के समान जगत् से सम्बद्ध नही है। वह जगत् का मूलाधार है।[3] क्योंकि सृष्टि का होना उसकी क्रिया पर ही निर्भर है। मध्व न्यायवैशेषिक के समान असत्कार्यवाद नही मानते। किन्तु इसका यह भी अर्थ नही है, कि जगत् की प्रत्येक वस्तु सत् एवं अनुत्पाद्य है। मध्व आकाश काल आदि की नित्यता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार इन तत्वों की सृष्टि का अभिप्राय उनकी विशेष रूपोपलब्धि ही है, जो ईश्वराधीन है। इस प्रकार सृष्टि स्वरूप-परिवर्तन के रूप में है। वह भी ईश्वर की इच्छा से होता है। अतः अपने स्वरूप विशेष को पाना (नित्यतत्वों की दृष्टि से) एव विशेषरूप में परिवर्तन होना (अनित्य तत्वो की दृष्टि से) पराधीनत्व है, अर्थात् ईश्वराधीन है। ईश्वर की आठ प्रकार की क्षमताओ का सृष्टि से सम्बन्ध विवेचित करते समय यह स्पष्टतः जान लेना आवश्यक है, कि प्रस्तुत प्रयोग की सुविधानुसार आठों में से किसी भी आधार पर अधीनत्व प्रमाणित हो सकता है। अर्थात् आठो का क्रमशः होना आवश्यक नही है। सृष्टि के नित्य रूप की अधीनता नियमनादि के द्वारा हो सकती है। जबकि परिवर्तन रूप सृष्टि की अधीनता इच्छासे सृष्टि करने के कारण है। आकाश-कालादि नित्य-द्रव्यो की पराधीनता स्वीकार करने मे किसी प्रकार की तर्क विरुद्धता नही है। नित्य-पदार्थ नियमित होने से अनित्य भी नहीं होगे। न ही इन नित्य पदार्थों का कोई स्वरूप परि-

---

१. जयतीर्थ—'यो यद्विलक्षणं प्रत्येति स तत्प्रतीतिमान् यथा घटविलक्षणः पट इति प्रतीतिमान्देवदत्तो घटप्रतीतिमान् इत्यनुमानात्। न्यायसुधा, पृष्ठ ५७.

२. मध्व—'प्रकृतावनुप्रविश्य, तां परिणाम्य, तत्परिणमकनियामकतया, तत्र स्थित्वा आत्मनो बहुधाकरणात्।' ब्रह्मसूत्रभाष्य ११४।२७.

३. 'अधिष्ठानमिति प्रोक्तं मूलाधार विचक्षणाः।' भा० ता० मे उद्धृत वामनपुराण पृष्ठ १३.

न्याय वैशेषिक के परमाणुजन्य आरम्भवाद की अपेक्षा मध्व ने प्रकृति से सृष्टि-प्रक्रिया का होना स्वीकार किया है। मूल तत्व से भौतिक सृष्टि की मान्यता को उसने स्थान दिया है। मूल वस्तु में भले ही स्थूल भूतों के रूप में विकार होता रहे, किन्तु वह तत्व तो मूलतः रहता ही है। उससे इन कार्यों के भौतिक-विषयत्व को भी स्थिरता प्राप्त होती है।[1] वे भिन्न-भिन्न परिणाम युक्त प्रकृति की सत्ता स्वीकार करते हैं। प्रकृति की सिद्धि तर्काश्रित न होकर उपनिषद् प्रतिपाद्य है। यह अनादि प्रधान है। सूक्ष्म महाभूत के नाम से पुकारी जाती है।[2]

प्रकृति ही प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया जगत्-सृष्टि की कारण है। प्रत्यक्षतः यह काल एवं सत-रज-तम गुणों की कारण है। महत् अहंकार आदि की अप्रत्यक्ष कारण है। यह नित्य और व्यापि है। वह सीमित नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ में ही त्रिगुण एक निश्चित अनुपात में विभाजित होकर[3] इन तीनों का पारस्परिक संघर्ष चौबीस (२४) तत्वों की सृष्टि करता है। महत् अहंकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियसमुदाय, पांच इन्द्रिय-विषय एवं पांच स्थूलमहाभूत। महत् प्रकृति की प्रथम एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। अहंकार वैकारिक, तैजस एवं तामस इन तीन रूपों में विभाजित है। तैजस अहंकार से दस इन्द्रियां एवं तामस अहंकार से महाभूत उत्पन्न हुए। प्रकृति के इन चौबीस तत्वों से ब्रह्माण्ड बना है। ये सभी तत्व मध्व ने तत्तदभिमानी देवताओं से सम्बद्ध माने हैं। ईश्वर या ब्रह्म इन सबके मूल में परमाधार के रूप में है। वही विविध शक्तियों को प्रबोधित करते हुए सम्पूर्ण क्रियाओं को सम्पादित करता है।[4] श्री, भू एवं दुर्गा इन तीन रूपों से नियमित त्रिगुण अपना कार्य सम्पादन करते हैं। सृष्टि का काल, लय के काल का आठवां भाग माना गया है।[5] सभी तत्वों के अपने कारण भूत तत्व में विलीन होने को लय कहा जाता है। यही स्थिति तत्वाभिमानी देवों की भी है। सृष्टि-प्रक्रिया के सांख्य सम्मत रूप को, प्रायः स्वीकार कर लेने के उपरान्त, स्वभावतः मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त नहीं माना है।

---

१. जयतीर्थ—'तदेव हि वस्तु अवयवोपचयापचयाभ्यामन्यथा विक्रियते, न पुनरन्यदेव भवतीति परिणामवादिनो मन्यन्ते। अतः प्रत्यक्षभोग्येषु सर्ववस्तुषु प्रत्यभिज्ञया स्थिरत्वग्रहणं युक्तमेव।' न्यायसुधा, पृष्ठ ३६४.

२. जयतीर्थ—'अनादेरुपादानस्य भूतसूक्ष्मशब्दाभिधेयस्य प्रधानत्वात्।' न्यायसुधा, पृष्ठ ३६०.

३. मध्व—भा० ता०, पृष्ठ २४.

४. वही—'तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन्।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमंजसा॥' ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।३.

५. वही—'लयस्य त्वष्टमो भागः सृष्टिकाल उदाहृतः। भा० ता०, पृष्ठ ७१.

पराधीनविशेषाप्ति के इस प्रकरण मे विशेप रूप से उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह द्रव के स्वरूप में किसी प्रकार के अन्तर को उपस्थित करने की स्थिति मे नही है, अपितु केवल 'विशेप' (धर्म) ही परिवर्तन के रूप में प्राप्त होता है। विशेष्याकार को उत्पन्न न करके विशिष्टाकार को ही उत्पन्न किया जाता है। अपूर्व-विशेष यावद्-द्रव्यभावी नही है। अत: काल, आकाश आदि विशेष्यरूप एव पराधीनविशेपाप्ति-संयुक्त विशिष्ट को पूर्णत: अभिन्न भले ही न कहा जा सके, तो भी उसे पूर्णत: भिन्न भी नही कहा जा सकता, क्योंकि उसके मूल मे वह द्रव्य है, जिसने अपने स्वरूप को परिवर्तित नही किया है। केवल विशेष-धर्म की प्राप्ति ही की है। इस प्रकार इन तत्वो की सृष्टि को मूल-द्रव्य से भिन्नाभिन्न कहा जा सकता है।[1] इस प्रकार अपूर्वविशेप के कारण उत्पन्न विशिष्ट आकार को अपने स्वरूप से अभिन्न होने के कारण उसे उन मूल तत्वो का उपजन ही मानना चाहिए।[2] इस विशेप के उपजन का कारण ईश्वर है, अतः ईश्वर उनकी सृष्टि का कारण है।

नित्य-तत्वो के कारण के रूप मे ईश्वर की मान्यता ने कतिपय विद्वानों को भ्रम में डाल दिया। उनके अनुसार-ईश्वर को नित्य-तत्व का कारण मानने पर प्रकाश आत्मा आदि सभी तत्व उत्पाद्यग्रहीत होंगे। उत्पाद्य होने के कारण वे नित्य भी नही होंगे। इस प्रकार का निष्कर्ष मध्व मत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण एव आत्म विरुद्ध कथन होगा।[3]

इस प्रकार की विचारधारा वाले विद्वान आकाशादि की उत्पाद्यता घटादि की उत्पाद्यता के समान मानते हैं। परिणामतः वे निष्कर्ष में कार्य की अनित्यता को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु ये विद्वान मध्व-मत के दार्शनिक-आकलन मे भ्रमयुक्त हैं, क्योंकि उन्हें देखना चाहिए कि पराधीन-विशेपाप्ति मे 'उत्पाद्यता' किस रूप की है? क्या वह धार्मिकस्वरूप परिवर्तन के समान है? अथवा केवल नवीन वैशिष्ट्य के प्रतिपादन के समान? यह ध्यान में रखने पर भ्रम के लिए अवकाश ही नही रहता नित्य पदार्थों की उत्पत्ति मानने पर उत्पत्ति का अभिप्राय विशेप धर्म से सम्बद्ध होने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नही रहता।

द्वैत-मत मे जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का सिद्धान्त साङ्ख्यानुवर्ती है। अपने समर्थन मे महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणो से उद्धरण प्रस्तुत किये गए हैं। पाचरात्र सहिताओ का भी उपयोग मध्व ने बहुत किया है।[4]

---

१. जयतीर्थ—'तत्वविवेक टीका, पृष्ठ ५.
२. जयतीर्थ—'अपूर्व विशेषोपजनने हि विशिष्टाकारोपजनोऽवश्यम्भावी। विशिष्टाकारश्च वस्तुस्वरूपाभिन्न इति तस्यैवासावुपजनो भवति।', न्यायसुधा, पृष्ठ ४३१.
३. श्री एच० एन० राघवेन्द्राचार्य— द्वैत फिलासफी एण्ड इट्स प्लेस इन वेदान्त। पृष्ठ २१७.
४. मध्वविजय ८।४.

जिसे साहित्यिक एवं आलंकारिक प्रयोग में ब्रह्म का शरीर कहा जा सके। जीव के अतिरिक्त जगत् को भी ब्रह्म का परिणाम मानने वाला वेदान्तानुयायी विचारक भास्कर ही है।

रामानुज जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान स्वीकार करते हैं। उनके मत में प्रकृति और उसके परिणाम हैं, किन्तु उनकी स्थिति परम-पुरुष के शरीर के रूप में ही है।[1] जयतीर्थ ने रामानुज के मत की उद्धरणपूर्वक समीक्षा की है।[2] 'किसी विद्वान् ने' प्रकृतिश्चेत्यादि सूत्रों का व्याख्यान करते हुए ब्रह्म को जगत् के उपादान के रूप में प्रस्तुत किया है। परमसूक्ष्म अचित् शरीरयुक्त ब्रह्म है। ब्रह्म से अधिष्ठित प्रधान जगत् का उपादान है। इस प्रकार इस मत में ब्रह्म को ही जगत् का उपादान स्वीकार किया है। यहां सर्वथा निर्विकार ब्रह्म की अपेक्षा विकारिप्रधान शरीरयुक्त ब्रह्म को उपादान माना है। यह उपादानत्व, प्रधान-सहकृत ब्रह्म का कारणत्व, मध्व मत में भी स्वीकृत है, किन्तु भास्करादि के द्वारा स्वीकृत उपादानत्व स्वीकार्य नहीं है। उसी का अनुव्याख्यान में निराकरण किया गया है।[3]

श्रीकण्ठ आदि अन्य परिणामवादी आचार्यों के अनुसार ब्रह्म की चिच्छक्ति जगत् का उपादान कारण है। वह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म की शक्ति है, पर वह

---

१. रामानुज—"न वयमव्यक्तं तत्परिणामविशेषांश्च स्वरूपतो नाभ्युपगच्छामः। अपितु परमपुरुषशरीरतया तदात्मकत्वविरहेण।' श्रीभाष्य १।४।३.

२. जयतीर्थ—"अत्र कश्चित् प्रकृतिश्चेत्यादीनि सूत्राणि ब्रह्मणो जगदुपादानतया व्याख्याय सूत्रतात्पर्यमेवाह-परमसूक्ष्माचित्प्रधानशरीरं ब्रह्म 'यो व्यक्ते तिष्ठत्'...... —इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धम्। तथा च ब्रह्माधिष्ठितं ब्रह्मात्मकं प्रधानं जगदुपादानमिति ब्रह्मैव जगदुपादानतयांगीक्रियत इति। तं प्रत्याह-उपादानत्वमेवेति। एवं हि वदता पितुरिव पुत्रजन्मनि, जगदुत्पत्तौ ब्रह्मणोऽप्यवधित्वलक्षणमेवोपादानत्वमिष्टं स्यात्। सर्वथा निर्विकारस्य ब्रह्मणो विकारिप्रधानशरीरकस्य तदधिष्ठातृत्वेनोपादानताया उदितत्वात्। स्वभूतं चोपादानत्वं ब्रह्मणोऽस्माभिरप्यंगीकृतमेवेति नात्रास्माकं प्रद्वेषः।'

नन्वंगीकृतं चेदुपादानत्वं ब्रह्मणः कथं तर्हि तन्निराकरणमित्यत आह-नत्विति। शुद्धचैतन्यस्यैव ब्रह्मणो विश्वात्मना...भवो भास्कराद्यंगीकृतो नास्माभिरंगीक्रियते अतस्तन्निराकरणमुपपन्नमेव न्यायसुधा, पृष्ठ १६३.

३. मध्व—'उपादानत्वमेवास्य यद्युपादानता भवेत्। अंगीकृतं तत्पितृवन्नैव विश्वात्मना भवः॥' अनुव्याख्यान, पृष्ठ १२.

परिणामवाद का आधार है कि ब्रह्म ही प्रारम्भ में था। उस समय अन्य कोई तत्व स्थित नही था। ब्रह्म के द्वारा अनुत्पन्न कोई भी तत्व नही है। ब्रह्म ही स्वेच्छा से इस जगत् के रूप मे स्वतः को उद्भूत कर लेता है।

ब्रह्मपरिणामवाद को मान लेने पर जगत् के दुःख-कष्टादि को भी उसी का परिणाम मानना होगा? ऐसी दशा मे प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने परिणमन करते समय यह सब क्यों उत्सृष्ट किए? साथ ही ईश्वर का यह परिवर्तित रूप उसका स्वभाव होगा अथवा उसका परिणमित रूप? यदि कारण चेतन है तो उसका विकार अचेतन रूप मे कैसे प्राप्त हुआ? उसे भी चेतन होना चाहिए था, क्योंकि अचेतन का विकार कभी भी चेतन नही होगा।[1] मध्व ने भास्करादि परिणामवादी आचार्यों का मत अस्वीकार कर दिया है। शुद्ध चैतन्य के इस प्रकार के परिणमन को किसी भी श्रुति के द्वारा सगत नहीं बनाया जा सकेगा। श्रुति ने कही भी स्पष्टतः यह प्रतिपादित नहीं किया कि चेतन अचेतन बन जाता है। ब्रह्म के जीव बन जाने के बाद भी, श्रुति मे उसे अक्षरशः शुद्ध ही कहा गया है। मूल कारण मे परिवर्तन रूप धर्मो की कल्पना किए बिना, कार्य-सिद्धि के अभाव मे, मूल कारण मानना भी सम्भव नही होगा। वे परिवर्तन (जडत्वादि) मूल कारण मे स्थित माने नहीं जा सकते।

ब्रह्म परिणामवाद के समर्थन में, केश, नख के वर्धन एव बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था के बुद्धिगत परिवर्तन को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वे चेतन के विकार है और अचेतन है, किन्तु केश, नख एव शरीर-वृद्धि आदि सभी शरीर की ही सृष्टि है न कि जीवात्मा की। जीवात्मा का उसमे किसी प्रकार का कार्य कारण भाव सम्बन्ध नही है। युवा एव वृद्धावस्था मे उपलभ्य बुद्धि-वृद्धि आदि बुद्धिगत शरीर के ही धर्म है। आत्मा की अवस्थिति मात्र यहां अपेक्षित है। बुद्धि की वृद्धि मे आत्मा उपादान के रूप मे हो यह सम्भव नही है। प्रोक्त उदाहरणो के आधार पर ब्रह्म परिणामवादियो को स्वीकार करना चाहिए कि ब्रह्म का भौतिक भाग भौतिक जगत् का उपादान बनता है, एवं उसका चित् भाग क्रियाशील होने के कारण क्रिया का सम्पादन करता है। किन्तु इसका भी अन्ततः परिणाम केवल निमित्त कारणवादमे ही होगा, क्योंकि भौतिक उपादन के रूप मे ब्रह्म को मानना सम्भव नही होगा और केवल चित् तत्व जो निमित्त-कारण है, वही ब्रह्म के रूप में ग्रहीत होगा।[2] कोई भी परिणामवादी शुद्ध प्रकृति स्वतन्त्र रूप से नही मानते है,

१. मध्व—'न चेतनविकारः स्याद्यत्र क्वापि ह्यचेतनम्।
नाचेतनविकारोऽपि चेतनः स्यात्कदाचन।।' अनुव्याख्यान, पृष्ठ १०.

२. वही—'भागेन परिणामश्चेत् भागयोर्भेद एव हि।
यो भागो न विकारी स्यात्स एवास्माकमीश्वरः।।' अनुव्याख्यान, पृ० १३.

उसी प्रकार ब्रह्म और माया मिलकर जगत् की सृष्टि करते हैं। इसके अनुसार जिस प्रकार रस्सी की निर्मिति में दोनों धागे समान योग देते हैं, क्या उसी प्रकार जगत् के प्रति उपादानत्व में ब्रह्म भी उतना ही योग देता है जितनी कि माया? साथ ही जब ब्रह्म उपादान कारण है तब कार्य में केवल माया के ही गुण क्यों प्राप्य हैं? ब्रह्म का चेतनत्वादि अप्राप्य क्यों? यह कहना सम्भव नहीं है कि जगत् में चित् का भाव मात्र प्राप्य हैं, चिन्तत्व नहीं इसके अभाव में ब्रह्म का उपादानत्व कैसा? साथ ही यदि ब्रह्म जगत् का उपादान है, तब उसे अनिर्वचनीय कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि यह अनिर्वचनीयमाया मात्र की सृष्टि नहीं है। ब्रह्म भी इसमें समान आधार पर उपादान कारण है। इसी प्रकार अन्य तर्क भी ब्रह्म की उपादान कारणता का, विरोध प्रतिपादित करते हैं। उपादान को विवर्त के अर्थ में स्वीकार करना भी अनुचित है, इसलिए कि इस अर्थ में कहीं भी उसका प्रयोग प्राप्त नहीं होता। कोई भी व्यक्ति पात्र के आभास में मृत्पिण्ड कारण के रूप में उपस्थित नहीं करेगा।

इस प्रकार द्वैत-मतानुयायी विद्वान ब्रह्मोपादानत्व को न मानकर ईश्वर को निमित्त कारण के रूप में स्वीकृत करते हैं। प्रकृति उसके अधीन है एवं वही जगत् का उपादान कारण है न कि ईश्वर।[1] जगत् ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, सत् है। उसकी सत्ता प्रामाणिक है। प्रत्यक्ष प्रमाण का उपयोग, इस दृष्टि से, होता है। मध्व-मत के विद्वान् जगत् का अपलाप किसी भी रूप एवं मात्रा में नहीं करना चाहते। उत्पत्ति, स्थिति स्वरूप आदि सभी के विवेचन में तथा उसकी अविरुद्ध सत्ता की स्थापना एवं युक्ति-संगत समर्थन के लिए उनकी दृष्टि अत्यन्त-जागरूक है।

१. मध्व—ब्रह्मसूत्रभाष्य २।१।१५.

उसके चिद्रूप से भिन्न है। जयतीर्थ ने इस मत को उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया 'कि ब्रह्म दो रूपों में पाया जाता है। अनन्त आनन्दात्मक-चिदात्मक एवं सदात्मक। अपने चिदात्मक रूप से वह निमित्त एवं सदात्मक रूप से उपादान कारण है। निर्विकार ब्रह्म के उपादानत्व ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि उपादानत्व चिच्छक्ति का विषय है। अतः 'चित्' शक्ति युक्त ब्रह्म परिणामी है, इसको मान लेने पर किसी प्रकार की युक्ति का विरोध नहीं रहता।" जयतीर्थ का इसके विरुद्ध तर्क है, कि ब्रह्म के सद्भाग से यदि परिणाम और चिद्भाग में निर्विकारित्व स्वीकार किया, तो क्या वे दोनों भाग परस्पर भिन्न, अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न हैं? इसमें से कोई भी विकल्प तर्क-संगत नहीं है। परस्पर रूप में दो वस्तुओं का ग्रहण एवं ईश्वर की निमित्त कारण के रूप में स्थिति, मध्व को भी मान्य है।[1]

इसके अतिरिक्त शंकर का मत ब्रह्मविवर्तवाद के नाम से विख्यात है। वस्तुतः यह कोई कारणवाद है ही नहीं। इसमें कार्यरूप आख्यान केवल आभासमात्र है। जगत् का जो कारण—ब्रह्म यहाँ निरूपित है, वह अज्ञान से आवृत है। मृत्पिण्ड का उदाहरण सृष्टि की व्याख्या के हेतु छान्दोग्य उपनिषद् में दिया गया है, किन्तु विवर्त का वह सम्यक् उदाहरण ही नहीं है। मिट्टी के पात्र में तथा मिट्टी में सम्बन्ध की दृष्टि से विवर्त की स्थिति नहीं है। आरोपितत्व तो एक मृत्पिण्ड का एक मृण्मय से भी नहीं है सभी मृत्पिण्ड की क्या वार्ता? युक्ति से यदि समर्थन की आकांक्षा हो तो अभी समर्थन के पूर्व—विवादास्पद होने से वह दृष्टान्त नहीं बन सकेगा। दृष्टान्त के लिए बुद्धि-साम्य आवश्यक है।[2] अतः उक्त दृष्टान्त विवर्तवाद के अनुकूल नहीं है।

प्रकाशात्मयति के विवरण में ब्रह्म की उपादान-कारणता तीन प्रकार से स्पष्ट की गई है। माया से युक्त ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया ब्रह्म पर आश्रित होकर जगत् की उपादान होती है। ब्रह्म उसके माध्यम से जगत् का उपादान कारण है। पहले मत में माया और ब्रह्म सम्बन्ध होकर जगत के उपादान कारण हैं। निर्विकार श्रुतियों का इस व्याख्यान से कोई विरोध नहीं होगा। वे श्रुतिवाक्य माया से असम्बद्ध शुद्ध चैतन्य को लक्ष्य करके कही गई हैं। अन्य दो प्रसंगों में भी निर्विकार श्रुति माया नामक शक्ति-रहित ब्रह्म-परक है, अथवा माया नामक माध्यम से रहित ब्रह्म-परक है।

किन्तु व्यासतीर्थ ने तीनों दृष्टिकोणों का खण्डन किया है। पहले मत के अनुसार जिस प्रकार रस्सी के दो भाग परस्पर मिलकर रस्सी की निर्मिति करते हैं,

---

१. जयतीर्थ—न्यायसुधा, पृष्ठ २००.

२. वही—'आरोपितत्वं तु एकस्यापि मृण्मयस्यैकस्मिन् मृत्पिण्डे नास्ति किमुत सर्वस्य?' न्यायसुधा, पृष्ठ २२६.

किया। भक्ति की प्रमुखता स्वीकार करने वाले परवर्ती काल के मत, शंकर के विरुद्ध ही, अपनी स्थिति निर्मित कर सके।

शंकर का अद्वैत उन असंख्य व्यक्तियों को बहुत अधिक काल तक प्रभावित नहीं कर सका, जो जीव और ब्रह्म के पूर्ण तादात्म्य पर अथवा जीव की सत्ता के ही अभाव पर, विश्वास नहीं करते थे। ईश्वर को अन्तिम तत्व के रूप में मानने की प्रबल अभिलाषा, भक्त एवं भगवान की भिन्नता एवं पारस्परिक सम्बन्ध की अपेक्षा के कारण शंकर मत से परवर्ती विद्वान सन्तुष्ट नहीं हो सके। उन सभी साधकों की प्रतिक्रिया के रूप में रामानुज मध्व तथा अन्य अनेक मतों की स्थापना हुई।

रामानुज, मध्व आदि मत वैष्णव-सम्प्रदाय से सम्बद्ध माने जाते हैं। वैष्णव-मत के मध्व के पूर्ववर्ती विकास को संक्षेप में व्याख्यान का विषय बनाना अधुना प्रसंग-प्राप्त है।

विष्णु की देवता के रूप में प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीन काल से वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है।[1] उसे ऋत का गर्भ भी कहा गया है।[2] उत्तर वैदिककाल में विष्णु की स्थिति और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। वैदिक साहित्य के पूर्वापर भाग में 'विष्णु' पद का उल्लेख भले ही मिले, किन्तु महाभारत के पूर्व तक वैष्णव-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं प्राप्त होता।[3] महाभारत के उक्त सन्दर्भित भाग का काल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि मुद्राओं इत्यादि के उल्लेख के आधार पर पांचवीं सदी ईसवी के पूर्व का समय ग्रहण किया जा सकता है।[4] वैष्णव मत के मूल में भक्ति की भावना थी। यह वैष्णव मत विष्णु के वेद-प्रतिपादित स्वरूप से भिन्न है। भक्ति को मूलतः स्वीकार करके प्रारम्भ, इस मत के विषय में, कतिपय विद्वान इसे विदेशी प्रभाव से प्रभावित आन्दोलन मानते हैं। उनके अनुसार रामानुज ने ही सर्वप्रथम इस आन्दोलन को महत्व दिया, अतः इस पर क्रिश्चियन मत के प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।[5] डा० हेमचन्द्रराय चौधरी के अनुसार—"अभिलेखों के साक्ष्य से प्रमाणित किया जा सकता है कि भागवत वासुदेव के भक्त थे। इस तथ्य को स्मरण रखते हुए 'वासुदेवक' के उल्लेख से इस मत को पाणिनी के काल में प्राप्त सिद्ध किया जा सकता है।[6]

---

१. ऋग्वेद ७।९९।२.
२. वही ३।१५४।४.
३. महाभारत १८।३।९७.
४. डा० हेमचन्द्र राय चौधरी, अर्ली हिस्ट्री आव दी वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ १८.
५. डा० ए० बी० कीथ—जरनल आव रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९१५, पृष्ठ ८३३.
६. डा० हेमचन्द्र रायचौधरी—अर्ली हिस्ट्री आव दी वैष्णव सेक्ट, पृष्ठ २३.

अष्टम अध्याय

द्वैत-सम्प्रदाय तथा अन्य मत

मध्व का काल प्रायः सभी विद्वान तेरहवी सदी ईस्वी मानते है। भारतीय दर्शन के विकास मे स्वतत्र आचार्यों के रूप मे, विशेषतः वेदान्त-दर्शन मे, ये अन्तिम आचार्य है। मध्व ने नवीन मत की स्थापना का प्रयास किया है। इस प्रयास मे स्वभावत. पूर्ववर्ती वातावरण, दार्शनिक एव धार्मिक, प्रभावी रहा होगा। मध्व ने पूर्ववर्ती विचारकों एव सम्प्रदायों से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

दार्शनिक विकास की दृष्टि से शकर का व्यक्तित्व बहुत महत्वपूर्ण रहा है। शकर के पूर्व व्याप्त बौद्ध-धर्म एव दर्शन का महत्वपूर्ण प्रभाव, क्रमशः क्षीण होता जा रहा था। शकर का इस कार्य मे अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा। उपनिषद्-प्रतिपाद्य दर्शन के प्रति पुनः आस्था की स्थिति प्रबलता के साथ दृष्टिगोचर होने लगी थी। शकर ने पूर्व विद्वानों के द्वारा स्थापित अद्वय-तत्व की सुदृढ़ व्याख्या की। उसे तत्का-लीन विचारकों का पूर्ण-सहयोग मिला। केवल वेदान्त के ही आचार्यों ने बौद्धों का विरोध किया हो ऐसा नही था, अपितु श्रुतिसमाम्नाय के समर्थक अन्य मतों ने भी प्रबल युक्तियां प्रस्तुत की है। मीमांसा-दर्शन के बौद्ध-विरोधी विचारों की बहुमान्य स्थिति को सभी तत्कालीन ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है। कुमारिल की विरोधी के रूप मे प्रतिष्ठा अवश्य है। किन्तु सर्वाधिक प्रतिष्ठा शकर के ही प्रबल तर्कों की रही। एक ओर अभाव के महत्व को प्रतिपादित करने वाले शून्यवाद का शकर ने खण्डन किया, दूसरी ओर कर्म की भारतीय मान्यता का प्रतिपादन भी किया। कर्मवाद की स्थापना ने भारतीय आचार-पक्ष को स्थिरता प्रदान की। शकर ने दर्शन मे एक पारमार्थिक तत्व व्याख्यात किया, इसमे तन्मय होना ही मोक्ष माना है।

शकर के उपरान्त कुछ शताब्दियों तक अद्वैत-मत बुद्धिजीवियों मे सम्पूर्णतः व्याप्त रहा। दर्शन के क्षेत्र की प्रमुख प्रतिभाओं ने इस दर्शन के विकास को और अधिक समृद्ध किया। शंकर से रामानुज तक के मध्यवर्ती काल की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से उक्त तथ्य और अधिक स्पष्टता के साथ प्रमाणित हो सकता है। ...का विधायक कार्य निर्गुण-श्रुति के आधार पर आस्तिक मत की स्थापना करना ...। इससे अधिक महत्वपूर्ण कार्य निषेधक था, कि उन्होंने पूर्ववर्ती अवैदिक मान्य-ताओं को निरस्त किया। साथ ही ... निमिति का द्वार उन्मुक्त

ब्रह्म के निषेध की अनिवार्यता का अनुभव करके मध्व ने नवीन मत की स्थापना की रामानुज साम्प्रदायिक वर्ग की स्थापना की दृष्टि से वैष्णव सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित थे। दूसरी ओर शंकर के अद्वयवाद के प्रति भी उनके मन में प्रतिक्रिया जागरूक थी। शंकर ने, भले ही व्यवहारतः वह किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हों, दर्शन के साथ किसी सम्प्रदाय का समावेश नहीं किया। रामानुज ने सम्प्रदाय एवं दर्शन दोनों को समान स्थिति प्रदान करते हुए विशिष्टाद्वैत दर्शन एवं श्री वैष्णव सम्प्रदाय को स्थिर किया।

शंकर के द्वारा निर्गुण-श्रुतियों को दिया गया अत्यन्त महत्व, किसी वैष्णव विचारक को अनुकूल प्रतीत नहीं हुआ। श्रुति में सगुण श्रुतियाँ भी प्राप्त हैं। उनमें ईश्वर के अनन्त गुणों की स्थिति के साथ साकारता भी प्रतिपादित हैं। वे सगुणता-प्रतिपादक श्रुति-वाक्य उपेक्षणीय क्यों हैं? यदि उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं, तो फिर उनका सम्यक् समाधान एवं महत्व ग्रहण शंकराचार्य ने क्यों नहीं किया? इसी प्रकार का आक्षेप उन श्रुतियों के शांकरव्याख्यान के प्रति किया जा सकता है, जिनमें एक तत्व से भिन्न अनेक तत्वों के प्रतिष्ठा-सूचक पद हैं। शंकर ऐसे प्रसंगों में अभेद-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को, अनेक तत्वों की प्रतिष्ठा सिद्ध करने वाले वाक्यों से, श्रेष्ठ मानते हैं।

शंकर का पर एवं अपर ब्रह्म का व्याख्यान भी विवादास्पद था। बिना ईश्वर की पूर्ण एवं सक्षम प्रतिष्ठा किए आस्तिक-दर्शन की स्थापना ही कैसे हो सकती है? प्राकृतिक शक्तियों में भी देवत्व को आरोपित करने वाली आस्थावान परम्परा को, जो लोक-जीवन के विश्वासों से निकट से सम्बद्ध थी, ईश्वर की स्थिति आभासमात्र, मायाजनित मानना कैसे और कब तक सम्भव हो सकता था? ईश्वर-तत्व ही जब आत्यन्तिक नहीं रहा, वह अविद्याकृत हो गया, तब शरणागति, प्रपत्ति आदि उस अविद्या-निर्मित तत्व के प्रति कोई भक्त क्या भक्ति समर्पित कर सकता था। परिणामतः मूल-तत्व के रूप में तो ब्रह्म की ही स्थिति रहे, किन्तु उसकी सगुणता एवं सगुणरूप में उसकी आत्यन्तिकता ही काम्य थी। जीव की स्थिति भी शंकर मत के अनुरूप बहुत दयनीय थी। जब तक अज्ञान है तभी तक उसकी सत्ता रहती, जैसे ही अज्ञान तिरोहित हुआ वैसे ही उसकी सत्ता भी समाप्त हो गई। ऐसी दशा में कौन जीव ब्रह्माराधन में तत्पर होगा? भक्ति को एक मात्र मोक्ष-साधन स्वीकार करने वाले वैष्णव मतों में जीव की मायाजन्य स्थिति से भक्ति ही व्यर्थ हो गई। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी मिथ्या है तब तो दर्शन अर्थात् सत्य की खोज भी मिथ्या हो जावेगी। विचार का कोई क्षेत्र ही नहीं बचेगा।

इन सब कारणों से रामानुज मध्व आदि विचारकों ने शंकर के विरुद्ध

'विष्णु एव वासुदेव की अभिन्नता-सूचक संदर्भ भगवद्गीता एव अनुगीता के मध्य काल मे प्राप्त होने लगते है। शान्तिपर्व (४३ वें अध्याय) मे भी युधिष्ठिर के द्वारा कृष्ण को उद्दिष्ट वन्दना प्राप्त है। उसमे भी कृष्ण और विष्णु को अभिन्न निरूपित किया गया है। पुराण काल मे भी विष्णु को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है, साथ ही उसे कृष्ण एव वासुदेव इन अपर अभिधानो से भी पुकारा गया।[1] अतः वैष्णव मत एव उसमे प्राप्त भक्ति-तत्व क्रिश्चियन-धर्म के प्रभाव से प्रभावित नही है। उसका भारतीय उद्गम है। प्राचीन-साहित्य मे असख्य सन्दर्भ इसके प्रमाणीकरण के हेतु प्राप्त किए जा सकते हैं।

भगवद्गीता के उपरान्त प्राप्त होने वाले पाचरात्र साहित्य मे वैष्णव-मत की उपलब्धि तो समान रूप से होती है, किन्तु भगवद्गीता और पाचरात्र सम्प्रदाय मे भक्ति की ही समानता है। इसे भागवत सम्प्रदाय भी कहा गया है। इसका उपजीव्य साहित्य पाचरात्र सहिताए हैं। इनको आधार बनाकर ही परवर्ती वैष्णव मतो ने अपनी स्थापनाएं की।

दक्षिण-भारत मे द्रविड सन्तो मे विष्णुभक्ति का प्रचार, ईसा की आठवी शताब्दी के उपरान्त, होता है। आल्वारसन्तो के तमिलभाषा मे लिखे गए प्रबन्ध-काव्यो मे विष्णु के प्रति प्रबल भक्ति का उल्लेख मिलता है। रामानुज को इन्ही सन्तो से बहुत अधिक मात्रा मे प्रेरणा प्राप्त हुई। इस वैष्णव-सम्प्रदाय की विकासशील सम्पूर्ण परम्परा ने शकर के ब्रह्म-विवेचन के स्थान पर सगुण-भक्ति-परक मतो की स्थापना को समर्थ प्रेरणा प्रदान की।

ये सभी वैष्णव आचार्य उक्त पृष्ठ-भूमि पर कतिपय समान आधारो पर स्थित थे। सभी आचार्य केवल श्रुति को आत्यन्तिक प्रमाण नही मानते। वैष्णव सम्प्रदाय मे मान्यता-प्राप्त वचनो रचनाओ का आधिकारिक रूप मे उपयोग भी किया है। उदाहरणतः पांचरात्र सहिताओ का उपयोग रामानुज, मध्वादि सभी आचार्यों ने किया है। विष्णु ही आराध्य एव परमदेव हैं। अवतारो की मान्यता के द्वारा अनेक मत-मतान्तरो को एक ही सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानकर, अवतारो की प्रतिष्ठा सभी मतो मे स्वीकार की गई।

विचार एव व्यवहार दोनो ही क्षेत्रो मे प्रचलित क्रान्तिकारी आन्दोलनो के कारण प्रतिक्रिया और व्यवस्थित स्थापन की दृष्टि से नवीन मतो के स्थापित होने की तात्कालिक अपेक्षा थी। दक्षिणभारत मे आल्वार सन्तो के भावनाशील प्रभाव के कारण उनके समर्थन मे व्यवस्थित विचार-क्रम की स्थापना का, एव शकर के अद्वय

1. डा० आर० जी० भण्डारकर, वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ४६.

उनकी भेद की वास्तविकता के प्रति सजगता ही थी। इसीलिए भेद की स्थापना के लिए मध्व न केवल कृत-सकल्प है, अपितु पांच प्रकार के भेदों को भी दृढ़ता से प्रतिपादित करते हैं। ये परस्पर भिन्न तीन तत्व—ईश्वर, जीव एवं जड़ वास्तविक हैं। सत्ता की दृष्टि से वे कभी भी क्षय के पात्र नहीं होते। उनकी सत्ता के वास्तव होने के कारण ही उनका पारस्परिक भेद वास्तव है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर के प्रति जो दृष्टि किसी पूर्ण आस्तिक विचारक की हो सकती थी, वह रामानुज की नहीं थी। मध्व ने रामानुज के परवर्ती अन्य वैष्णव-सम्प्रदाय निम्बार्क, वल्लभ आदि से प्रेरणा प्राप्त करते हुए विष्णु की सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित की। ईश का ईशत्व तभी सार्थक है, जब कोई अन्य तत्व उसके अतिरिक्त हों, जिनका वह स्वामी हो। जीव और जड़ की पृथक् सत्ता माने बिना हरि की पूर्णता भी प्रतिपादित नहीं हो सकेगी। ईश्वर तत्व के प्रति वैष्णव-सम्प्रदाय में पूर्वप्रचारित इस धारणा को, चाहते हुए भी, रामानुज निम्बार्क, वल्लभ अधिक प्रश्रय नहीं दे पाये। मध्व को भी इस सन्दर्भ में कोई न कोई निर्णय लेना था। अपने पूर्वजों के विचारग्रन्थों को सामने रखकर मध्व ने अपनी धारणाएं स्थिर कीं।

रामानुज भी वैष्णव-सम्प्रदाय के समर्थक आचार्य हैं। रामानुज ने विष्णु, श्री, अवतार एवं भक्ति आदि अनेक अनिवार्य तत्वों का उपयोग वैष्णवमत से ग्रहण करके, अपने दर्शन में किया। यही स्थिति थोड़ा-थोड़ा अन्तर ग्रहण करते हुए निम्बार्क, वल्लभ आदि की है। परिणामतः मध्व ने इन सभी को एक ही मार्ग का अनुगामी माना। वह भी उसी पन्थ का अनुवर्ती था, किन्तु उसने भेदानुभूत की प्रत्यक्षवेद्यता के विरुद्ध किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया।

भेद-मान्यता की इस प्रखरता के कारण ही यह स्वीकार करना पड़ता है, कि मध्व के मत का प्रारम्भ प्रतिक्रिया स्वरूप था, किन्तु कालक्रमानुसार विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह मध्व की कोई सर्वथा प्रथम एवं नवीन प्रतिक्रिया नहीं थी। रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ आदि उसके पूर्व ही शंकर के विरुद्ध विचार प्रतिपादन में प्रवृत्त हो चुके थे। उनकी प्रतिक्रियायें कालक्रमानुसार तो प्रथम थीं ही, साथ ही शुद्ध अद्वैत विरोधी दृष्टिकोण भी ये विचारक स्पष्ट कर चुके थे, जिसे मध्व ने आगे बढ़ाया। सम्भवतः मध्व भी इस तथ्य से अवगत थे। तभी उन्होंने रामानुज का विरोध नहीं किया। मध्व के उपरान्त सम्भवतः सोलहवीं शताब्दी में रमानुज एवं मध्व सम्प्रदाय के विचारकों का प्रबल विरोध बढ़ चला था। परकाल यति ने 'विजयीन्द्र पराजय' नामक ग्रन्थ की रचना की,[1] जो उक्त मान्यता के समर्थन

---

१. डा० एस० एन० दासगुप्ता—ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, भाग ४, पृष्ठ ६५.

मतो की स्थापना की। रामानुज में उक्त सभी विरोधों का परिहार यथासम्भव प्राप्त होता है। रामानुज मत भी आस्तिक सम्प्रदायो को अधिक सन्तुष्ट नही कर सका। ब्रह्म के शंकर-भिन्न आख्यान मे जो विरोध दृष्टिगोचर हो रहा था, उसका समाधान रामानुज का विशिष्टाद्वैत नही हो सकता था। रामानुज की अभिलाषा, सम्भवतः द्वैत एव अद्वैत के अन्तर को समाहित करने की थी। उसी के परिणाम-स्वरूप वह ब्रह्म की अद्वय स्थिति मे है। प्रतीयमान भेद का समाधान वह उसकी विशिष्टता के द्वारा करते हैं। रामानुज का ब्रह्म कोई समूह नही है। वह तो ऐसा एक आकार है, जिसमे चेतन एव जड़ दोनों ही तत्व स्थित है। एक ही साकार तत्व में परस्पर-विरुद्ध तत्व कैसे रह सकते हैं ?

यदि रामानुज से जिज्ञासा की जाए कि क्या जीव एवं जड़तत्व ब्रह्म से भिन्न है, अथवा अभिन्न ? रामानुज मत के अनुसार इनका पारस्परिक सम्बन्ध भिन्नाभिन्न होगा। यह भिन्नाभिन्नता, युक्ति-पूर्वक विचार करने पर, स्वय ही असिद्ध प्रमाणित होगी। विचार करने पर यही प्राप्त होता है कि कोई वस्तु किसी से या तो भिन्न हो सकती है, अथवा अभिन्न। यदि जीव और जड़ को ब्रह्म से अभिन्न माना गया, तब शांकर-मत ही प्राप्त होगा। यदि भिन्न माना जावे तो मध्व-मत। मध्य मे स्थित भिन्नाभिन्नता पर आधारित मत न तो दर्शन मे आदर्शवादी मान्यता का समर्थन कर पाता है और न यथार्थपरकता का। भक्ति की भी सार्थकता तभी हो पावेगी जब आराध्य उससे सर्वथा भिन्न हो। किसी भी रूप में अभिन्नता भक्ति की मान्यता का हनन कर देगी।

मोक्ष के साधन के रूप मे रामानुज यद्यपि प्रपत्ति को भी स्वीकार करते हैं, किन्तु ज्ञान और कर्म का भी मोक्ष-प्राप्ति मे उपयोग है। आल्वार सन्तो के प्रबन्ध ग्रन्थ एव वैष्णव-सम्प्रदाय की भक्तिविषयिणी मूल आस्था भी शंकर के रामानुज पर व्याप्त प्रच्छन्न-प्रभाव को न रोक सकी, अन्यथा ज्ञान को भक्ति के समकक्ष महत्व प्रदान करने की तत्परता रामानुज मे कहाँ से आई ? मध्व ने भक्ति की प्रतिष्ठा के प्रति सजग रहते हुए उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्म-सूत्र के भाष्य एवं अन्य ग्रन्थो के द्वारा अपने मत की स्थापना की।

वैष्णव-सम्प्रदाय से विष्णु, उसके अवतार, भक्ति आदि को ग्रहण करके, शंकर एवं रामानुज के विशुद्ध अद्वैतपरक अथवा अद्वैतोन्मुख दृष्टिकोण के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, मध्व ने नवीन मत की स्थापना की। शंकर और रामा-नुज का अन्तर जीव और जगत् की सापेक्षिक सत्ता की स्वीकृति पर आधारित है। मध्व रामानुज के दृष्टिकोण को, यद्यपि प्राथमिक पादक्षेपों के रूप मे ग्राह्य मान करते थे तो भी उनसे सम्पूर्णतः वे सहमत न हो सके। इस असहमति के मूल में

किया हो। दक्षिण कन्नड़ में उस समय जैन-धर्म का सशक्त प्रभाव था। बारहवीं एवं तेरहवीं सदी ईस्वी में यह भाग किसी जैन शासक के अधीन था।[1] जैन-दर्शन से प्रमाण-मीमांसा एवं तत्व मीमांसा की दृष्टि से मध्व में अनेक समानताएं प्राप्त हैं। जाति एवं आत्मा की प्रत्यक्ष-प्रमाण-विषयता, जो अद्वैत-विरुद्ध है, सम्बन्धी विचार दोनों मतों में समान रूप से प्राप्य हैं। जैन-दर्शन के मनःपर्याय एवं केवल-ज्ञान मध्व के योगि-प्रत्यक्ष एवं केवल-प्रमाण के समकक्ष है। ज्ञान में ज्ञाता ज्ञेय एवं ज्ञान की त्रिपुटी का ज्ञात होना उभय-मत मान्य है।

जैन-दर्शन के मुख्य सिद्धान्त स्याद्वाद का मूल आधर वस्तु का अनन्त-धर्मात्मक होना है। वस्तु के शुद्ध रूप को न जानने के कारण प्रत्यय के स्वरूप में भी सप्तभंगित्व है संदिग्धता, 'इदमेतत्' की निश्चायक प्रतीति से भिन्न है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें धर्मों का आनन्त्य है। इसी पर जैन-दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण विवेचन एवं मान्यताएं आधारित हैं। मध्व ने भी जैन-दर्शन के प्रभाव के कारण वस्तु में असख्य विशेषों की मान्यता को स्थान दिया। ये विशेष ही वस्तु को विविध रूपों में दृश्य बनाते हैं। वस्तु को सम्भावित विविध रूपों में देख पाना इन्हीं विशेषों पर आधारित है। वस्तु जैन मत में धर्मात्मक मानी गई है, वैसे ही मध्व भी वस्तु से धर्म को अभिन्न मानते हैं। जीव और अजीव के भेद को भी मध्व ने स्वीकार ही किया है। सम्पूर्ण जगत् में जीवों का पाया जाना जैन-दर्शन ने स्वीकार किया है, वही मध्व की भी मान्यता है।[2]

मीमांसकों से असहमत होते हुए मध्व, जगत् के काल-सापेक्ष सृजन एवं विलय को मानते है। प्राभाकरों के समान भ्रान्ति के लिए 'अख्यातिसंवलितसत्यख्याति' जैसे भ्रमोत्पादक पदों का प्रयोग न करके सहज बोध्य पदों का प्रयोग करते हैं। भ्रम के विषय को नैयायिकों के समान अन्यत्र सत् न कहते हुए भी उसकी सत्ता के प्रति मध्व आश्वस्त हैं। अधिष्ठान एवं भ्रम विषय इन दोनों की स्थिति नितान्त आवश्यक मध्व ने मानी है। अतः स्वाप्न एवं माया-जन्य विषयों के असत् होने के कारण उनके सम्बन्ध में भ्रम के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[3]

पूर्वमीमांसा द्वारा श्रुति के अर्थ के सम्बन्ध में उपक्रम प्राबल्य को स्वीकार न करते हुए उपसंहारप्राबल्य को ही और अधिक सम्पुष्टि के साथ प्रतिपादित किया

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १२.

२. मध्व 'परमाणुप्रदेशपु ह्यनन्ता प्राणिराशयः।' विष्णु तत्व निर्णय, पृष्ठ ७६.

३. वही—'अधिष्ठानं च सदृशं सत्यवस्तुद्वयं विना।
न भ्रान्तिर्भवति क्वापि स्वप्नमायादिकेष्वपि।' पृष्ठ ५५.

के लिए विचार्य है।

वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुकरणधर्मा होने के कारण रामानुज एवं मध्व की समानता का उल्लेख अभी किया गया। सामान्यतः उनके मत की विभिन्नता की ओर भी संकेत किया गया। मध्व का अन्य मतों से महत्वपूर्ण भेद मोक्षावस्था का आनन्द भोग है। मध्व मानते हैं कि मोक्षावस्था में आनन्द के अनुभव करने वाले जीवों के आनन्दभोग में अन्तर है। ईश्वर जिस प्रकार से, जितनी मात्रा में आनन्द का अनुभव करता है, जीव उस तरहसे नहीं कर सकता। जीवों की एवं ईश्वर की क्षमता में अन्तर है। उसी प्रकार से जीवों की परस्पर भी क्षमताएं सदृश नहीं हैं। जिसमें जितनी सामर्थ्य होगी वह उतना ही आनन्द-भोग कर पायेगा। यह मध्व की आनन्दतारतम्य की मान्यता है। परवर्ती रामानुज विचारक परकालयति ने 'विजयीन्द्र पराजय' के प्रथम दो अध्यायों में इसका विस्तार से खण्डन किया है।

वेदान्त-सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती मतों से मध्व ने ग्रहण एवं त्याग दोनों प्रकार की वृत्ति का परिचय दिया है। इसी प्रकार अन्य दर्शन प्रणालियों से मध्व ने बहुत कुछ ग्रहण किया। चार्वाक मत का भारतीय-दर्शन के संपूर्ण विकास में घोर विरोध किया गया है। इस विरोध के दो मूल आधार रहे हैं। एक तो चार्वाक का भौतिक सुख के प्रति प्रबल आग्रह तथा दूसरा प्रत्यक्ष-प्रमाण के प्रति सुदृढतम आस्था। मध्व ने इसकी नास्तिकता एवं देहात्मवाद का खण्डन किया किन्तु प्रत्यक्ष-प्रमाण की सर्वातिशयतापूर्ण प्रामाणिकतर मध्व द्वारा स्वीकार की गई। मध्व साक्षि की स्थिति को बलपूर्वक प्रतिष्ठित करते हुए प्रत्यक्ष को ही सभी प्रकार के ज्ञान का आधार मानते हैं। अन्य विचारकों की तरह चार्वाक की सुखवादी मनोवृत्ति का विरोध न करते हुए, मध्व ने अपने कर्म भोगादि करने के लिए प्रेरित किया है। इस प्रेरणा में बंधन केवल एक ही प्रकार का है वह है कि ईश्वर के चरणों में विनम्र श्रद्धा रखते हुए ही उक्त कार्य में संलग्न रहना चाहिए।

अपने तत्व विवेचन में वर्ण के स्वरूप को महत्व देते हुए मध्व में मीमांसा मत के प्रभाव को ही व्यक्त किया है। श्रुति के मीमांसा-सम्मत स्वतः प्रामाण्य को मानते हुए भी वे समस्त श्रुतियों का केन्द्र ईश्वर को ही स्वीकार करते हैं। सभी कर्म यज्ञादि हरिनिमित्तिक ही होना चाहिए।

जैन एवं बौद्ध धर्मों की अहिंसा का प्रभाव भी मध्व पर पड़ा। यज्ञ में पशु की हिंसा के स्थान पर आटे में निर्मित पशु का यज्ञ में उपयोग मध्व ने प्रचलित किया। मध्व-विजयमें इस प्रकार के यज्ञ के किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] सम्भवतः ब्राह्मण-धर्म में सुधार की दृष्टि से मध्व ने इसका प्रवर्तन जैन प्रभाव के ही कारण

१. नारायण—मध्व विजय, ६।४५-५०.

मध्व मत की स्थापना के उपरान्त समकालीन एवं परवर्ती इतर वेदान्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों में द्वैत-मत की घोर आलोचना हुई और द्वैत-मत के आचार्यों ने भी विरोधी तर्कों का खण्डन किया। परिणामतः उभयपक्षीय विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। वातावरण में निषेधक रूप से ही ये सम्प्रदाय परस्पर प्रभावित कर सकते थे। परस्पर आदान-प्रदान का अन्य क्रम सम्भव भी नहीं था। अतः तात्विक रचना की दृष्टि से मध्व-मत का अन्यमतों पर, अन्य मतों का मध्व मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मध्व के उपरान्त मध्व का प्रभाव अनेक प्रकार के आन्दोलन में व्याप्त दृष्टि-गोचर होता है। दक्षिण भारत के हरिदास कूट के भक्ति से ओत-प्रोत आन्दोलन की ओर बहुत समय तक इतिहासकारों का ध्यान ही नहीं गया। प्रथम बार किटेल ने उनका उल्लेख किया।[1] हरि की प्रार्थनाओं को गाते हुए इस समाज के साधु यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे। जनसाधारण की भाषा में इन्होंने भजनों की रचना करके, गा-गाकर, उन्हें प्रचारित किया। ये सभी मध्व-मत के अनुगामी थे। भक्ति की प्रधानता को इन्होंने सर्वत्र प्रतिपादित किया। जगत् ईश्वर के अधीन है, यह भी उनके असंख्य पदों से ज्ञात होता है। व्यासतीर्थ भी इसी वर्ग के थे। दासों की यह परम्परा कन्नड़ में आज भी प्राप्त होती है, जो मध्वमत के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त व्यापक प्रभाव को सूचित करती है।

बंगाल में भक्ति की मान्यता का प्रसार चैतन्य के द्वारा किया गया। बंगाल के जन-जीवन में चैतन्य का प्रभाव अत्यन्त स्पृहणीय है। चैतन्य ने प्रारम्भिक दीक्षा केशव भारती नामक अद्वैतमतानुयायी सन्यासी से ली थी।[2] अठारहवीं सदी का लेखक बलदेव विद्याभूषण चैतन्य को मध्व-मत का अनुवर्ती मानता है। चैतन्य की कोई भी दार्शनिक रचना प्राप्त नहीं होती है, अतः किस सीमा तक मध्व का प्रभाव चैतन्य पर था, यह स्पष्ट कर पाना कठिन है। चैतन्य चन्द्रोदय नामक जीवनीपरक ग्रन्थ से उसकी दक्षिण-भारत की यात्रा की सूचना प्राप्त होती है। चैतन्य चरितामृत में भी उसकी उडिया यात्रा का उल्लेख है। दोनों ही सन्दर्भों से मध्व-मत की प्रशंसा चैतन्य द्वारा न की जाकर उनके प्रति विरोध ही ज्ञात होता है।[3] चैतन्य का उक्त विरोध सम्भवतः सम्पूर्ण मध्व-सम्प्रदाय से न होकर ज्ञान, कर्म एवं

---

१. नागवर्मन छन्दस्सु—किट्ल द्वारा सम्पादित, मंगलोर १८७५.

२. कविकर्णपूर—चैतन्य-चन्द्रोदय, पृष्ठ १४०.

३. कविकर्णपूर—'कियन्त एवात्र वैष्णवा दृष्टाः। तेऽपि नारायणोपासका एव। अपरे तत्ववादिनः। तेऽपि तथा विधा एव। निरवद्यं न भवति तन्मतम्।'
चैतन्य-चन्द्रोदय, पृष्ठ १७४.

है।[1]

न्यायवैशेषिक की पदार्थ मीमांसा को प्रायः मध्व ने सम्पूर्णतः स्वीकार करके अपने द्वारा प्रतिपादित भी अन्य अनेक पदार्थों को स्थान दिया है। पदार्थों के मूल-व्याख्यान एवं अवान्तर वर्गीकरण की दृष्टि से मध्व ने मीमांसा एवं न्यायवैशेषिक का उपयोग किया है। परिभाषाएँ भी अनेक ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली हैं। इस तथ्य को तत्व-विवेचन से सम्बन्धित अध्याय से प्रमाणित किया जा सकता है।

वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्तर्गत साक्षि, स्वप्रकाशकत्व, भावरूपाज्ञान माया, प्रतिबिम्ब आदि पर मध्व ने नवीन सामग्री दी है। अपने मत की यथार्थपरकता के आधार पर मध्व ने उक्त सभी धारणाओं को अपने मत में नवीन ढग से प्रतिष्ठित किया। स्वतंत्र, परतंत्र, साक्षि, भेद सविशेषाभिन्न अथवा धर्मिस्वरूप में प्राप्त, स्वरूप तारतम्य आदि की पृथक् विवेचना मध्व ने की है। इन सभी विवेचन प्रसगों को, भक्ति को आधार के रूप में ग्रहण करते हुए सुनियोजित करने के लिए द्वैत-मत की स्थापना हुई।

कुछ विद्वानों के अनुसार बौद्धों का वैदिक विरोध सहनशीलता की सीमा पार कर चुका था, अतः शंकर को बौद्ध-दर्शन के विरोध के कारण प्रतिष्ठा मिल सकी। मध्व ने शंकर के सिद्धान्तों में व्याप्त प्रच्छन्न-बौद्धता को स्पष्ट करके, बुद्ध-दर्शन के वास्तविक विरोधी मत के नाते अपनी स्थिति प्रतिपादित की।[2]

इस प्रकार की धारणा आग्रहपूर्ण है। शंकर को प्रतिष्ठा केवल विरोध प्रारम्भ कर देने मात्र से नही मिली। विरोध तो कुमारिल भट्ट ने भी किया था। भारतीय दर्शन के अन्य आस्तिक सम्प्रदायों ने भी किया था। शंकर को ही इतनी प्रतिष्ठा क्यों मिली ? इससे सिद्ध होता है कि विरोध उनके प्रभाव को वृद्धिगत करने के लिए सहायक अवश्य रहा, किन्तु उसके अतिरिक्त भी शंकर के व्यक्तित्व एव कृतित्व में अन्य भी महत्वपूर्ण विशेषताएँ रही होगी। मध्व का भी महत्व शंकर को विशेष-मत का अनुसरणकर्ता मात्र प्रमाणित कर देने में नही है। वह तो भेद के आधार पर ईश्वर, जीव एव जड़ तत्व की यथार्थपरक व्याख्या करने के कारण ही मान्य है। भारतीय-दर्शन के आदर्शवादी विचार की यथार्थवादी प्रतिक्रिया के पर्याय के रूप में स्थित होने के कारण मध्व की महत्ता है। अतः मध्व मत की स्थापना शंकर के विरोध एव वैष्णव सम्प्रदाय के विकास के अनुरोध पर आधारित है। इसको मध्व ने अपनी दृष्टि से उपस्थित कर दिया है।

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आव वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग दो, पृष्ठ ५४-५६.

२. डा० नागराज शर्मा—रेन आव रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ ७.

मध्व मत की स्थापना के उपरान्त समकालीन एवं परवर्ती इतर वेदान्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों में द्वैत-मत की घोर आलोचना हुई और द्वैत-मत के आचार्यों ने भी विरोधी तर्कों का खण्डन किया। परिणामतः उभयपक्षीय विपुल साहित्य का निर्माण हुआ। वातावरण में निषेधक रूप से ही ये सम्प्रदाय परस्पर प्रभावित कर सकते थे। परस्पर आदान-प्रदान का अन्य क्रम सम्भव भी नहीं था। अतः तात्विक रचना की दृष्टि से मध्व-मत का अन्यमतों पर, अन्य मतों का मध्व मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मध्व के उपरान्त मध्व का प्रभाव अनेक प्रकार के आन्दोलन में व्याप्त दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण भारत के हरिदास कूट के भक्ति से ओत-प्रोत आन्दोलन की ओर बहुत समय तक इतिहासकारों का ध्यान ही नहीं गया। प्रथम बार किटेल ने उनका उल्लेख किया।[1] हरि की प्रार्थनाओं को गाते हुए इस समाज के साधु यत्र-तत्र भ्रमण किया करते थे। जनसाधारण की भाषा में इन्होंने भजनों की रचना करके, गा-गाकर, उन्हें प्रचारित किया। ये सभी मध्व-मत के अनुगामी थे। भक्ति की प्रधानता को इन्होंने सर्वत्र प्रतिपादित किया। जगत् ईश्वर के अधीन है, यह भी उनके असंख्य पदों से ज्ञात होता है। व्यासतीर्थ भी इसी वर्ग के थे। दासों की यह परम्परा कन्नड़ में आज भी प्राप्त होती है, जो मध्वमत के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त व्यापक प्रभाव को सूचित करती है।

बंगाल में भक्ति की मान्यता का प्रसार चैतन्य के द्वारा किया गया। बंगाल के जन-जीवन में चैतन्य का प्रभाव अत्यन्त स्पृहणीय है। चैतन्य ने प्रारम्भिक दीक्षा केशव भारती नामक अद्वैतमतानुयायी सन्यासी से ली थी।[2] अठारहवीं सदी का लेखक बलदेव विद्याभूषण चैतन्य को मध्व-मत का अनुवर्ती मानता है। चैतन्य की कोई भी दार्शनिक रचना प्राप्त नहीं होती है, अतः किस सीमा तक मध्व का प्रभाव चैतन्य पर था, यह स्पष्ट कर पाना कठिन है। चैतन्य चन्द्रोदय नामक जीवनीपरक ग्रन्थ से उसकी दक्षिण-भारत की यात्रा की सूचना प्राप्त होती है। चैतन्य चरितामृत में भी उसकी उडिया यात्रा का उल्लेख है। दोनों ही सन्दर्भों से मध्व-मत की प्रशंसा चैतन्य द्वारा न की जाकर उनके प्रति विरोध ही ज्ञात होता है।[3] चैतन्य का उक्त विरोध सम्भवतः सम्पूर्ण मध्व-सम्प्रदाय से न होकर ज्ञान, कर्म एवं

---

१. नागवर्मन छन्दस्सु—किट्ल द्वारा सम्पादित, मंगलोर १८७५.

२. कविकर्णपूर—चैतन्य-चन्द्रोदय, पृष्ठ १४०.

३. कविकर्णपूर—'कियन्त एवात्र वैष्णवा दृष्टाः। तेऽपि नारायणोपासका एव अपरे तत्ववादिनः। तेऽपि तथा विधा एव। निरवद्यं न भवति तन्मतम्
चैतन्य-चन्द्रोदय- [illegible]

है ।[1]

न्यायवैशेषिक की पदार्थ मीमांसा को प्रायः मध्व ने सम्पूर्णतः स्वीकार करके अपने द्वारा प्रतिपादित भी अन्य अनेक पदार्थों को स्थान दिया है। पदार्थों के मूल-व्याख्यान एवं अवान्तर वर्गीकरण की दृष्टि से मध्व ने मीमांसा एवं न्यायवैशेषिक का उपयोग किया है। परिभाषाएँ भी अनेक ज्यों की त्यो स्वीकार कर ली हैं। इस तथ्य को तत्व-विवेचन से सम्बन्धित अध्याय से प्रमाणित किया जा सकता है।

वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्तर्गत साक्षि, स्वप्रकाशकत्व, भावरूपाज्ञान माया, प्रतिबिम्ब आदि पर मध्व ने नवीन सामग्री दी है। अपने मत की यथार्थपरकता के आधार पर मध्व ने उक्त सभी धारणाओं को अपने मत मे नवीन ढग से प्रतिष्ठित किया। स्वतंत्र, परतंत्र, साक्षि, भेद सविशेषाभिन्न अथवा धर्मिस्वरूप मे प्राप्त, स्वरूप तारतम्य आदि की पृथक् विवेचना मध्व ने की है। इन सभी विवेचन प्रसंगो को, भक्ति को आधार के रूप मे ग्रहण करते हुए सुनियोजित करने के लिए द्वैत-मत की स्थापना हुई।

कुछ विद्वानों के अनुसार बौद्धों का वैदिक विरोध सहनशीलता की सीमा पार कर चुका था, अतः शंकर को बौद्ध-दर्शन के विरोध के कारण प्रतिष्ठा मिल सकी। मध्व ने शंकर के सिद्धान्तों मे व्याप्त प्रच्छन्न-बौद्धता को स्पष्ट करके, बुद्ध-दर्शन के वास्तविक विरोधी मत के नाते अपनी स्थिति प्रतिपादित की।[2]

इस प्रकार की धारणा आग्रहपूर्ण है। शंकर को प्रतिष्ठा केवल विरोध प्रारम्भ कर देने मात्र से नही मिली। विरोध तो कुमारिल भट्ट ने भी किया था। भारतीय दर्शन के अन्य आस्तिक सम्प्रदायो ने भी किया था। शंकर को ही इतनी प्रतिष्ठा क्यों मिली ? इससे सिद्ध होता है कि विरोध उनके प्रभाव को वृद्धिगत करने के लिए सहायक अवश्य रहा, किन्तु उसके अतिरिक्त भी शंकर के व्यक्तित्व एव कृतित्व में अन्य भी महत्वपूर्ण विशेषताएँ रही होगी। मध्व का भी महत्व शकर को विरोध-मत का अनुकरणकर्ता मात्र प्रमाणित कर देने मे नही है। वह तो भेद के आधार पर ईश्वर, जीव एवं जड तत्व की यथार्थपरक व्याख्या करने के कारण ही मान्य है। भारतीय-दर्शन के आदर्शवादी विचार की यथार्थवादी प्रतिक्रिया के पर्याय के रूप मे स्थित होने के कारण मध्व की महत्ता है। अतः मध्व मत की स्थापना शकर के विरोध एव वैष्णव सम्प्रदाय के विकास के अनुरोध पर आधारित है। इसको मध्व ने अपनी दृष्टि से उपस्थित कर दिया है।

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आव वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग दो, पृष्ठ ५४-५६.

२. डा० नागराज शर्मा—रेन आव रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ ७.

अहमदनगर तक, गोदावरी के किनारे तक थी। देशस्थ ब्राह्मणों के अनेक परिवार मध्व-मत के कट्टर समर्थक के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

मध्व-विजय के अनुसार बदरी की यात्रा के लिए जाते और आते समय मध्व महाराष्ट्र में से होकर गए थे।[1] मध्व के अपने क्षेत्र के बाहर के प्रथम शिष्य पद्मनाभ से भेंट गोदावरी के किनारे ही हुई थी। ज्ञानेश्वरी में भी द्वैत मत का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[2] मध्व-सम्प्रदाय के व्यासरामाचार्य तथा आनन्दभट्टारक आदि परवर्ती आचार्य अहमदनगर के ही थे। प्रमुख मराठी कवि माध्व-मुनि (१६६०-१७३१) जन्मना मध्व-सम्प्रदायी ही थे।[3] मध्व का प्रभाव अवश्य इस क्षेत्र में था, किन्तु मराठी भाषा में इस सम्प्रदाय के ग्रंथों की रचना न हो सकने के कारण साम्प्रदायिक रूप में यह प्रसृत न हो सका। प्रोफेसर बनहट्टी जयतीर्थ को महाराष्ट्र का प्रमुख सन्त मानते हैं, तथा ज्ञानदेव नामदेव आदि के साथ उसके भी नाम ग्रहण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं।[4]

मध्व-सम्प्रदाय को प्रारम्भ में उत्तर कर्नाटक भाग में प्रश्रय प्राप्त हुआ। व्यास राय के काल में भी उस स्थान का साम्प्रदायिक महत्व था। विजयीन्द्रतीर्थ का भी प्रभाव क्षेत्र यही भू-भाग था। चालुक्य एवं पल्लव आदि राजाओं के काल में भी इस मत को यहाँ पर यह महत्व प्राप्त हुआ था।

पन्द्रहवीं सदी ईसवी के राजेन्द्रतीर्थ ने बिहार एवं बंगाल में इस मत का प्रसार किया। चैतन्य-सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती सन्त विष्णुपुरी के गुरु जयध्वज, राजेन्द्रतीर्थ के शिष्य थे। राजेन्द्रतीर्थ के शिष्य विष्णुदासाचार्य ने उत्तर भारत में मध्व मत की स्थापना की। राजेन्द्रतीर्थ के ही एक अन्य शिष्य विबुधेन्द्रतीर्थ ने कर्नाटक के विशेष भाग पर सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया।[5]

व्यासतीर्थ के शिष्य वादिराजतीर्थ ने भी गुजरात एवं कोंकण में मध्व-सम्प्रदाय का प्रचार किया। केलादि शासकों का आश्रय उसे प्राप्त था। आन्ध्र देश के कतिपय जिलों में मध्व के समय ही उनके शिष्य नरहरितीर्थ ने सम्प्रदाय का प्रचार किया। इस प्रकार मध्व के आठों-मठों ने भारतवर्ष के बहुत बड़े भू-भाग पर इस सम्प्रदाय को प्रचारित किया।

---

१. नारायण पण्डित, मध्व-विजय १०।४.

२. ज्ञानदेव—'प्रमेयप्रवालसुप्रभ द्वैताद्वैतनिकुम्भ।
सरिसे एकवटति इभमस्तकाकारि॥ ज्ञानेश्वरी, १।१७.

३. वी० एल० भावे, महाराष्ट्र सारस्वत, पृष्ठ १०२८.

४. प्रो० एस० एन० बनहट्टी—मराठी वाङ्मय आणि वैष्णव सम्प्रदाय, पृ० ४३-४४.

५. गुरुगुणस्तव ५.

भक्ति को मोक्ष के साधन के रूप मे मानने से था। चैतन्य केवल भक्ति को ही मोक्ष का साधन मानते हैं।

चैतन्य के उपरान्त उसके अनुवर्ती विचारकों मे रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि सभी स्पष्टतः मध्व से प्रभावित प्रतीत होते हैं। रूप गोस्वामी मध्व को न केवल उद्धृत करते हैं, अपितु उसकी वन्दना भी करते हैं।[1] रूप गोस्वामी की तुलना मे जीव-गोस्वामी मध्व से अधिक प्रभावित है। मध्व-मत की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी शंकर एवं रामानुज के उल्लेख इनके ग्रन्थो मे कम नही हैं।[2] 'सम्भवतः प्रारम्भिक चैतन्य अनुयायियो का दृष्टिकोण सर्वतः सग्रह करने का रहा हो। मध्व के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य को भी यह महत्व देते रहे हो, पर मध्व का इन पर प्रभाव निर्विवाद रूप से सिद्ध है। इन विचारकों ने अपने मत को शुद्ध वैष्णव मत कहा है।[3]

अठारहवी सदी के इसी सम्प्रदाय के राधादामोदर तथा बलदेव विद्याभूषण मध्व के प्रभाव को पूर्णतया व्यक्त करते हैं। 'वेदान्त-स्यमन्तक' नामक ग्रन्थ मे राधा-दामोदर ने मध्व के ब्रह्म-सूत्रभाष्य को उद्धृत किया है। राधादामोदर के शिष्य बलदेव विद्याभूषण ने आनन्दतीर्थ की अत्यन्त मुक्त कण्ठ से श्रद्धातिरेक स्वर मे प्रशंसा की है। मुख्य रूप से रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी तथा बलदेव विद्याभूषण इन तीन लेखको ने ही दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठा की। इनके पूर्व तक तो यह भक्ति-सम्बन्धी प्रबल आन्दोलन मात्र था। दार्शनिक व्याख्यान का आधार इसे नही मिल सका था। ब्रह्मसूत्र का भाष्य, सम्प्रदाय बनने के लिए, आवश्यक था। बलदेव ने गोविन्दभाष्य लिखकर उक्त अभाव की पूर्ति की। इस व्याख्यान मे स्थान-स्थान पर उसने मध्व के सिद्धान्तो एव तर्कों का उपयोग किया है।

डा० भण्डारकर ने अपने ग्रन्थ मे प्रतिपादित किया है कि महाराष्ट्र मे मध्व-मत का कोई प्रचार नही हुआ था।[4] भण्डारकर का उक्त निर्धारण न्यायसगत नही है। मध्व के काल से लेकर अद्यावधि दक्षिण महाराष्ट्र के कोल्हापुर, शोलापुर, सतारा, पूना, नासिक एवं अहमदनगर आदि जिलों मे मध्व-मत के प्रसार के चिन्ह प्राप्त होते हैं; बारहवी-तेरहवी सदी ईसवी मे इन क्षेत्रों मे पर्याप्त मात्रा मे कन्नड़ निवासियो के प्राप्त होने के सकेत उपलब्ध होते हैं। इनके प्रभाव की सीमा सम्भवतः

१. रूपगोस्वामी, लघुभागवतामृत, पृष्ठ ५५.

२. जीवगोस्वामी, षट्सन्दर्भ, पृष्ठ, १५, १८, ७७, ९३, १०१ आदि।

३. वही, पृष्ठ २०.

४. डा० आर० जी० भण्डारकर—वैष्णविजम शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ८४.

साम्य नहीं है। इसका मूल कारण मध्व पर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती यथार्थवादी दर्शन प्रणालियां न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग मीमांसा, यहां तक कि चार्वाक आदि का प्रभाव है।

मध्व पर इन दर्शन मतों के प्रभाव को स्पष्ट करने के लिये द्वैत-मत के मूल आधार, भेद की प्रतिष्ठा, पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। पूर्वोक्त सम्पूर्ण दर्शन सम्प्रदाय मुक्त-कण्ठ से अनेक परस्पर भिन्न पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। अर्थात् जो भेदात्मक दृष्टि पूर्वमतों की है, वही मध्व की भी है। इसके अतिरिक्त मध्व द्वारा प्रस्तुत पदार्थ-विवेचन के द्वारा भी उक्त निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। पदार्थों को दस भागों में मध्व ने विभाजित किया है। वे सभी न्याय-वैशेषिकादि से ग्रहीत हैं। कतिपय पदार्थ मध्व के अपने हैं। यहां तक कि उनकी परिभाषाओं में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

इस प्रकार मध्व, दर्शन एवं सम्प्रदाय के समन्वय के साथ ही यथार्थवादी मतों के प्रभाव के कारण, निष्कर्ष ग्रहण करने में पूर्व-क्रम से सर्वथा पृथक् स्थित रहे। इसी प्रसंग में यह भी विवेच्य है, कि मध्व ने कठोर भेदपरक दृष्टि रखने पर भी वेदान्त के सम्प्रदाय के रूप में ही अपने मत की प्रतिष्ठा क्यों की? सम्भवतः इसके मूल में वैष्णव-मत के प्रति आस्था ही प्रभावी रही होगी। वैष्णव मत का प्रभाव मध्व पर बहुत गहरा है, यह उनके प्रत्येक व्याख्यान से प्रमाणित किया जा सकता है। उस प्रभाव को परिव्यक्त न करते हुए भेदवादी दृष्टि से दार्शनिक प्रस्थान की निर्मिति मध्व को अभीष्ट रही होगी। ऐसी दशा में गीता ने मध्व को, सम्भवतः नई दिशा दी। वासुदेव और विष्णु को वैष्णव सम्प्रदाय में अभिन्न माना गया है। गीता में डा० भण्डारकर, डा० रायचौधरी आदि विद्वानों के अनुसार, वासुदेव की सर्वेश्वर के रूप में प्रतिष्ठा है। गीता वेदान्त-सम्प्रदाय के आधार-ग्रंथों में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गीता में मध्व को अपने व्याख्यान का आधार मिल गया होगा। परिणामतः वेदान्त-समुदाय में एकमात्र पूर्णतः यथार्थवादी चिन्तन-सारणि की अवस्थिति हुई। सम्भवतः सम्पूर्ण व्याख्यान का केन्द्र विन्दु होने के कारण ही मध्व ने अत्यन्त मनोयोग से 'गीता-भाष्य' की रचना की। इसीलिए 'महाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक प्रकरण ग्रन्थ की भी रचना उन्होंने की, क्योंकि गीता को सामान्यतः महाभारत का ही एक भाग माना जाता है।

वेदान्त-दर्शन के उपभेद के संस्थापक होने के कारण मध्व को भी तात्विक विवेचन में कुछ सीमाएं स्वीकार करनी पड़ीं। चार्वाक मत को छोड़कर प्रायः सभी दर्शन-सम्प्रदायों के विचारकों को किसी साहित्य विशेष का अनुसरण करते हुए ही विषय-प्रतिपादन करना पड़ता है। अन्य मतों की अपेक्षा वेदान्त में यह सीमा और

उपसंहार

"द्वैत-वेदान्त . तत्व-समीक्षा" नामक वर्तमान प्रबन्ध के विगत अध्यायो में मध्व द्वारा सुसयोजित, वेदान्त-दर्शन के द्वैत-वाद प्रतिपादक मत के मूल-तत्वों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस सम्पूर्ण व्याख्यान से मध्व और उनके अनुयायियो के दृष्टिकोण को समझने मे सुगमता हो सकती है ।

मध्व के मत-स्थापन के समय दो प्रकार की अत्यन्त प्रबल धाराएं प्रचलित थी। एक विशुद्ध ज्ञान परक तत्व-चिन्तन, दूसरी भावातिरेकपूर्ण साम्प्रदायिक आन्दोलन थी। बौद्ध-दार्शनिक एव शकराचार्य ने दर्शन के क्षेत्र मे ज्ञानाश्रयी परम्परा की सुदृढ स्थापना की। दूसरी ओर दक्षिण भारत मे विशेष रूप से और समग्र-भारत मे सामान्य रूप से वैष्णव-सम्प्रदाय का भी प्रचार हुआ। रामानुज शकर के परवर्ती एव मध्व के पूर्ववर्ती हैं। वे भी इस द्विविध प्रभावपूर्ण वातावरण के साक्षी थे। परिणामत. सर्वप्रथम रामानुज ने वैष्णव-सम्प्रदाय तथा दार्शनिक चिन्तन के समन्वय को उपस्थित किया। तत्व-मीमांसा के स्वरूपगत विवेचन मे अचित् तत्व की सापेक्षिक प्रतिष्ठा के हेतु, उसे उन्होने ब्रह्माश के ही रूप मे निरूपित किया। रामानुज के समान मध्व ने भी उक्त वातावरण से परिचय प्राप्त किया था, किन्तु दोनो आचार्यो की प्रतिक्रियाओ मे अन्तर है। दार्शनिक विवेचन एव वैष्णव-सम्प्रदाय के समन्वय की अपेक्षा मध्व को भी रामानुजके ही समान अनुभूति हुई और उन्होंने उसका अपने मत की स्थापना मे उपयोग भी किया, किन्तु तत्व-मीमांसा के विवेचन मे मध्व का मार्ग इन आचार्यो से सर्वथा भिन्न हो गया। जहा शकर पूर्णतः शुद्ध एव रामानुज प्रकारान्तर से अद्वैत प्रतिपादित करते है, वहा मध्व ने पूर्ण-रूपेण विरोधी धारणायें व्यक्त की। वे शुद्ध द्वैत के प्रबल समर्थक हैं। रामानुज ने विशुद्ध चिदात्मक ब्रह्म की अपेक्षा *चिदचिदात्मक तत्व की प्रतिष्ठा करके उपेक्षित जगत् तत्व की स्थिति को वेदान्त-दर्शन* के अन्तर्गत प्रकाशित करने का यत्न किया है। मध्व ने भी विवेचन मे इसी प्रकार के उपेक्षित तत्वो को महत्ता प्रदान की है। जहा तक ब्रह्म की निर्विकल्प, शुद्ध चैतन्यात्मक अखण्ड सत्ता से भिन्न विचार करने का प्रश्न है, रामानुज और मध्व समान रूप से विचार करते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त दिशागिति मे दोनो विचारको मे कोई

करने में वैष्णव-सम्प्रदाय का प्रभाव रहा होगा। इसके अतिरिक्त क्या यह संभव नहीं है कि मध्व को पूर्व स्वीकृत मान्यताओं की रक्षा के हेतु भी इतना व्यापक क्षेत्र निर्मित करना पड़ा हो। मध्व सांख्यादि की भेदात्मक दृष्टि से प्रभावित हैं, यह प्रमाणित किया जा चुका है। महाभारत, भागवत, पद्म तथा अन्य पुराणों में इसी प्रकार की दार्शनिक-दृष्टि के वाक्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं। अतः मध्व पर आक्षेप किया जा सकता है कि वेदान्त-वाक्यों में विशुद्ध भेदात्मकता की सिद्धि की असम्भावना के कारण उनके अर्थों को सीमित करने के लिए साक्षि-चैतन्य की मान्यता तथा स्वसम्मत वाक्यों की प्राप्ति के हेतु महाभारतादि की प्रतिष्ठा मध्व ने की।

इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि महाभारत अथवा पांचरात्र साहित्य दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना के हेतु, विश्वसनीय नहीं हैं। यहाँ आशय केवल यह है, कि वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्तर्गत उपमत संस्थापक एक आचार्य की दृष्टि उस दर्शन सम्प्रदाय के मूल ग्रन्थों के प्रति कैसी है? यह सम्पूर्ण सन्देह इसलिए विचार के विषय बनते हैं कि माध्व-मत ही वेदान्त सम्प्रदाय में विशुद्ध भेदवादी मत है।

आधार-ग्रन्थ विषयक निर्वाचन में मध्व की दृष्टि की विवेचना के साथ, मध्व द्वारा उद्धृत असंख्य सन्दर्भों की प्रामाणिकता सम्बन्धी मीमाँसा भी प्रसंग बाह्य नहीं होगी। मध्व के सम्पूर्ण-साहित्य में अन्य आचार्यों की अपेक्षा विस्तृत ग्रन्थ-राशि को सन्दर्भित किया गया है। वे प्रकीर्ण सन्दर्भ न केवल आधुनिक अपितु प्राचीन विद्वानों के लिए भी गम्भीर समस्या के रूप में थे। मध्व द्वारा प्रयुक्त ये सन्दर्भ तात्विक-मीमांसा, युक्ति के समर्थन, व्याकरणात्मक व्याख्या, पुराणशास्त्र सम्बन्धी प्रतिपाद, आचार-सम्बन्धी निर्देशनादि का समर्थन करते हैं। सर्वप्रथम अप्पय दीक्षित ने द्वैत-विरोधी ग्रन्थों में इस समस्या को पुरःस्थापित किया है कि मध्व के द्वारा प्रयुक्त असंख्य सन्दर्भ सन्दर्भित-ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होते अथवा वे ग्रन्थ ही अप्राप्त हैं। साथ ही उन ग्रन्थों की सत्ता को अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ-सन्दर्भों द्वारा प्रमाणित भी नहीं किया जा सकता।[1]

विजयीन्द्रतीर्थ आदि प्राचीन आचार्यों ने इसका समाधान प्रस्तुत किया है। आधुनिक विद्वान डा० बी० एन० के० शर्मा भी विजयीन्द्र का अनुसरण करते हुए व्यक्त करते हैं कि संभव है वे ग्रन्थ बाद में लुप्त हो गये हों। संस्कृत-भाषा के असंख्य ग्रन्थों की ऐसी ही दुर्दशा हुई है। इन सन्दर्भों के विरुद्ध कोई भाषा-शास्त्रीय आधार प्रस्तुत नहीं किया गया। सम्भव है विरोधी तर्क साम्प्रदायिक आग्रह से ग्रस्त हो। मध्व के काल में इन सन्दर्भों पर किसी ने शंका उपस्थित नहीं की। इस कथन के साक्ष्य में

१. मध्व—एष प्रकृतिः·········। 'पैंगी श्रुति, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२६ में उद्धृत।
'एषा ह्येवाव्यक्तः। महोपनिषद्, ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।४।२६ में उद्धृत।

भी अधिक कठोरता से व्यवहृत है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय मे तत्व-विवेचन की आधारभूमि के रूप मे मान्य साहित्य का व्याख्यान एवं वैयक्तिक वैचारिक क्षमता के प्रयोग का आकलन किया जाता है। ऋषियो के द्वारा पूर्व-संसूचित व्याख्यान की सर्वमान्यता को सुरक्षित रखते हुए नए मत की स्थापना एवं नवीन तत्वो का समायोजन व्यक्तिगत विचार-क्षमता के आधार पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने किया है। आधारभूत साहित्य के समान होने पर भी उनमें परस्पर पर्याप्त मत-विभिन्नता प्राप्त होती है। मध्व भी वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्तर्गत नवीन मत स्थापना के निर्णय से श्रुति-वाक्यो की प्रामाणिकता को पूर्वतः स्वीकार कर ही चुके थे। उपनिषद् वाक्य निष्पक्ष रूप से अद्वैत अथवा द्वैत मात्र प्रतिपादित करते हो, ऐसा भी नही था। उनमे सभी प्रकार के वाक्यो के प्रयोग थे। मध्व की मान्यताओ के विरुद्ध भी असख्य श्रुतिया थी। उनकी व्याख्या के लिए मध्व ने साक्षित को उपजीव्य प्रमाण माना है। प्रत्यक्ष की प्रामाणिक स्थिति का निर्णय करने वाला जीवस्थ चित् तत्व साक्षि है[1] अर्थात शब्दान्तर से शुद्ध-प्रत्यक्ष को ही मध्व ने श्रुति के वास्तव अर्थ का निर्णायक मान लिया। डा० बी० एन० के० शर्मा अपने साम्प्रदायिक उत्साह मे इसे वैचारिकता का प्रशसनीय समर्थन मानें,[1] किन्तु वस्तुतः मध्व के इस निर्णय ने श्रुति की अर्थव्यक्ति की सीमाओ को बहुत सकुचित कर दिया। साथ ही शकर और रामानुज की तुलना मे मध्व ने श्रुति-व्याख्यान का सुगम मार्ग भी खोज लिया। जो प्रत्यक्षसिद्ध है वही ग्राह्य है, अन्य नही। जबकि अपनी विलक्षण प्रतिभा से शकर तथा रामानुज ने समस्त श्रुतिवाक्यो की अवज्ञा किए बिना उनका यथासम्भव स्वमतप्रतिपादक व्याख्यान प्रस्तुत किया है। मध्व के लिए निर्गुण श्रुतियां साक्षि-सिद्ध न होने के कारण मूल्य-हीन हो गई। यह दृष्टि भारतीय दर्शन के मान्य आचार्य की प्रतिष्ठा के अनुकूल नही है।

यहा पर यह भी उल्लेखनीय है, कि एक ओर जहां मध्व श्रुतिवाक्यो की यथार्थता पर दृढता-पूर्वक सन्देह करते हैं, वही वे उपनिषद् गीता एव ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य पौराणिक साहित्य महाभारत, भागवत आदि को तथा पाञ्चरात्र सहिताओं को भी प्रामाणिक मानते हैं। श्रुति सम्पोषक शब्द प्रमाण को वर्तमान प्रत्यक्षाश्रित ही मानते हुए उसकी सीमा को सकुचित करने मे प्रयत्नशील है, साथ ही पौराणिक प्रकृति के ग्रन्थों को शुद्ध-दर्शन के क्षेत्र मे आप्त-वाक्य की स्थिति मे स्थापित करके आप्त-वाक्य की सीमा को विस्तृत करने का प्रयास भी करते हैं। इस अन्तर्विरोध का मध्व के पास क्या समाधान है ?

इतने विशाल साहित्य को आधारभूत ग्रन्थ-राशि के रूप मे प्रमाणार्थ ग्रहण

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—फिलासफी आव श्री मध्वाचार्य, पृष्ठ १०.

विशिष्ट द्रव्य के विभागों की स्वीकृति के रूप में भी प्राप्त होता है। पदार्थों की संख्या में वृद्धि, मीमांसा, सांख्य आदि के प्रति मध्व की अनुकूलता भले ही सिद्ध करे, किन्तु वे पदार्थ मध्व की अतिवादी दृष्टि के परिचायक हैं। विशिष्ट अथवा अंशि को पृथक पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है? विशेषण की सत्ता स्वीकार कर लेने मात्र से विशिष्ट की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार अंशि की मान्यता की भी युक्त्यनकूलता सिद्ध कर पाना कठिन है। पदार्थों के स्वरूप-निर्धारण में मध्व के इस आग्रह के मूल में, तत्वविवेचन में स्वीकृत, किसी स्वीकृत विशेष को सबल प्रमाणित करना है। विशिष्ट को पृथक पदार्थ इसलिए निरूपित किया कि विशेष नामक पृथक महत्वपूर्ण मान्यता द्वैत-मत में प्रतिपादित है। इसी भाँति अंशि के नवीन पदार्थ के रूप में ग्रहण करने में ईश्वर की स्वरूपांश एवं भिन्नांश की कल्पना भी है। अवतार ईश्वर के स्वरूपांश एवं जीव उसके भिन्नांश माने गए हैं इन अंशों के अंशी की ही इस मत में स्वतंत्र तत्व के रूप में मूलतः स्थिति है, परिणामतः उक्त मान्यता की सम्पुष्टि के लिए पृथक पदार्थ के रूप में अंशि का ग्रहण किया है। द्रव्य के वर्गीकरण में भी वर्ण प्रतिबिम्ब लक्ष्मी आदि का ग्रहण किया गया है, लक्ष्मी की मान्यता तो रामानुज एवं वैष्णव-मत के प्रभाव के रूप में समाहित भी की जा सकती है किन्तु वर्ण के पृथक द्रव्य के रूप में ग्रहण करना वैयाकरण एवं मीमांसानुकूल आचरण मात्र है। वर्णों की अर्थ-प्रत्यायकता को ध्यान में रखते हुए मध्व ने इसे भिन्न द्रव्य माना है। मीमांसा में श्रुति-व्याख्यान के प्रति प्रमुखतः प्रसक्ति होने के कारण वर्ण और पदजातकी की महत्वपूर्ण स्थिति है। व्याकरण शास्त्र तो वर्ण और उसके समुदाय शब्द का अनुशासन ही है। इन दो मतों में वर्ण के स्वरूप के विषय में विस्तृत जिज्ञासा अपेक्षित है एवं उपयुक्त है। माध्व-मत में वर्ण को महत्वपूर्ण मानने का कोई स्पष्ट कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत मीमांसा-दर्शन ने जहां श्रुति सामान्य की परम प्रतिष्ठा के प्रतिपादन को लक्ष्य करके वर्ण की विवेचना की है, वहीं मध्व ने वर्तमान साक्षि-चैतन्य के सम्मुख विरोध उपस्थित होने की स्थिति में श्रुति की अग्राह्यता स्वीकार करते हुए भी वर्ण नामक द्रव्य का भिन्न रूप से ग्रहण किया है।

अविद्या को भी मध्व शंकर के समान सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय न मानकर सत् मानते हैं। जीव के साथ उसके सम्बन्ध को भी नित्य ही माना गया है। उपाधि भी नित्यानित्य रूप दो प्रकार की है। स्वरूपोपाधि को मध्व नित्य मानते हैं। अविद्या एवं उपाधि की नित्यता मध्व सम्भवतः जीव की भिन्न स्थिति एवं पारमार्थिक सत्ता को ग्रहण करने के कारण स्वीकार करते हैं।

मध्व भी वैशेषिक मत के समान गुणों के विवेचन में भावात्मक गुणों का भी आकलन करते हैं। गुणों की संख्या उन्होंने अनन्त मानी है। यदि वे अनन्त नहीं हैं तो ईश्वर की अनन्तगुणयुक्तता की सिद्धि कैसे होगी?

डा० शर्मा ने मध्व-विजय को प्रमाण के रूप में सकेतित किया है।[1] किन्तु यदि किसी दोष का उल्लेख किसी काल विशेष मे न करने से वह दोष गुण कैसे बन जावेगा ? परवर्तीकाल में उस पर सन्देह किया जा सकता है साथ ही मध्व-विजय तो मध्व की जीवनी का अत्यन्त श्रद्धा एव अतिरेक-पूर्ण वर्णन है। यदि कही शका उठाई भी गई होगी तो क्या उस भक्त शिष्य से उसके उल्लेख की अपेक्षा की जा सकती है ?

डा० शर्मा के तर्क सत्य के पर्याप्त समीप भी हों तो भी सन्दर्भ-विषयक सन्देह का निराकरण तो नही होता। आधार ग्रन्थों के अभाव मे जितनी सम्भावना उन सन्दर्भों के स्थित होने की है उतनी ही उनके न रहने की भी है। वेदान्त के व्यापक सन्दर्भों को छोड़कर ऐसे लुप्त-प्राय सन्दर्भ देने की अभीप्सा मध्व की क्यों रही ?

वैदिक-साहित्य के प्राचीनतम स्तर से लेकर उत्तर वैदिक काल तक के व्यापक सन्दर्भों का प्रयोग अत्यन्त उदारतापूर्वक उपयोग मध्व ने किया है, किन्तु श्रुति-वाक्यों का विषयपरक (आब्जेक्टिव) विवेचन न करके अन्य आचार्यों के समान विषयीपरक (सब्जेक्टिव) व्याख्यान ही किया है। वेद के मत्र संहिता एव ब्राह्मण में यथावत प्राप्त तत्व-साहित्य को भेदात्मक दृष्टि से ही सकलित किया है, अतः उनका दर्शन श्रुति-मूलक अवश्य है, पर सर्वांशतः श्रुत्यिनुगत हो यह सदिग्ध है।

इसके अतिरिक्त विष्णु की प्रतिष्ठा अत्यन्त महनीयता के साथ मध्व स्वीकार करते हैं। सम्पूर्ण श्रुतियों का प्रतिपाद्य विष्णु ही है। वैदिक देवताओं मे भी सर्वाधिक उत्कृष्टता विष्णु की ही मध्व ने स्वीकार की है। सहिता-भाग में इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि प्रमुख देवताओं के समान ही विष्णु का भी वर्णन है। सहिता के ही उत्तरवर्ती भाग मे एकदेववाद की मान्यता प्राप्त होने लगती है। कही पर भी केवल विष्णु का सभी देवताओ के ऊपर अधिष्ठित होना प्राप्त नही होता। यही निष्कर्ष ग्रहण कर पाना सम्भव है कि सभी देवों मे एक ही शक्ति है। इन्द्र, मरुत आदि किसी को भी समान-रूप से उस शक्ति का केन्द्र माना जा सकता है, अतः मध्व का विष्णु सर्वोत्कृष्टता, अन्य देवों की इसके प्रति अधीनता के अन्वेषण के प्रयत्न मे वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित दृष्टि का अस्थान में विनियोग है। परकालीन धारणा के आधार पर पूर्वकालीन साहित्य की विवेचना मे दोष भले हो हो किन्तु मध्व ने ही पहली बार समूचे साहित्य में भेद-परक वाक्यों के उद्धरण की विस्तृत परम्परा उपस्थित की।

मध्व ने पदार्थों के वर्गीकरण मे पूर्ववर्ती दर्शन-सम्प्रदाय, न्याय वैशेषिकादि, को आधार के रूप मे निसदिग्ध रूप से ग्रहण किया है। वैशेषिक द्वारा स्वीकृत प्रायः सभी प्रकार के पदार्थ द्वैत मत की पदार्थ-मीमासा मे हैं। उन पदार्थों के अतिरिक्त

---

१. डा० बी० एन० के० शर्मा—ए हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आफ वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर, भाग १, पृष्ठ ११५.

परक व्याख्यान के हेतु मध्व ने निर्गुणता का अर्थ त्रैगुण्य का अभाव माना है। ईश्वर का स्वतंत्रत्व मध्व सम्प्रदाय में इतनी उत्कटता से प्रतिपादित किया है कि कुछ विचारक इसे अद्वैतवादी दर्शन ही मान बैठे। इस भ्रान्ति के मूल में जीव और जड़ की ईश्वर के प्रति सत्ताविषयक अधीनता का विवेचन है। मध्व मानते हैं कि सत्ता की प्राप्ति का हेतु भी ईश्वर ही है। यह कथन जगत् के विषय में अधिक दृढ़ता से कहा गया है। जगत् की सत्ता की ब्रह्म से प्राप्ति मानने पर, अन्ततः उसका ब्रह्म में विलीन होना भी प्रमाणित होता है किन्तु जगत् की सत्ता की उपलब्धि को मध्व-सम्मत दृष्टि से समझने का प्रयास करें तो उक्त-भ्रान्ति की सम्भावना ही नहीं रहेगी। सत्ता की प्राप्ति को 'पराधीनविशेषाप्ति' नामक पद से स्पष्ट किया गया है। पराधीनविशेषाप्ति का अभिप्राय ब्रह्म के अधीन विशेष रूप को प्राप्त करना। अर्थात् विशेष रूप में परिवर्तित अथवा अभिव्यक्त होने के लिए इन पदार्थों की स्थिति ब्रह्माधीन है। सत्ता तो इन पदार्थों की आत्यन्तिक रूप में है ही।

बहुत्ववादी दृष्टि में जीवों की परस्पर भिन्नता के प्रतिपादन का प्रयास किया जाता है। सांख्य ने भी कतिपय युक्तियां दी हैं। वे सभी देह की विविक्त स्थिति मात्र प्रमाणित करती हैं। मध्व ने अहंकार को जीव से अभिन्न माना है। अहंकार के आधार पर जीव वैविध्य की प्रतिष्ठा मध्व ने की है। जीव और ईश्वर में चैतन्यात्मकता की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जीव और स्वप्रकाशकता ईश्वर के अधीन है। जीव की प्रकाशकता को ब्रह्माधीन मानने में उसकी चैतन्यात्मकता की ब्रह्म से समानता कैसे प्रमाणित होगी? जीव के लिए देह की अनिवार्यता म व ने ग्रहण की है। यह देह चैतन्यात्मक एवं आनन्दात्मक है। पांचभौतिक मात्र नहीं। इसी पर जीव आश्रित है। यदि चित् और आनन्द देह हैं, तो फिर मध्व-सम्मत जीव का स्वरूप क्या है? यदि यह उसका स्वरूप है, तो फिर उसकी देह-सम्बन्धी नित्यता का भी व्याख्यान कैसे किया जा सकेगा? जीव-विषयक विवेचना में मध्व की स्वरूप-तारतम्य नामक उल्लेखनीय मान्यता है। जीव की भिन्नता के स्वीकार करते ही स्वरूप तारतम्य को ग्रहण करने की सम्भावना बढ़ जाती है। जीवों की क्षमताएं परस्पर भिन्न हैं। व्यवहार क्षमता के बलाबल को ग्रहण करना आवश्यक है। मध्व ने दृढ़तापूर्वक इस प्रकार के जीव-वर्ग को माना है, जो कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

स्वप्न एवं भ्रम के आधार पर अद्वैत-वेदान्ती विचारक जगत् की सत्ता को मिथ्या प्रमाणित करते हैं। मध्व ने स्वप्न को भी सत् माना है तथा भ्रम में भी दो वस्तुओं की सत्ता का प्रसंग उपस्थित होने से दोनों के आधार पर जगत् मिथ्यात्व प्रमाणित कर पाना असम्भव है। जगत् की पूर्ण सत्ता प्रामाणिक मानने के कारण द्वैत-विचारकों ने दृढ़तापूर्वक उसका समर्थन प्रबलतर युक्तियों से किया है। द्वैत-अद्वैत

पदार्थ-वर्गीकरण मे मध्व अत्यन्त उत्साहपूर्वक सलग्न हैं। अनेक भेद एव उपभेदो को वह स्वीकार करते हैं। इसके प्रति आग्रह कभी-कभी तर्कासह हो जाता है। उदाहरण के लिए मध्व बुद्धि को गुण और द्रव्य दोनो ही मानते हैं। इस प्रकार के अनेक तत्व है जो गुण भी है एव द्रव्य भी। दोनो पदार्थो (गुण एव द्रव्य) की परिभाषाए मध्व ने भिन्न-भिन्न निरूपित की है। यदि वे भिन्न न होते तो दो पदार्थो के रूप मे उनका परिगणन कैसे होता ? यदि वे भिन्न पदार्थ हैं तब इस सम्प्रदाय मे बुद्धि आदि को एक साथ गुण और द्रव्य दोनो ही पदार्थो का प्रतिनिधि कैसे माना जा सकेगा ? इसका समाधान भी युक्ति-सगत रूप से द्वैत-सम्प्रदाय के लेखको द्वारा नही किया जा सका है।

पदार्थ विवेचन मे 'विशेष' नामक तत्व का परिगणन एव व्याख्या मध्व की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विशेष वस्तुओं के भेद का निर्वाह तो है ही, साथ ही वह भेद न होने पर भी भेद कथन को प्रतिपत्ति भी करता है। वैशेषिक के विशेष से उसका यही अन्तर है। गुण और द्रव्य मे अभेद है, किन्तु अभेद होते हुए भी भेद कथन का निर्वाह करना अत्यन्त आवश्यक है। 'विशेष' नामक तत्व उक्त कथन के निर्वाह को उपस्थित करता है। 'विशेष' की मान्यता ही, वस्तु मे असख्य गुणो की परस्पर अविरुद्ध रूप मे स्थिति, प्रमाणित करती है। 'स्वरूपभेद' भी विशेष के कारण ही सिद्ध है। वैशेषिक के विशेष का क्षेत्र केवल नित्य-तत्वो तक ही है जबकि मध्व-मत प्रतिपादित विशेष नित्य-अनित्य सभी पदार्थो मे है। यह विशेष नामक मान्यता दो दृष्टियो से उपयोगी है। एक तो वस्तुओ के परस्पर वैभिन्य को इसी के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। दूसरा जैन मत की वस्तु मे अनन्त-धर्मात्मकता की सिद्धि भी इसी के द्वारा सम्भव है। ईश्वर की सर्व-गुण-सम्पन्नता तथा जीव एव जड़ की पारस्परिक स्पष्ट भिन्नता के प्रमाणीकरण मे विशेष की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस प्रकार विशेष का यह स्वरूप अन्य पूर्ववर्ती मत की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एव युक्ति-सिद्ध है।

भेद को द्वैत-मत के विचारक बहुत अधिक महत्त्व देते है। इसीलिए भेद की पृथक् रूप से सिद्धि की विवेचना की गई है। वस्तु के स्वरूप से भेद को अभिन्न माना गया है। इसके विरोध मे अद्वैत के श्रीहर्ष, चित्सुख, नृसिंहशर्मा आदि विद्वानो ने प्रबल युक्तिया प्रस्तुत की हैं। उनके प्रत्युत्तर के लिये सन्नद्ध न होकर, द्वैतानुयायी विचारक 'अभेद' के खण्डन मे ही व्यस्त रहे। भेद के स्वरूप के प्रति इनका दृष्टिकोण पर्याप्त आग्रहपूर्ण है। खण्डन के प्रति अधिक उन्मुख न होकर स्वरूपभेद की मीमासा एव स्थापना मे प्रवृत्त होना चाहिये था।

वैष्णवमत एव रामानुज के विष्णु को मध्व ने भी ग्रहण कर लिया। विष्णु, सगुणब्रह्म अथवा ईश्वर के लिए ही प्रयुक्त है। निर्गुणता प्रतिपादक श्रुतियो के विष्णु,

महत्त्वपूर्ण स्थान मध्व ने स्वीकार किया है। रामानुज के समान यह ज्ञान को महत्त्व नहीं देते। उनके अनुसार सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के मूल में भी भक्ति है। ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त भी भक्ति है। मुक्ति के उपरान्त भी भक्ति की ही सर्वतो-व्याप्त महत्ता प्रतिष्ठित है। भक्ति की इतनी सशक्त स्थापना अन्य किसी वैष्णव आचार्य ने नहीं की।

वेदान्त का यह द्वैत-सम्प्रदाय अपनी अनुपलब्धियों के कारण उपेक्षित न होकर अन्य मत के प्रति अधिक आस्थावान होने के कारण त्याज्य रहा। शंकराचार्य के समान समर्थ आचार्य के द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध नए मत के सूत्रपात का साहस मध्व की महत्त्वपूर्ण क्षमता है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद के क्षेत्र में मध्व ने अनेक उल्लेखनीय स्थापनाएं प्रतिपादित की हैं। इसलिए इस मत का विधिवत एवं विवेचन बहुत आवश्यक है।

सम्प्रदाय के विचारको मे इस तथ्य को लेकर भी गम्भीर मतभेद है। इस विषय मे खण्डन-मण्डन की विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। सृष्टि-प्रक्रिया मे मध्व सांख्य-सम्मत धारणाओं को ही स्वीकार करते है।

भेद, जगत्, ईश्वर आदि मान्यताओं के विषय में द्वैत एव अद्वैत में अत्यन्त तीव्र विवाद हुआ है। अनेक प्रतिस्पर्धी आचार्यो ने अपनी सम्पूर्ण कृतियो मे परस्पर विवाद का ही उपयोग किया है। इस सम्पूर्ण खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य पर दृष्टि-पात करने से द्वैत-मत से सहमत हो पाना कठिन है। मध्व का सम्पूर्ण विवेचन अद्वैत मत के व्यावहारिक सत्तावान् विषयो पर आधारित है। उस दशा मे शंकर भी वस्तुओं का किसी प्रकार का अभाव या अयथार्थता नही मानते। जाग्रत-अवस्थागत वस्तुओ का मिथ्यात्व पारमार्थिक क्यो देखा जाय? साथ ही क्या वस्तु का विवेचन एक ही दृष्टि से संभव है। सामान्य व्यवहार एवं पारमार्थिक सत्व दोनो के आधार पर मीमासा करने से ही वस्तु जात का स्वरूप निश्चित हो सकता है। मध्व ने दोनो मे कोई भेद न मानते हुए जगत् मिथ्यात्व के विरोध में जितने भी तर्क दिए हैं, वे सभी शकर के व्यावहारिक सत्व की प्रतिष्ठा से व्यर्थ हो जाते हैं। व्यवहारतः जगत् सर्वथा उपयोगी एव तत्व-सम्पन्न है। आत्यन्तिक ज्ञान की उपलब्धि के उपरान्त ही उसका मिथ्यात्व, मायाजन्यत्व प्रमाणित होता है। इसीलिए प्रयत्न करने पर भी द्वैत-मतवादी अद्वैत के विरुद्ध समर्थ युक्तियो की स्थापना नही कर सके।

भारतीय चिन्तन मे यथार्थ एव आदर्श दोनों प्रकार के चिन्तन-क्रम प्राप्त होते हैं। सांख्य न्याय वैशेषिक आदि यथार्थपरक पक्ष के प्रतिनिधि हैं। शकर आदि आचार्य आदर्शवाद के पोषक हैं। मध्व भी शकर के उपरान्त उत्पन्न होने वाले यथार्थवादी चिन्तक हैं। शकर के पूर्व अनेक मत-मतान्तर आदर्शवाद के विरुद्ध प्राप्त होते हैं किन्तु उनके उपरान्त उस पक्ष के प्रतिनिधि केवल मध्व हैं। मध्व ने पूर्व-विचारकों की स्थापनाओ को ज्यो का त्यों स्वीकार नही किया अपितु अपनी मौलिक क्षमता का भी विनियोग यथार्थ की स्थापना मे किया है।

ज्ञान और भ्रान्ति के स्वरूप के विषय में मध्व एवं पूर्ववर्ती यथार्थवादियो के विचारों मे अन्तर है। स्मृति की प्रामाणिकता, साक्षि की सभी प्रकार के ज्ञान के प्रति आधारत्व, ज्ञान के प्रामाण्य ग्रहण के हेतु, आदि विषयो में मध्व का महत्वपूर्ण योग-दान है। समवाय की सत्ता भी मध्व ने ग्रहण नही की। गुण और द्रव्य के सम्बन्ध के विषय में न तो वह न्याय-वैशेषिक के समान उसे सर्वथा भिन्न मानते हैं और न रामानुज के समान समवाय रूप। इस प्रकार मध्व पूर्ववर्ती मान्यताओं में अनेक परि वर्धन-संशोधन आदि करते हैं।

वैष्णव-मत के विकास मे मध्व के योगदान की दृष्टि से भक्ति का अत्यन्त

जयतीर्थ	—	न्यायसुधा
,,	—	तत्वप्रकाशिका
,,	—	उपाधिखण्डन टीका
,,	—	मिथ्यात्वानुमानखण्डन टीका
जयतीर्थ	—	तत्वोद्योत भाष्य
,,	—	तत्वविवेक भाष्य
,,	—	तत्वसंख्यान भाष्य
व्यासतीर्थ	—	न्यायामृत
,,	—	मन्दार मंजरी टीका
,,	—	मायावादखण्डन भाष्य
,,	—	तत्वविवेक पर मन्दारमंजरी टीका
,,	—	तात्पर्य चन्द्रिका
,,	—	तर्क ताण्डव
,,	—	भेदोज्जीवन
व्यास रामाचार्य	—	न्यायामृतपदतरंगिणी
श्रीनिवासाचार्य	—	न्यायामृत प्रकाश
वादिराज	—	युक्तिमल्लिका
त्रिविक्रमपंडित	—	तत्व-प्रदीप
सुरोत्तम तीर्थ	—	भाव-विलासिनी
वेदगर्भ-पद्मनाभसूरि	—	मध्वसिद्धान्तसार
पद्मनाभसूरि	—	पदार्थ संग्रह
छलारी शेषाचार्य	—	प्रमाण-चन्द्रिका
पद्मनाभतीर्थ	—	सन्न्यायमुक्तावली
विष्णुदासाचार्य	—	वादरत्नावली
विजयीन्द्रतीर्थ	—	मध्वाध्वकण्टकोद्धार
वादिराजतीर्थ	—	तत्वप्रकाशिका गुर्वर्थदीपिका
,,	—	मध्वमुखालंकार
,,	—	युक्तिमल्लिका
राघवेन्द्रतीर्थ	—	तत्वप्रकाशिकाभावदीप
वनमालिमिश्र	—	चण्डमारुत

ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रन्थ--

मध्वाचार्य — ब्रह्मसूत्र भाष्य
,, — भगवद्गीता भाष्य
,, — छांदोग्य-उपनिषद् भाष्य
,, — तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य
,, — कठोपनिषद् भाष्य
,, — मण्डूक-उपनिषद् भाष्य
,, — अनुव्याख्यान
— मायावादखण्डन
— मिथ्यात्वानुमानखण्डन
— तत्वोद्योत
— तत्वविवेक
— तत्वसंख्यान
,, — न्याय-विवरण
,, — विष्णु-तत्व-निर्णय
,, — कर्म-निर्णय
,, — प्रमाण-लक्षण
,, — भागवत-तात्पर्य-निर्णय
,, — महाभारत-तात्पर्य निर्णय
,, — गीता-तात्पर्य
,, — द्वादशस्तोत्र

तात्पर्य-दीपिका	—	सुदर्शनाचार्य
थीइज्म इन मेडिवल इंडिया	—	कारपेन्टर
दशश्लोकी	—	निम्बार्काचार्य
द सांख्य सिस्टम	—	ए० बी० कीथ
द फिलासफी आव भेदाभेद	—	पी० एन० श्रीनिवासचार्य
द्वैत फिलासफी एण्ड इट्स प्लेस इन द वेदान्त	—	एच० एन० राघवेन्द्राचार
नागवर्मनछन्दस्मु	—	किटल
नैष्कर्म्य सिद्धि	—	सुरेश्वराचार्य
न्यायकुसुमांजलि	—	उदयन
न्यायकन्दली	—	श्रीधर
न्यायसूत्रभाष्य	—	वात्स्यायन
न्यायमकरन्द	—	आनन्दबोध
न्यायवार्त्तिक	—	उद्योतकर
रत्नावली	—	नागार्जुन
प्रेसीडेन्शियल एड्रेस डिलीवर एट इण्डियन कांग्रेस, आगरा	—	टी० एन० रामचन्द्रन
ब्रह्मसिद्धि	—	मण्डनमिश्र
ब्रह्मसूत्र	—	बादरायण
ब्रह्मसूत्र अनुभाष्य	—	वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्रअणुभाष्य टीका	—	पुरुषोत्तम
ब्रह्मसूत्रभाष्य	—	भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्रभाष्य	—	शंकराचार्य
भक्तमाल	—	नाभाजी
सर्वसंवादिनी	—	जीव गोस्वामी
भारतीयतत्त्वविद्या	—	पं० सुखलाल संघवी
भारतीयदर्शन	—	वाचस्पति गैरोला
,,	—	आचार्य बल्देव उपाध्याय
मांडूक्य कारिका भाष्य	—	शंकराचार्य
मध्व टू व्यास	—	बी० वेंकोतराव
मराठी वाङ्मय आणि वैष्णव सम्प्रदाय		एस० एन० बनहट्टी

सन्दर्भ ग्रन्थ—

अधिकरण-संग्रह — निर्भयराम

अद्वैत-ब्रह्म-सिद्धि — मधुसूदन

अरली हिस्ट्री आव द वैष्णव सेक्ट — डा० हेमचन्द्रराय चौधरी

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता — ए० एस० कीथ द्वारा प्रकाशित

इण्डियन फिलासफी — डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

" — डा० सी० डी० शर्मा

ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव उपनिषदिक फिलासफी — रानाडे

एन आउट लाइन आव मध्व फिलासफी डा० ए० के० नारायण

एन इन्ट्रोडक्शन आव चतुस्सूत्री मध्वभाष्य डा० बी० एन० के० शर्मा

एन इन्ट्रोडक्शन टु पांचरात्र — श्रैडर

ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी — डा० एस० एन० गुप्ता

ए हिस्ट्री आव द्वैत स्कूल आव वेदान्त एण्ड इट्स लिटरेचर — डा० बी० एन० के० शर्मा

कठोपनिषद् भाष्य — शंकराचार्य

" — रामानुजाचार्य

खण्डन-खण्ड-खाद्य — श्रीहर्ष

गीताभाष्य — शंकराचार्य

" — रामानुजाचार्य

गोविन्दभाष्य — बल्देव विद्याभूषण

चैतन्य चन्द्रोदय — कविकर्णपूर

छान्दोग्य उपनिषद् शांकरभाष्य टीका — आनन्दगिरि

डेवलपमेण्ट आव संस्कृत एण्ड विजयनगर श्रीकण्ठ शास्त्री

तर्कभाषा — केशव मिश्र

तर्कसंग्रह दीपिका — अन्नम भट्ट

तत्त्वत्रय — लोकाचार्य

तत्त्व-प्रदीपिका — चित्सुखाचार्य

तत्त्व-मुक्ताकलाप — वेदान्तदेशिक

तत्त्व-संग्रह — शान्तरक्षित

सिद्धान्तलेशसंग्रह — अपव दीक्षित्
सुबोधिनी टीका — वल्लभ (भागवत पर)
श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य — शंकराचार्य
हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर — ए० ए० मेकडानल
त्रिस्वभावनिर्देशकारिका — वसुबन्धु

□□□

महाराष्ट्र सारस्वत — वी० एल० भावे
माध्यमिक कारिका — नागार्जुन
माण्डूक्य कारिका — गौड़पाद
मिलिन्दपन्हो — एस० बी० ई०, भाग ३५
हिन्दू मोनिज्म एण्ड प्लूरलिज्म — मेक्सहण्टर हेरीसन
योगवासिष्ठ
रेन आव रियलिज्म इन इण्डियन फिलासफी — डा० नागराज शर्मा
लंकावतार — नाजिओ नयोतो
लघुभागवतामृत — रूप गोस्वामी
वामनपुराण
विवेकचूडामणि — शंकराचार्य
पंचदशी — विद्यारण्य
वेदान्तकौस्तुभ — केशव काश्मीरी
वेदान्तकौस्तुभप्रभा — ”
वेदान्तसार — रामानुजाचार्य
वेदान्तसार — सदानन्द
वेदार्थसार संग्रह — रामानुजाचार्य
वेदान्तसिद्धान्तसूक्तमंजरी — गंगाधर सरस्वती
वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजियस सिस्टम्स — डा० आर० जी० भण्डारकर
श्यामयोगचरित — सोमनाथ
शास्त्रदीपिका — पार्थसारथि मिश्र
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड — गिरिधर
श्रीमद्भागवतपुराण —
षट्सन्दर्भ — जीवगोस्वामी
संक्षेप शारीरिक — सर्वज्ञात्म मुनि
सांख्यकारिका — ईश्वरकृष्ण
सद्धर्मपुण्डरीक — स० एन० केर्न
सर्वदर्शन संग्रह — माधवाचार्य
सर्वार्थसिद्धि — पूज्यपाद देवनन्दी
सांख्य प्रवचन भाष्य — विज्ञानभिक्षु